सखाराम नेमचंद ग्रंथमाला नं० १३०

महर्षिवासुपूज्यकृतं

दानशासनम्

संपादक व अनुवादक,
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
विद्यावाचस्पति--न्याय-काव्यतीर्थ
संपादक-जैनबोधक व वीरवाणी सोलापुर

प्रकाशक,
गोविंदजी रावजी दोशी
सोलापुर

प्रथमावृत्ति १००० | वीर संवत् २४६७ सन् १९४१ | मूल्य दो रुपये

प्रकाशक
गोविन्दजी रावजी दोशी
सखाराम नेमचन्द ग्रन्थमाला, सोलापुर

धन्यवाद

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें निम्नलिखित धर्मनिष्ठ सज्जनोंने उदार हृदयसे सहायता की है।

१००) श्री ब्र० [illegible]
२[illegible]) सेठ [illegible]
२००) सेठ पूनमचंद घासीलालजी
१००) सेठ कालप्पा अण्णाजी लेंगडे

उपर्युक्त सज्जनोंके सहयोगके लिए हम कोटिशः धन्यवाद देते हैं।

प्रकाशक

मुद्रक
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
श्रीकल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर.



श्रीपरमपूज्य ... ०८ आचार्य शांतिसागरजी

विषयानुक्रमणिका.

प्रथमोऽध्याय

षष्ठोऽध्याय. ।

द्रव्यलक्षण

सप्तमोऽध्यायः।

नवमोध्याय ।

औषधिदानविधानम्

दशमोऽध्याय ।

शास्त्रदानविधानम्

इति शास्त्रदानविधानम् ।

एकादशोऽध्याय ।

भावलक्षण विधानम् ।



संपादकीय निवेदन.

श्रावकोंका अनुदिनका कर्तव्य इज्या व दत्ति है। जिस घरमें दान व पूजाके लिए स्थान नहीं है वह घर नहीं स्मशानभूमिके समान है। जिस संपत्तिका उपयोग दानपूजा कार्यमें नहीं होता है उस संपत्तिका होना न होना बराबर है। इस लिए महर्षि कुंदकुंदस्वामीने आदेश दिया है कि,—

दाण पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।

दान और पूजा ये दो ही श्रावकके मुख्यकर्तव्य हैं। यदि श्रावक कहलाकर जो दान और पूजा नहीं करें तो समझना चाहिये कि वह श्रावक नहीं है।

लोकातिशायी पुण्यके कारणसे श्री त्रिलोकीप्रभु तीर्थंकर परमेष्ठी सर्वलोकहितकारी अक्षयदानको देते हैं। जिसके द्वारा लोकका उद्धार होता है। तीर्थंकरप्रभुके दरबारसे अधिक पुण्यसूचक स्थान दूसरा नहीं है। उसके लिए समस्त भव्यप्राणी तरसते हैं। जहांपर त्रिलोकीनाथ दाता हों और गणधरादिक महर्द्धिक ऋषि पात्र हों वहांके दानका क्या वर्णन किया जाय। इसलिए आत्मकल्याणेच्छु सज्जनोंका कर्तव्य है कि उस अक्षयदानको देनेके सामर्थ्यको प्राप्त करें। उस के लिए अनेक भवोंमें आहारादि लौकिक दान देनेका अभ्यास होना चाहिये। साराश मोक्षमार्गके लिए दानकार्यकी परम आवश्यकता है। इसके बिना यह भव्य मुक्तिसाम्राज्यको सुखसे प्राप्त नहीं कर सकता है। संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणियोंको स्वर्गमें जाकर कुछ काल विश्रांति मिलती है और वहांके जीव अपनेको सुखी मानते हैं। परंतु मनुष्य लोकमें जो विशिष्टदान देते हैं उससे प्रभावित होकर जब वे पंचाश्चर्य करने के लिए आते हैं तब वे देव अपने जीवनको धिक्कारते हैं कि इतने सब वैभवोंके होते हुए भी हम पात्रदान नहीं कर सकते

है । केवल उपचारभक्ति कर सकते हैं, मुख्यभक्ति नहीं कर सकते हैं । इसलिए मनुष्योंका ही यह भाग्य है कि जहां पात्रदान देने की पात्रता है । ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव, इंद्रियपूर्णता, निरोगशरीर, कुल-जातिकी शुद्धि आदि साधनोंको पाकर भी जो दानादिक कार्य नहीं करते हैं तो समझना चाहिये उनका संसार दीर्घ है ।

इस ग्रंथमें चतुर्विधदानका सूक्ष्म विवेचन किया गया है । श्री परमपूज्य विद्वान् तपोनिधि स्व मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराज व स्व धर्मवीर सेठ रावजी सखाराम दोशी की प्रेरणासे इस ग्रंथका मैंने संपादन व अनुवादन किया है । खेद है कि इस ग्रंथके प्रकाशनके समय दोनों महापुरुष यहां नहीं हैं । परंतु आशा है कि परलोकमें उनकी आत्माओंको शांति होगी ।

हमें इसके संशोधन के लिए दो ताम्पत्र व दो हस्तलिखित इस प्रकार चार प्रतियां मिली थीं । परंतु लेखकोंकी कृपासे चारों ही प्रतियां अशुद्धियोंसे भरी थीं । तथापि हमने यथामति, आप्ताविरोधसे कार्य का संपादन किया है । कहीं दोष नजर आवे तो उसे विद्वद्गण सुधार लेवें वह दोष हमारा समझें । उसके लिए ग्रंथकारको भला बुरा न कहें यह निवेदन है ।

ग्रंथका प्रकाशन धर्मात्मा धार्मिक सज्जनोंके सहयोगसे श्री सेठ गोविंदजी रावजी दोशीने किया है । हमारे मित्र प. जिनदासजी शास्त्रीने प्रूफ संशोधनके कार्यमें हमें पूर्ण सहायता दी है । इस लिए उन सब सज्जनोंके प्रति हम कृतज्ञ हैं ।

यदि दानकार्यमें उद्युक्त श्रावकोंको इस ग्रंथका उपयोग होजाय तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे । इति

विनीत

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री,

(विद्यावाचस्पति)



महर्षिवासुपूज्यविरचित

दानशासनम्

मंगलाचरण

यस्य पादाब्जसद्गंधाघ्राणनिर्मुक्तकल्मषा
ये भव्या सति त देव जिनेंद्र प्रणमाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्थ— जिस भगवंतके अक्षय अनंतगुणों के प्रदान करनेमें दक्ष ऐसे पादकमलोंके सुगंधको सूंघकर भव्यजन रत्नत्रयात्मक धर्मके पालन करनेसे कर्ममलकलंकसे मुक्त होकर संसारपंकसे छूटते हैं ऐसे जिनेंद्र भगवंतको मैं भक्तिसे नमस्कार करता हू ॥ १ ॥

इस प्रकार आचार्य ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके लिये मंगलाचरण करके आगे प्रतिज्ञाश्लोक कहते हैं —

अष्टविधदानलक्षण

दान वक्ष्ये न वारीव सस्यसपत्तिकारणम् ।
क्षेत्रोप्त फलतीव स्यात्सर्वक्षेत्रेषु सम सुखम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठी प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस ग्रंथ में दानविषयका निरूपण करेंगे । परंतु सामान्यदानका नहीं। जिसप्रकार लोकमें पानी बरसता है, वह सभी प्रकारके भूमियामें जाकर सभी प्रकारकी सस्यवृद्धिका कारण बन जाता है और जिस प्रकार सभी

स्त्रियोंमें समान श्रणाका सुख है, उस प्रकार हम दानका उद्देश नहीं रखना चाहते हैं, हेयोपादेयज्ञानसे युक्त दानका ही हम निरूपण करेंगे ॥ २ ॥

ग्रंथोपदेश्य पात्र

शुद्धसद्दृष्टिभिः शुद्धपुण्योपार्जनतत्परैः ।
सार्द्धं गुणादिष ग्रंथ नतरेन्तु यदाचन ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ग्रंथ पचीसदोषरहित शुद्ध सम्यग्दृष्टियोंको एवं पात्रापात्रके भेदका समझनेवाले सद्गुणों से युक्त होकर पुण्योपार्जन करनेमें तत्पर, ऐसे श्रावकोंके लिये ही उपदेश देने योग्य है । अत एव दर्शनज्ञानचारित्रसे रहित मिथ्यादृष्टियोंके साथमें इस ग्रंथका विवेचन नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

दत्वा द्वित्रिगुणं करं च सकलां विष्टिं च कृत्वा प्रजाः ।
सद्द्रव्यव्ययमासवमनिचये सत्यवफलं निष्फले ॥
प्रयतन्ते बहुसुप्रिया नमहताराताभिश्च सा कुर्वते ।
मुक्त्वा सत्नमनुत्तमं सुखमुखो वांछति जैनास्तथा ॥४॥

अर्थ—प्रजाजन दुगुना तिगुना कर राजाको देते हुए एवं राजाकी अनेक प्रकारसे सेवा करते हुए अपना खतको फलदार बनानेके लिये उसमें प्रतिनय बहुत प्रयत्न करते हैं । फिर भी यह निश्चय ही नहीं रहता है कि उसमें सफलता ही हो । पूर्वाचार्यक्रमसे आया हुआ दान-पूजादिसे उत्पन्न सुखको छोडकर जैन भी उसी प्रकारके सावद्यजनित सुखको चाहने लगे हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥ ४ ॥

दानका लक्षण

धर्मकारणपात्राय धर्मार्थं येन दीयते ।
यद्द्रव्यं दानमित्युक्तं तद्धर्मार्जनपण्डितैः ॥ ५ ॥

अर्थ—आत्माय सद्धर्मोपार्जनके लिये, धर्मानुकूल गार्हस्थ्य धर्मके

सघालनके लिये, अभयपरिपालन करनेवाले रात्रधर्मके पालनके लिये, उपर्युक्त तीनों उद्देश्योंको सिद्ध करने योग्य पात्रोंके लिये जो द्रव्य दिया जाता है, उसे व्यवहार निश्चय धर्मको जाननवाले विद्वानोंने दान कहा है ॥ ५ ॥

दानका भेद

सामान्य दीपद दानमुत्तम मध्यम तथा ।
जघन्य सर्वसंकीर्ण कारुण्यौचित्यमष्टधा ॥ ६ ॥

अर्थ—दान सामान्य, दीपद, उत्तम, मध्यम, जघन्य, संकीर्ण, कारुण्य और औचित्यके भेदसे आठ प्रकारसे वर्णित है ॥ ६ ॥

सामान्यदानलक्षण

राजा निजारिकृतसंगरवारणार्थं ।
प्रस्थापित बलमिवावति सर्वमन्यैः ॥
जैनोत्सवेऽरिकृतविघ्नविनाशकेभ्य
सामान्यमुक्तमखिल सुमने प्रदत्तम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अपना शत्रुसेनाको निवारण करनेके लिये प्रेषित अपने मित्र राजाओंकी सेनाको राजा जिस प्रकार बहुत आदर विनयके साथ देखता है, उसी प्रकार जिनोत्सवमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको दूर करनेके लिये साधर्मि भाइयों के द्वारा दी गई सर्व प्रकारकी सहायता सामान्यदान कहलाता है ॥ ७ ॥

पात्रभेदाननालोच्य जैनान्धर्मोत्सवागतानपि ।
सत्कृत्यान्नादिकं दत्तं दानं सामान्यमुच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—पात्रभेदोंका विभाग न करके, जिनोत्सवमें आये हुए लैनि

१ उक्तं च—अर्थादायवचको भूपाप्याविनु स्वबलं सदा।
दत्ते यथोचित द्रव्य दानं सामान्यमीरितं ॥

योंको एवं अयधमप्रश्नकोंको सत्कार करके भोजनादिसे संतुष्ट करना सामान्यदान कहलाता है ॥ ८ ॥

दोषददानका लक्षण

निजपापार्जितं द्रव्यं द्विजेभ्यो ददते नृपाः ।
सैनैष्ठा राजभिर्विमा दानं दोषदमुच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ— राजा लोग अपने पापसे उपार्जित द्रव्यको ब्राह्मणोंको दान देते हैं तथा उन पापोपार्जित द्रव्यसे वे द्विज विरक्त हैं। इस प्रकारके दानको दोषद दान कहते हैं ॥ ९ ॥

उत्तमदानका लक्षण

श्रीमज्जिनेन्द्रसाक्षात्स्वरूपधारिमुनीश्वरान् ।
सत्कृत्य दत्तमन्नादिदानमुत्तममीरितम् ॥ १० ॥

अर्थ—श्रीभगवान जिनेंद्रके साक्षात् रूपधारी दिगंबर मुनियोंको सत्कार कर नवविधप्रकार आहारादि दान देना उत्तमदान कहलाता है ॥ १०

मध्यमजघन्यदान लक्षण

दत्तं मध्यमपात्राय दानं मध्यममुच्यते ।
द्रव्यं जघन्यपात्राय जघन्यं दानमिष्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—एकदेशव्रतधारी मध्यमपात्रके लिए प्रदत्तद्रव्य मध्यमदान और जघन्यपात्र के लिए प्रदत्त द्रव्य जघन्यदान कहलाता है ॥ ११ ॥

संकीर्णदानका लक्षण

जिनोत्सवसमाहूतपात्रापात्रादिकानपि ।
सत्कृत्य दत्तमन्नादि दानं संकीर्णमीरितं ॥ १२ ॥

अर्थ—जिनोत्सवके लिए निमंत्रित अर्थात् पंचकल्याणिकप्रतिष्ठा इत्यादि कार्योंमें बुलाए गए अथवा जिनभक्तोंके विवाहादिकार्योंमें आमंत्रित पात्र, अपात्र आदिको योग्य उपचार कर आहार, वस्त्र, तांबूल इत्यादिसे सत्कार करना संकीर्णदान कहलाता है ॥ १२ ॥

कारुण्यदानका लक्षण

रोगिणं निगडितं च बाधितं दण्डितं क्षुधितमम्बुपातितं ।
वह्निपीडितमवेक्ष्य कारुण्यदानमिदमीरितं बुधैः ॥ १३ ॥

अर्थ—रोगी, ग्लानी, बंधनबद्ध, दुःखी, दण्डित, भूखा, पानीमें गिरे हुए, अग्निमें जलते हुए मनुष्य को देखकर करुणासे रक्षा करना उसे कारुण्यदान कहते हैं ॥ १३ ॥

औचित्यदानका लक्षण

जैनपदयुगसेवनातुरान्स्कधवाहकजनानपि नीचान् ।
तर्पयत्यशनवीटिकाभिरौचित्यदानमिदमुक्तमार्हतैः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिनेंद्र भगवतकी सेवा करनेमें तत्पर नीच जात्युत्पन्न पालकी ढोनेवाले मनुष्योंका भोजन, ताम्बूल इत्यादिसे सत्कार करना औचित्यदानके रूपमें जैनाचार्योंने कहा है ॥ १४ ॥

यो राजा वधकोऽनृतो धनहरोऽन्यस्त्रीहरस्सस्पृहः ।
सतस्तद्विषयं श्रयति न सदा नो विश्वसतीह तं वै
तस्मै नो ददते धनादि च यथा तद्वद्गुणी धार्मिको ।
दाता दानफलान्यमा खलु तथा रत्नानि भाग्यानि च ॥१५

अर्थ—जो राजा हिंसा करता हो, झूठ बोलता हो, परस्त्री और परधनके हरण करनेमें आसक्त हो, लोभी हो, उस राजाके देशको सज्जन लोग आश्रय नहीं करते हैं और न उसे कोई विश्वास करते हैं और उसे धनादिकसे सत्कार भी नहीं करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक कहलानेवाले दानी मनवचनकायकी शुद्धिसे रहित होकर हिंसादिक क्रियामें प्रवृत्त होवें तो उन्हें दानका कोई फल नहीं मिल सकता है अपि तु उसका ऐश्वर्य पापके कारण दिनप्रति दिन घटता ही जाता है ॥१५॥

---

१ यो दत्ते गायकादिभ्यः काले काले यथोचितं ।
ख्यात्यपवादभीत्या या दानमौचित्यमीरितं ॥

कलिकालके राजा

टका इव राजानः सुकृतशिलोच्चयविदारका एव स्युः।
पुण्यं मदिजलमिव ते नदीरयाभं विचिन्वते पापं ॥१६॥

अर्थ—कलिकालके राजा टंकेके समान होते हैं। जिस प्रकार टंक पत्थरको विदारित करता है, उसी प्रकार वे भी पुण्यरूपी शिलाको विदारित करते हैं। ये लोग कुएके जलके समान पुण्य और नदीके जलके समान पापको अर्जन करते हैं अर्थात् थोडा तो पुण्य और बहुत पाप अर्जन करते हैं॥ १६॥

भक्तद्वेषी खलप्रीतः सतृष्णो हितरुड्जडः ।
मोहवानहितेच्छो वा ज्वरी वा भाति भूपतिः ॥ १७ ॥

अर्थ—पापोदयसे यह राजा भक्तोंका द्वेषी, दुर्जनोंका मित्र, लोभी, हितैषियोंका शत्रु, अज्ञानी एवं अपने अहितको चाहनेवाला एक ज्वरग्रस्त मनुष्यके समान रहता है॥ १७॥

और भी इसी विषयको स्पष्ट करते हैं

यद्यद्वर्णानुसङ्क्रांतास्तत्तद्वर्णानुगामिनः ।
स्फटिका इव राजानो भासते गणिका इव ॥ १८ ॥

अर्थ—दुष्टहृदयक राजागण वेश्याओंके समान होते हैं। जिस प्रकार स्फटिक जिस २ वर्णके पदार्थोंसे घिरता है उसीका अनुकरण करता है अर्थात् उसी वर्णसे दिखता है। उसी प्रकार कलिकालके राजा जैसा रंग दीखें वैसे पलटते जाते हैं। राजाओंका हृदय विश्वास करनेयोग्य नहीं है॥ १८॥

दुर्भावास्सकषायाश्च कृतदानतपःफलाः ।
जीवा भवंति राजानः पापकृत्पुण्यवर्द्धनाः ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्वजन्म में जिन्होंने खोटे भाव और कषायोंसे युक्त होकर

दान, तप इत्यादि किए हो, ऐसे जीव पापाभिवृद्धिके लिए प्राप्त पुण्यसे राजा होकर इस भवमें उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

राजदेहका सामर्थ्य

ये सप्ततलसौधस्य भारमेव वहति ते ।
सारस्तभा इवाभांति राजान पापपुण्यका ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मजबूत खबे सातमजिलका महलका भी भार धारण करनेके लिए समर्थ होते हैं, उसी प्रकार राजदेह भी प्रजाओंके दुष्टशिष्ट व्यवहारोंमें योग देकर पुण्य पापोंका उपार्जन करते हैं ॥ २० ॥

आत्मकृतपुण्यशक्ति स्वार्जितबहुपापभारवहनाय स्यात् ।
व्याघ्रस्य सर्वमृगपशुवधपटुता पापभारवहनायैव ॥ २१ ॥

- अर्थ—संपूर्ण प्राणियोंको मारनेमें प्राप्तचातुर्य व्याघ्रके लिए पापोपार्जन का ही कारण है, उसी प्रकार दुष्ट राजाओंके द्वारा उपार्जित पुण्य केवल पापभारको वहन करनेके लिए ही होता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मणशरीरका सामर्थ्य ।

रंभास्तभा यथा सौधभारमत्र वहति किं ।
विप्रा रंभोपमा राजपापभार वहति किं ॥ २२ ॥

अर्थ—केलेके वृक्षका खभा क्या महलके भारको धारण कर सकता है ? नहीं । इसी प्रकार क्या राजाके पापके भारको ब्राह्मण धारण कर सकते हैं ? नहीं ॥ २२ ॥

षोडशवर्णसुवर्ण सुरत्नसकीलनोचित नान्यस्मै ।
वोढुं शुभाशुभभार दक्षा विप्रा न पापभार नैव ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सोल्हटचका सोना रत्नोंको धारण करनेके लिये योग्य होता है अर्थात् शुद्ध सोनेमें रत्न जडनेसे विशेष शोभा आती है, अन्य

कार्यमें वह नहीं लिया जाता, इसी प्रकार ब्राह्मण भी शास्त्रोंके ज्ञान भारको वहन करनेके लिये समर्थ हैं। पापभारको धारण करनेके लिये वह योग्य नहीं है ॥ २३ ॥

शालिसस्योपमा विप्रा नित्यपुण्यक्रियान्विता ।
राजानोऽद्रिनिभास्तेषा तेऽघभारं वहंति किं ॥ २४ ॥

अर्थ---नित्य पुण्यक्रियामें सलग्न ब्राह्मण शालिसस्य (धान) के समान है, राजालोग पहाड के समान हैं, इसलिये राजाओंके पापभारको वे ब्राह्मण किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥ २४ ॥

शरस्तंवस्सारवन्न स्याच्छिग्रु खदिरवन्न च ।
काराचवन्न मदारा विप्रो भूपालवन्न च ॥ २५ ॥

अर्थ---जिसप्रकार लोकमें दर्भ बासके समान नहीं हो सकता है। सैंजिनका पेड खैरके समान नहीं होसकता है। मदारवृक्ष काराचके समान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण राजाके समान कभी नहीं बन सकता है ॥ २५ ॥

कुदान स्वरूप

पापार्जितार्थदाता स्याद्राजा क्ष्वेडान्नदातृवत् ।
विप्र पापार्थमादाता मृतिमेति शुका यथा ॥ २६ ॥

अर्थ---पापोपार्जित धनको दान करनेवाला राजा विषमिश्रित अन्नको दान करनेवालेके समान है। उस पापधनको लेनेवाला ब्राह्मण विषाहारपराक्षित तोतके समान मरणको प्राप्त करता है अर्थात् भ्रष्ट होता है ॥ २६ ॥

वस्त्रं कच्चरमाम्रिदग्धमनव भिन्नं नव खण्डितम् ।
क्षीरीलालाशुभिरजुन सकपट सम्यक्परीक्ष्याधिपा ॥
आहारादिमुखोऽत्यवस्तु सकल दान स्वभुक्तौ सदा ।
भुजाना दुरितार्जित धनमल यच्छति चित्र नृपा ॥ २७ ॥

अर्थ—राजगण अपने भोगोपभोग में और बन्धुबांधवोंके रक्षणमें अयत सावधान रहते हैं। वे अपने परिभोगके लिए अथवा स्वजनोंके उपयोगके योग्य, खरब, अग्निसे जला हुआ, पुराना, नवीन अपितु खंडित, दीमक लगा हुआ, चूहेसे काटा हुआ वस्त्र काममें नहीं लेते हैं। चांदीसे मिला हुआ सोना भी काममें नहीं लेते हैं। आहारादि द्रव्योंको अपने तथा दूसरोंके उपयोगमें लेते समय अच्छी तरह परीक्षा कर लेते हैं। फिर भी आश्चर्यकी बात यह है कि राजगण पापार्जित-द्रव्य दानमें देते हैं ॥ २७ ॥

प्रज्वलज्ज्वालकं वन्हिमादाय स तृणालये।
दहन्दापयिता दानमेनोऽर्पितमिवाधर्मा ॥ २८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति इस प्रकार पापोपार्जित द्रव्यको राजासे दान दिलाता है वह सचमुचमें जलती हुई अग्निको लाकर घासके मकान में डाल रहा है ऐसा समझना चाहिये ॥ २८ ॥

कुदानफल

पूर्वार्यताऽज्ञाताघ सहस्राधिकतां वहन्।
शिष्टविप्रकुलद्रोहाद्दाता गच्छति दुर्गतिम् ॥ २९ ॥

अर्थ—शिष्टब्राह्मणोंके कुलद्रोही राजा पापार्जित धनको दान देकर पहिलेकी अपेक्षा भी सहस्रगुना पाप कमाकर परभवमें नरकादिदुर्गति को प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

सहनशीलता

दष्टश्चार्तविषदष्टदुस्स्थलमिदं पीत्वा विषं भो भिषक्।
दत्वा स्वेदहरौषधं विषभरं भोमूल्यं मा रक्षतात् ॥
इत्यानम्रकुदृष्टिवन्न भव भो धर्मज्ञवैद्यातुरा-।
येव वीरतरो भटाविव सदा तेषामघौश्चामिव ॥ ३० ॥

अर्थ—आशीविषसर्पके द्वारा काटा गया मनुष्य दीनताको धारण

कर वैद्यसे जिस प्रकार कहता है कि " कृपानिधान वैद्यराज! मेरे ऊपर दया करके सर्पके द्वारा काटे हुए स्थलको आप देखकर तथा शुद्धकर विषहर औषधि देकर मेरी रक्षा कीजिये ", आचार्य कहते हैं कि भो धर्मको जाननेवाले पुरुष ! तू उस प्रकार दीनता धारण न कर ! एक होशियार वैद्यके समान, रणभटके समान या सेनापतिके समान बनना सीखो । सारांश यह है कि कष्टकालमें भी दीनता धारण न कर धैर्यके साथ उसे सहन करना चाहिये ॥ ३० ॥

गायत्री दोषहर्त्री यदुदितबलतो राजपापार्जितार्थं ।
स्वीकुर्वन्मर्त्यदोषं हरति किल सदा ध्यायतां ब्राह्मणानां ॥
विघ्नास्तैरुत्थिताश्च तदुदितफलवद्दीनतायाचकत्वं ।
सज्ज किं इति वन्ध्यासुतफलसदृशं नार्थिनां पुण्यदानं ॥३१॥

अर्थ— ब्राह्मणोंका गायत्री मंत्र (पंच नमस्कार मंत्र) सर्व दोषको दूर करनेवाला है । जिसके उदयसे यह मनुष्य राजाके पापोपार्जित दोषको भी दूर कर सकता है । बड़े २ विघ्न उससे दूर होते हैं । राजाके आश्रयको पाकर पापधनके लिए दीनता या याचकवृत्ति करनेमें कोई लाभ नहीं है । यह वन्ध्यासुतके समान कोई फल देनेवाली क्रिया नहीं है । इससे पुण्यलाभके बजाय पापका ही संचय होता है ॥३१॥

फलकच्छत्रकवचकरा इव दयालवः ।
निर्दोषाहारदानेन पात्रदातार उत्तमाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—युद्धस्थानोंमें काममें आनेयोग्य ढालको मूठ, कवच, छत्रको तैयार करनेवाले जिसप्रकार दयालु होते हैं, जिस प्रकार निर्दोष आहार देनेवाला दयालु होता है उसी प्रकार निर्दोष पात्रको दयासे दान देनेवाले उत्तम दाता कहलाते हैं ॥ ३२ ॥

रजकाः कच्चरं क्षारचूर्णादिविविधैर्यथा ।
पूतं कुर्वंति गुरवो राजाघं नाशयन्त्यघैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार धोबी वस्त्रको मसाला, सोडा इत्यादिसे धोकर साफ करते हैं उसी प्रकार गुरुजन राजाके पापको पुण्योंके द्वारा दूर करते हैं॥ २३ ॥

किं नीचकल्पिताहारमाहरन्त्युत्तमा यथा ।
तथा पापार्जितं द्रव्यं न गृह्णन्ति द्विजोत्तमा ॥ २४ ॥

अर्थ—क्या नीचकुलोत्पन्नोंके द्वारा पकाये हुए भोजनको उत्तम मनुष्य ग्रहण करते हैं ? नहीं । इसीप्रकार उत्तमद्विज पापसे कमाये हुए द्रव्यको ग्रहण नहीं करते हैं ॥ २४ ॥

परस्त्रीजारसधानकारिणं च यथा नृप ।
साधु दापयितार यथापयिष्यति दुर्गतिं ॥ २५ ॥

अर्थ—धर्मात्मा राजा जिसप्रकार परस्त्रीलम्पटी, अन्यायी, चोर इत्यादिको दण्ड देता है उसी प्रकार पापोपार्जित धनको दान देनेवाला राजा भी नरकादि दुर्गतिको प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

बालोऽप्यन्यधनादाने पापमित्युदिते सति ।
मुक्त्वा धावत्यस्पृशन्स बालाद्बालोऽपि वस्तुहृत् ॥ २६॥

अर्थ—परपदार्थोंके ग्रहण करनेमें तत्पर ऐसे बालकको भी यदि यह कहदिया जाय कि छ ! यह परपदार्थ है इसको ग्रहण करना पाप है तो वह उसको छोडकर दौडता है । ऐसी अवस्थामें पापाचरणसे द्रव्य कमानेवाला राजा बालकसे भी अधिक मूर्ख है ॥ २६ ॥

न वाञ्छति न शृण्वति न स्मरति यथा बुधा ।
वाग्दत्तकन्यां भूपाघदत्तं वित्तं तथा द्विजा ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दूसराको वाग्दानपूर्वक दी हुई कन्याको उत्तम पुरुष इच्छा नहीं करते हैं और न स्मरण करते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण लोग राजाके पापोपार्जित धनके दानकी वाञ्छा न करें ॥ २७ ॥

ग्राह्याथ सागसा राज्ञा नान्यैरत्र यथा तथा ।
धर्मापराधिनां देवपूजायोग्यो बुधैर्न च ॥ ३८ ॥

अर्थ—पापी राजावोंका धन राजावोंके द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है । अन्योंके द्वारा नहीं । अथवा इस लोकमें धर्मापराधियोंका द्रव्य देवपूजादि कार्यमें लिया जा सकता है। अन्य उत्तम पुरुष उसे ग्रहण नहीं करें ॥ ३८ ॥

इसलिए दाता और पात्रकी प्रवृत्ति निर्दोष होनेपर ही दानकी यथार्थ सिद्धि होती है ।

इत्यष्टविधदानलक्षणम् ।

---

१ चण्डालोऽपलोकमादिव जगत्क्रान्त्यैधकारैर्भृत
कल्याण च सकालिकं हुतभुजस्तापाद्यथा शुध्यति ।
तद्वद्भानुर्दिमानुकोटिसदृशमद्योतितार्थेश्वर-
थीपूजोत्सवसेवनोचितमिदं दुष्टेन दत्तं धनम् ॥
किंच—
सागसार्थो नृपैस्त्याज्यो न सेव्यो नृपसत्तमैः
देवपूजाचितं क्वापि वित्तं मान्यस्य चोचितं ॥

दानविधिद्रव्यदातृपात्रलक्षण

प्रणम्य जिनभास्वतमज्ञानध्वांतभेदिनं ।
विध्यर्थपात्रदातॄणां वक्ष्ये लक्षणमुत्तमम् ॥ १ ॥

अर्थ—अज्ञानरूपी अंधकारको नाश करनेवाले जिनेंद्रसूर्यको नमस्कार कर उत्तम दानकी विधि, द्रव्य, दाता और पात्रका लक्षण कहूंगा। इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

येऽन्यानन्यधनानि चान्यसुकृतान्यन्यायमन्यार्जितं ।
येऽन्यत्र परदृष्टिबोधचरितं दुर्वृत्तमन्यस्य वा ।
दातारं समनुग्रहाय ददते दानानि चात्मक्षयम्
पात्रापात्रविचारशून्यमनसः कर्माणि ते चिन्वते ॥२॥

अर्थ—कोई पात्र अपात्रके विवेकरहित मनुष्य दूसरोंकेप्रति अनुग्रहसे, दूसरोंके धनको, दूसरोंके पुण्यको प्राप्त करनेके लिये, दूसरोंके दर्शन ज्ञान चारित्रकी वृद्धिकेलिये, अथवा कुसंयमकी वृद्धिकेलिये, या उनकेप्रति दया करनेकेलिये दान देता है परंतु वह सब पुण्यके लिये नहीं होता है उससे पापार्जन होता है ॥ २ ॥

वैरं व्याधिरपि च नश्यति लसत्पुण्यं दया वर्द्धते ।
भूताः पंच वशीभवंति रिपवो मित्राणि च बांधवः
सद्धर्मानुगुणास्सधर्मचरिता के धार्मिकाः सद्गुणाः
शुद्धाः स्युर्गुरवो धुवे निजजिनेष्टार्थप्रदानेन के ॥ ३ ॥

अर्थ—इस लोकमें समस्त प्राणियोंको उनके मनोनुकूल इष्ट

१ दानेन तिष्ठति यशांसि लोके दानेन भोगाः सुलभा नराणाम्
दानेन वश्या रिपवो भवंति तस्मात्सुदानं सततं प्रदेयम् ॥
दानेन भूतानि वशीभवंति दानेन वैराण्यपि यांति नाशम्
परापि बंधुत्वमुपैति दानाद्दानं तु सर्वव्यसनानि हंति ॥

पदार्थोंका दान देनेसे वैर और व्याधिका नाश होता है। पापका नाश और पुण्य और दयाकी वृद्धि होती है। पंचभूत वश होते हैं। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, कोइ बंधु बन जाते हैं। कोई धर्मकार्योंमें अनुकूल बन जाते हैं, कोई धर्माचरण करने लगजाते हैं। कोई धार्मिक और सम्यग्दृष्टि बनजाते हैं। कोई अंतःकरणपूर्वकसे गुरु बन जाते हैं ॥ ३ ॥

> सत्पात्रदानमनघं कुरुते सुपुण्यं
> पापं निहंति सकलं सकलांतराय ॥
> स्वर्गादिजातमक्षयं च सुखं ददाति ।
> तस्मिन्गृहे क्षरति रत्नहिरण्यवृष्टिं ॥ ४ ॥

अर्थ—निर्दोष सत्पात्रदान पुण्यकी वृद्धि करता है, पापको नाश करता है, स्वर्गादिमें उत्पन्न अक्षय सुखको उत्पन्न करता है, इतनाही नहीं उस घरमें रत्नवृष्टि सुवर्णवृष्टिको भी करता है ॥ ४ ॥

> सत्पात्रदानैर्भुवनत्रयेऽपि प्रोद्दीप्तकीर्तिद्युतिपूर्णलोकान् ।
> जैनेंद्रभक्तानभिवृद्धसौख्यान् प्रशंसति देवाश्च नराश्च नागाः ५

अर्थ—सत्पात्रदानके द्वारा जिनका कीर्तिसूर्य तीन लोकमें फैलगया है, जिनकी जिनभक्ति वृद्धिंगत होगई है, सुख जिनका बढ गया है ऐसे भव्योंकी देवेंद्र चक्रवर्ति और नागेंद्र भी प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥

> यत्यार्यिकाश्रितयुतानभवनचारित्रान् जैनेषु नीचान्यथा ।
> दातृन्वीक्ष्य जना नमंति रिपवो निर्याचयन्त स्वयम् ।
> नश्यंति क्षितिपास्तस्करभुजगाः क्रूरा प्रशांताशयाः
> नो पश्यंति हितं वदंति मनुजाः सेवां सदा कुर्वते ॥६॥

---

१ सहस्रार्नी क्षपयेत्क्रम बज्ज प्रशतकोटिभिः
नरकाग्नी तु मिशुमात्रमा निद्रं यतस्मुहूर्ततः ॥

अर्थ—शांत, गुप्तियुक्त, सुंदरचरित्र ऐसे दाताओंको देखकर मनुष्य विनय करते हैं। शत्रु स्वयं नाशको प्राप्त होते हैं कषायसे दूषित राजा शांतिको प्राप्त करते हैं, शेर, सर्प सरीखे क्रूर प्राणी प्रशांत होते हैं और ऐसे व्यक्तिको ये क्रूर प्राणी स्पर्श भी नहीं करते हैं। मनुष्य हितवचन बोलते हुए सदा सेवामें तत्पर रहते हैं ॥ ६ ॥

कुलाचलोत्पन्ननदीव काचित् ।
वर्षाचलोत्पन्ननदीव कोचित् ॥
नदीव वन्या कतिचिच्च केचित् ।
तडाकतोयोद्गमनं यथा स्युः ॥ ७ ॥

अर्थ—कोई दाता कुलाचल पर्वतोंसे निकलनेवाली नदियोंके समान हैं जिनमें सदा पानी बहता रहता है, कोई दाता बरसातके समयमें बहनेवाले नदियोंके समान हैं अर्थात् कुछ महिने तक ही बरसातकी नदियां बहती हैं, और कोई दाता जंगलके नदियोंके समान है। कोई तालाव को फोडकर बहनेवाले जलके समान है ॥७॥

नदीतटद्रूयोत्पन्ना यथाशरमहीरुवः
सर्पाद्यावासभूता स्युर्न परोपकृतिक्षमाः ॥ ८ ॥

अर्थ—नदीके दोनो तट में उत्पन्न दर्भ और जंगली ईख सर्पादि दुष्ट प्राणियोंके निवास के लिये काम में आते हैं। परोपकार करनेके काम में नहीं आसकते हैं। इसी प्रकार जो अपात्रोंको दान देते हैं वे दुष्कार्योंकी वृद्धि में सहायता पहुंचाते हैं, सत्पात्रोंका उपकार नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

पात्राणि मत्वा ददते कुदृग्भ्यो ।
वित्तानि मिथ्यात्वमुपव्रजंति ॥
दुष्टाय दुष्टत्वमयंति मूढा ।
पापाय येऽहासि च येत्र ते ते ॥ ९ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टियोंको योग्य पात्र समझकर दान देता हो वह मिथ्यात्वकोही प्राप्त करता है, वैसेही पापियोंको देवे तो पापको प्राप्त करता है, दुष्टको देता हो तो दुष्टताको प्राप्त करता है। जो जैसा करे वैसा भरे यह लोकमें कहावत प्रसिद्ध है। इस लिये योग्य पात्रको देखकरही दान देना चाहिये ॥ ९ ॥

क्रोधिभ्यो लभते क्रोधं रिपुभ्यो रिपुतामपि ।
जारत्वमेव जारेभ्यश्चोरेभ्यश्चोरता तथा ॥ १० ॥

अर्थ—क्रोधियोंको दान देनेसे क्रोधको प्राप्त करता है शत्रुवोंको दान देनेसे वैरभावको प्राप्त करता है, जारोंको दान देकर जिटत्व और चोरोंको दान देकर चौर्यभावको प्राप्त करता है ॥ १० ॥

धान्यानि सर्वाण्यपि धान्यवद्भ्यो ।
वित्तानि दत्त्वाददते जनाश्च ।
दानानि दत्वाप्यघपुण्यवद्भ्यः ॥
पापानि पुण्यानि यथा तथैव ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें धन देकर धान्यवालोंसे धान्य खरीदते हैं इसीप्रकार दानरूपी धन देकर पापियोंसे पाप और पुण्यात्माओंसे पुण्य खरीदते हैं ॥ ११ ॥

सर्वासु क्षोणिषु सौख्यं समिति मनुते गारित्राभन् स लोके ।
सर्वोर्वीषूप्तबीजं फलति बहुफलं लोकवादो न शास्त्रम् ॥
भूयदार्थप्रदाता पतिरिपुपुरजना गुरुः पौरमर्त्या ।
मित्राणीवात्यसत्वं सुखमसुखयशोऽयशः कार्यकी मे ॥
स्यादन्याशु सुरत्न न धर्मकुलसत्पुण्याभिवृद्धिर्न च ।
स्वस्त्रीष्वस्ति सुरत्न स्वधर्मकुलसत्पुण्याभिवृद्धिस्तथा ॥
स्वस्वाम्याश्रितसेवकानिह धनै रक्षति भूपा यथा ।
स्वस्वाम्याश्रितसाधमेव सुदृशोऽप्यर्चन्ति पुण्याय च ॥ १२ ॥

अर्थ—अज्ञानीजन पशूके समान सभी स्त्रियोंमें समान सुख है ऐसा समझता है एवं सभी भूमियोंमें बोया हुआ बीज समान फलको देनेवाला है ऐसा मानता है। भूमि गृह और द्रव्यको देनेवाला मेरा स्वामी, राजा, मेरा गुरु, पुरवासी, मेरे मित्र, मेरे सुखदु खमें साथ आनेवाले मेरे बंधु इस प्रकार समझनेवाले पृथिक अन्य स्त्रियोंमें सुख नहीं मानता है। उससे अपना धर्म, कुल व पुण्य का नाश होता है। इसलिये पात्रका विचार अवश्य करना चाहिये ऐसा समझकर वह, अपनी स्त्रीमें सुख धर्म, कुल और पुण्यकी वृद्धि है ऐसा समझता है। जिस प्रकार अपने आश्रित प्रजाओंकी धनधान्यादिसे राजा रक्षा करते हैं उसी प्रकार जिनेंद्रमार्गके आश्रित संघकी रक्षा करना यह प्रत्येक सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है उससे उनके पुण्यका वृद्धि भी होती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

श्रीजैनेंद्रोत्सवाय प्रविमलवृषसवर्द्धनायैव दाना ।
दान प्रोक्त सरत्नत्रयशुभजनसपुष्टये दत्तवित्तम् ॥
स्वस्यापि श्रेयसे यत्प्रविततयशसे शुद्धपुण्यार्जनाय ।
स्वाधीनान्कर्तुमन्यानितरजनकृतस्यातरायस्य हत्यै ॥ १४ ॥

अर्थ—श्रीजैनधर्मकी प्रभावनाके लिये, निर्मलशासनकी वृद्धि के लिये, रत्नत्रयधारियोंके पोषणके लिये, एवं अपने कल्याणके लिये, यशके लिये पुण्यके प्राप्तिके लिये, दूसरोंको अपने आधीनमें कर नेके लिये, दूसरों के द्वारा जिनमार्ग में किये गये अंतरायोंको दूर करनेके लिये दान कहा गया है, दानसे इतने उद्देश्योंकी पूर्ति होती है ॥ १४ ॥

सत्पात्रदानका माहात्म्य

दानेन भोग दयया सुरूप ध्यानेन मोक्ष तपसेष्टसिद्धि ॥
सत्येन वाक्य प्रशमेन पूजा वृत्तेन जन्माग्र्यमुपैति मर्त्यः ॥

अर्थ—इस लोकमें मनुष्य दानसे भोग, दयासे सुंदर रूप, ध्यानसे

मोक्ष, तपसे इष्टकार्यकी सिद्धि, सत्यसे वचनशुद्धि, शांतिसे पूजा और चारित्रसे मसारक अतको प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

दान सुभोजनके समान है

तपोऽशनं वृत्तमशेषशाकता दयाज्यदुग्धं मधुरो रसः शमः ।
ज्ञानं हितं पानमतीव शस्यता विभाति दानं च सुभोजनं यथा ॥

अर्थ—द्वादश प्रकारके तप करना यह आहार है, चारित्रका पालन करना यह शाकभाजी है, दया उसमें घी और दूध है, शांति मीठा रस है, सत्य उस भोजनका पथ्य है। ज्ञान उस भोजन की रुचि है। दान उसमें भी स्वर्गीय भोजनके समान है। जिस प्रकार अच्छा भोजन करनेसे मनुष्यको तात्कालिक आनंद होता है उसी प्रकार इन गुणोंके धारण करनेसे अतुल आनंद होता है ॥१६॥

सुक्षेत्रं सुतपो दयाद्रहृदयं ज्ञानं सुवृष्टिः शमः ।
सस्याम्कोरकरो गुणोप्यविरतं सत्यं सुवर्द्धिष्णुता ॥
दानं बीजमशेषवृत्तममलं सूर्यश्च पुण्यैषिणा—
प्येतैस्सप्तगुणैरशेषमुकृतं संचिन्वते धार्मिकाः ॥ १७ ॥

अर्थ—तप एक उत्तम क्षेत्र (खेत) है, दयासे पूर्ण हृदय व ज्ञान बरसात है, सस्योंको प्रफुल्ल करनेवाला गुण शांति है, निर्दोषवचन सस्यों को बढानेवाले सूर्यकिरणोंके समान हैं। दान उस खेतकेलिये बीज के समान है। निरतिचार चारित्र दुरितांधकारको दूर करनेवाले निर्मल सूर्यबिंब के समान है। पुण्यको चाहनेवाले धार्मिक पुरुष इन सप्तगुणोंको धारण कर सदाकाल पुण्यार्जन करते हैं ॥ १७ ॥

सत्पात्रका आदर और अनादर करनेका फल

सदादरेणैव ददाति दानं ।
... लक्ष्मी सदा भोगकरी मनोज्ञा ॥

अनादरेणैव सुपात्रदान ।
लक्ष्मी सदा भोगविवर्जिता स्यात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति आदरसे सुपात्रदान देता है उसकी संपत्ति इच्छितरूपसे भोगके काम में आती है । जो निरादर भावसे पात्र दान देता है उसकी संपत्ति भोगके काममें नहीं आता है ॥१८॥

अनादरकृत सुदानमतुलानि धत्ते सदा ।
फलान्यविकलानि तैरनुभवो न तस्येप्टद' ॥
असाध्यगदमयथवा बहुमिपात्रभोस्सेवया ।
सुख न लभते लसद्विभवदेवबिंब यथा ॥ १९ ॥

अर्थ—यद्यपि अनादरभावसे दिया हुआ सुपात्रदान सभी फलोंको देनेवाला होता है परंतु उसे असाध्य रोगके कारणसे, स्वामिसेवाके कारणसे, या और कोई कारणसे सुख नहीं मिलता है जैसे देवप्रतिमा यद्यपि चामर, छत्रादि वैभवसे सजी हुई दीखती है परंतु उस वैभवका अनुभव वह नहीं लेसकता है वैसे संपत्तिके प्राप्त होनेपर भी सुख नहीं मिलना यह अनादरकृत दानका फल है ॥ १९ ॥

पात्रदानसे दोषनाश और गुणलाभ

वातघ्नो मलमूत्रकृच्छ्रकहरो दृप्पित्तनुत्पुष्टिकृत् ।
मधाबुद्धिबलांगकांतिकरण पापच्छिदग्निमद ॥
दृग्ज्ञानावरणापहो बहुगुण शीत सुसेव्यो बुधै ।
गव्याधार इवाप्यदग्रगुणदा चर्यानुवर्त्सादर ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार गायका घी यदि विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो वह वातरोगको दूर करता है, मलमूत्रके विकारको नष्ट करता है । थकावटको दूर करता है, पित्तोद्रेकको हटाता है, शरीरको बल देता है, मेधा बुद्धि और शरीरकी कांतिको बढाता है, प्यासको दूर करता है, अग्नि तेज करता है, दृष्टिदोष, बुद्धिविकार इत्यादि दोषोंको दूर

करता है, ठण्डा है, एवं सर्वजनोंसे सेव्य है उसी प्रकार जो व्यक्ति बहुत आदरपूर्वक दान देता है, उसका पापरूपी घात नाश होता है। उसका कर्ममल नष्ट होता है, उसकी तेज बुद्धि तेज होजाती है, पाप का नाश होकर पुण्यकी वृद्धि होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म दूर हो जाता है। वह शांत बनता है। विद्वानों द्वारा आदरणीय होता है। इस प्रकार आदरभावसे पात्रदान देनेमें बहुतसे गुण प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

दया गंगेव कुल्यावदादरः सादरो जनः।
पुण्यपूरगिरिः पात्रं स्यान्नदीमातृको यथा ॥ २१ ॥

अर्थ— मनुष्य के हृदय में जो दया है वह गंगानदी के समान है। उसके हृदय का जो आदर वह नहरके समान है, वह आदरसहित मनुष्य उस नदीके उत्पन्न करनेवाला पर्वतके समान है। जो पुण्यप्रवाहको जन्म देता है। पात्र उस नदीके द्वारा जल प्राप्त करनेवाले देशोंके समान है ॥ २१ ॥

न क्रोधो न च मत्सरो न च मदो माया न कामो न म।
द्वेषो मोहसरागदर्पमदना लोभो भवेत्तस्य न ॥
सम्यक्त्वव्रतगुप्तिपंचसमितिष्वासक्तिरभ्यासता।
नित्यं पुण्यविचारता निपुणता ध्यानेषु यत्रादरः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस भव्यको दान देनेमें आदर है उसको क्रोध, मात्सर्य, मद, माया, काम, दर्प, मोह, गर्व, विषयाभिलाषा इत्यादि दोष दूषित नहीं करते हैं। परंतु सम्यक्त्व, व्रत, गुप्ति, समिति इत्यादि पुण्य विचारमें आसक्ति, नित्य पुण्य विषयोंका विचार करना, सर्व कार्योंमें नैपुण्य इत्यादि गुण उसको प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

पात्रभक्तिका फल

आधयो व्याधयो न स्युर्बाधाराजादिसंभवाः।
जनः प्रियवदस्तत्र यत्रास्ति सादरो जनः ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस देशके मनुष्य दानादिकार्योंमें आदरयुक्त हैं उस देशमें आधि व्याधि इत्यादि नष्ट होते हैं। राजादिकोंके द्वारा उत्पन्न बाधा भी नष्ट होती है। मनुष्य सब प्रीतिकर वचन बोलते हैं ॥ २३ ॥

केदारोप्ते शालिबीजेप्यनता (?) ।
नश्यतीवानतकर्माणि जीवे ॥
नश्यत्यस्मिन्सादरे स श्रयति ।
क्षुद्रा नद्यस्ता नदीस्ता समुद्रम् ॥ २४ ॥

अर्थ—कुटकीके बीज जिस भूमिमें बोया हो वहाके सर्व तृण सस्य वगैरेह नष्ट होते हैं, उसी प्रकार आदरसहित दानसे जीवके अनंतभवके कर्म भी नष्ट होते हैं। जिस प्रकार छोटी नदियां बडी नदीयोंको, बडी नदियां समुद्रको जा मिलती हैं इसी प्रकार सभी पात्र व अन्य मनुष्य उस दानीके आश्रयमें आते हैं ॥ २४ ॥

सस्या विनश्यति यदाश्रितानि पद्माकरं निर्जलमाश्रिताश्च ॥
अनादरं दातृजनं च भूप भक्तास्तथा साधुजना प्रजाश्च ॥२५॥

अर्थ—निर्जल तालाबको आश्रित सस्य जिस प्रकार नष्ट होते हैं उसी प्रकार निरादर करनेवाले दाता, राजा वगैरहका आश्रय लेनेवाले भक्त प्रजा व सज्जन नष्ट होते हैं ॥ २५ ॥

दानके पांच दोष

अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं चाप्रियं वचः ।
पश्चाद्भवति संतापो दानदूषणपंचकम् ॥ २६ ॥

अर्थ—पात्रके प्रति निरादर करना, देरीसे दान देना, मुनियोंको देखकर भी नहीं देखासा करना, हितमितमधुर वचन नहीं बोलना, दान देनेके बाद पश्चाताप करना ये पांच दानके दूषण हैं ॥२६॥

अर्थ—जब एक जीवको एक दफे रक्षण करनेवाला व्यक्ति विद्वानोंके द्वारा आदर करने योग्य होता है तब सदा सभी जीवोंको रक्षण करनेवाला आदर करनेके लिये क्यों योग्य नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा ॥ ४ ॥

अभयदान परपरासे मोक्षदायक है

य स्थानत्रयवर्तिनस्तनुमतो यत्नेन रक्षत्यसौ ।
राजासौ सुकृती दयालुरनघ सोऽभीतिदानी गुणी ॥
तेनाधीतमिदं श्रुतं बहुकृतं दानं च तप्तं तप ।
सर्वं सत्क्रमतो निजेष्टफलदं निश्रेयसं लभ्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो राजा अपने महल, नगर और देशवासी आश्रितजनोंको मन वचन कायसे रक्षा करता है वह राजा पुण्यवान् है, दयालु है, पापरहित है, गुणवान है एवं वही सच्चा अभयदाता है। सचमुचमें उसने सर्वशास्त्रोंका अध्ययन किया है, बहुत दान किया है, बहुत तप तपा है, वह इस प्रकारके नीतिमार्गसे चलनेवाले राजाके लिये सभी ऐहिक इष्टसिद्धि होनेके साथ २ मोक्षकी भी प्राप्ति होती है ॥५॥

देवाद्याभयदानतोऽरिनृपरागातिवृष्टिभीतिक्षयो ।
जायेत कुलदीपकास्सुकृतिनस्त्यक्त्वाक्षतास्यामया ।
वर्द्धेताल्पमय भवेदिह सुखी निष्कंटकोऽग्रे भव ।
देवो वा सकलावनीशविनुत श्रीसार्वभौमो विभु ॥६॥

अर्थ—जो राजा देव गुरु शास्त्रोंके प्रति आये हुए संकटोंको दूर करता है, धर्मप्रभावनाके मार्ग में आये हुए विघ्नोंको दूर करता है वह राजा इस अभयदानके फलसे, शत्रुराजाओंकी बाधा, रोग, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, इत्यादिके भयसे पीडित नहीं होता है, वह सचमुचमें कुलदीपक है। पुण्यवान् है। कोई भी रोग उनके पास नहीं आने पाते हैं। उसका सुख दिन प्रतिदिन निराबाधरूपसे बढता है

इतनाही नहीं आगेके भव में वह देवगति मे जाकर जन्म लेता है अथवा सर्व राजाओंके द्वारा पूज्य चक्रवर्ती होकर जन्म लेता है ॥६॥

> त्यक्तास्त्र मपलायित गिरिगजारूढ जलांतर्गत ।
> दंष्ट्रात्याशुद्धितोतदार्जुनमुदस्तोच्चध्वज त्वद्गति ॥
> दैन्योक्ति भणत विमुक्तविरुद दत्तात्मपृष्ठ रिपो-
> र्भृत्य देशगत तदप्यभयदानात्य सुरक्षन्गुण ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस शत्रुराजाने युद्धस्थानमें शस्त्रको छोड दिया हो, जो भाग गया हो, पहाड वगैरह में डरसे चढ गया हो, जल में घुस गया हो, शरण में आकर पादमें गिरता हो, अपने छत्र वगैरहको समेट लिया हो, आपही गति है ऐसा कहता हो, दीनतासे युक्त वचन बोलता हो, नमस्कार किया हो, अपने पदवी वगैरहको छोड चुका हो, एव जो पीठ दिखाता हो उसकी रक्षा करनी चाहिये, शत्रुके सेवकोंकी भी रक्षा करनी चाहिये यह भी अभयदान है ॥ ७ ॥

> दत्त्वा स्वार्थान्वित राज्ञे दयते सागस शिर ।
> तदेवाभयदान स्यात् पुण्याय कुरुते सदा ॥ ८ ॥

अर्थ—एक अपराधी राजाके द्वारा प्राणदण्डसे दण्डित किया जारहा हो, उस अवस्था मे अपने परिवार, धन एव सर्वस्व देकर भी उस अपराधी का प्राण बचाना यह भी अभयदान है, इससे पुण्य की वृद्धि होती है ॥ ८ ॥

> स्वदेशपुरगेहस्थान्येऽवति प्रमुदा सुख ।
> नाघानि नारयस्तेषां दानिनोंवति तानय ॥ ९ ॥

अर्थ—जो अपने घर, नगर, देशमें रहनेवाले प्राणियोंको बहुत हर्षसे रक्षा करते हैं, उनको सुख पहुचाते हैं ऐसे अभय दानियोंको पाप पीडा नहीं देता है और न उनको कोई शत्रु है, उनके कोई

सुख लोकमें न हुआ, न है और न होगा अर्थात्, अभयदानसे प्राणियोंको सर्वप्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

अभयदानसे मिलनेवाले लाभोंका सविस्तर विवेचन

येऽवन्ति सन्तोऽपि निजाश्रितानां विद्वद्विपज्ज्योतिषिकादिकानाम्।
तेषामृषीणां गुणिनां नृपाणां शुक्लेन्दुवद्वृद्धिमुपैति तेज ॥ १५ ॥

अर्थ—जो राजा अपने आश्रित मनुष्योंका, विद्वानोंका, वैद्य, ज्योतिषी आदिका, सयमियोंका, गुणियोंका एव धर्मका तेज बढाते हैं एव रक्षा करते हैं उनके स्वयका तेज भी शुक्लपक्षके चद्रमाके समान बढता है ॥ १५ ॥

स्वीयानन्यजनानिवान्यवनिता स्वस्त्रीरिव स्व धन ।
चान्यायानिव देवताश्च सकला स्वीया इव क्ष्माभृत ॥
स्वस्थानत्रयवर्तिनस्तनुमतो रक्षति सर्वान्पुरा ।
स्त्री वाप्याज्जनपुण्यदुष्कृतपतिरसर्व त्रिशुद्धयोचित॥१६॥

अर्थ—पूर्वकालमें राजा अन्य प्रजावोंका अपने बधुवोंके समान रक्षण करते थे, अपनी स्त्री के पातिव्रत्यधर्मको रक्षण करना जितना आवश्यक है उतनाही परस्त्रियोंके पातिव्रत्यका रक्षण करना आवश्यक समझते थे, अपने धनके समान, दूसरोंके धनका रक्षण करते थे, सर्व सप्रदायके देवोंको अपनही देव समझते थे, इसी प्रकार कोई प्रकारका कष्ट नहीं होने देते थे, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने चाहे जैसे पति हो उसकी सेवा करती है उसी प्रकार अपने राज्यमें रहनेवाले पुण्यात्मा पापात्माको मनवचन कायकी शुद्धिसे रक्षा करते थे। यही अभयदानका आदर्श है ॥ १६ ॥

यत्रास्ते नृपतिर्मुनिर्यदमल तत्र प्रजानां तयो- ।
र्बाधां वारयतीत्यघ च हरत सौख्य च पुण्य शुभ ॥

यच्चार्कस्य यथा करोति सुदृशां दृष्टिप्रकाशं सुखं ।
बाधां क्रूरभवां निवार्य शुभकृत्कर्माण्यलंकारयेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर जिनकी आखें अच्छी हों उनको प्रकाश मिलता है । सुखका अनुभव होता है, क्रूर सर्प इत्यादि प्राणियोंकी बाधासे बच जाते हैं, अच्छे कार्य में संलग्न होते हैं । चोरी इत्यादि पापकर्मोंको करनेका अवसर नहीं मिलता है इसी प्रकार जिस देशका राजा न्यायवान् एवं पराक्रमी हो, अथवा जिस राज्य में तपस्तेजसे युक्त कोई मुनि हो, उन दोनोंके तेजसे प्रजाओंका दुःख दूर होता है । उनको कोई बाधा नहीं सताती है, उनका पाप दूर होकर पुण्यकी वृद्धि होती है एवं उस राज्यकी प्रजा शुभकार्य में प्रवृत्त होकर सुख प्राप्त करती है ॥ १७ ॥

सद्धर्मापहृतावनुग्रहगतं स्याच्चत्तदाक्षो नृप ।
शून्यस्तत्तदपः प्रजा निजकरं सस्यं न दद्ये फलं ॥
धर्मान्वर्द्धय पाहि धार्मिकजनान् शुद्धान्विशुद्धाशयान् ।
स्वस्थानगयवर्तिनोऽप्यनुदिनं क्षेत्रं यथा कार्षिकाः ॥१८॥

अर्थ—हे राजन् ! सद्धर्मका नाश होनेपर प्रजाजनों में सुख शांति नहीं रहती है । जिस प्रकार सस्योत्पत्तिके आधारभूत तालावका पानी सूखनेपर सस्य होता नहीं, फिर प्रजा अपने करको नहीं देती है, इसलिये राज्य में सुख शांति में मूल कारण धर्मका यदि नाश होता है तो दुर्भिक्ष आनेमें देरी नहीं लगती । इसलिये अपने राज्य में धर्मकी वृद्धि करो, जो धर्मात्मा है, सज्जन हैं, ऐसे महल, नगर, राज्यके मनुष्योंकी रक्षा करो, जिस प्रकार किसान खेतकी रक्षा चित्तापूर्वक करता है उसी प्रकार अपना प्रजाजनोंकी रक्षामें दत्तचित्त रहो॥१८॥

तातं स्वामिनमुत्तमार्यमनुजं जामातरं मातरं ।
मातारं गुरुमित्रसेवकभरिं ज्येष्ठं गुणं वल्लभां ॥

मित्रं स्वामिवलं स्वबांधवजनं जैनं च सद्धार्मिकं ।
यः स्याच्छंसति तस्य पुण्यममलं तेजोऽपि भाग्यादिकं॥१९

अर्थ—जो व्यक्ति अपने पिता, स्वामी, उत्तम मनुष्य, जमाई, माता विश्वस्त व्यक्ति, गुरु, सेवक, शत्रु, बडे पुरुष, गुणवान, स्त्री, मित्र, स्वामिसेना, बंधुजन, धार्मिक जैन आदिको गुणानुरागसे प्रशंसा करता हो वस्तुतः वह पुण्यशाली है उसका भाग्य तेज वगैरह बढता है ॥ १९ ॥

स्थैर्यादिपरवशीकरणगांभीर्यतेजस्वित्वसुरूपता ।
सौभाग्यत्यागिभोगित्वयशस्वित्वमरोगता ॥ २० ॥
चिरजीवित्वमित्यादिलोकोत्तरगुणानपि ।
धर्मार्थकाममोक्षांश्च स भजेदभयप्रदः ॥ २१ ॥

अर्थ—अभयदान देनेवाला व्यक्ति प्रत्येक कार्य में स्थिरता, शत्रु मित्रादि जनोंको वश करनेमें प्रभावक शरीर, समुद्रके समान गांभीर्य, सूर्यके समान तेज, सबको प्रसन्न करनेवाला सुंदर रूप, सौभाग्य, पात्रदानादि कार्य में त्यागभाव, यथेष्ट इंद्रियसुख में भोगित्व, सर्व कार्य में यशस्वी होकर कीर्तिसंपादन, नीरोग शरीर एवं चिरायु आदि बहुतसे लौकिक एवं लोकोत्तर गुणोंको भी प्राप्त करता है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ उसे सहज प्राप्त होते हैं ॥२०॥२१॥

धन्यपरान्नतपोभाजां हितपूतमितोक्तयः ।
वर्धयंति स्वतेजांसि नाशयत्यघसंचयान् ॥ २२ ॥

अर्थ—हित, मित, मधुर वचनको बोलनेवाले राजा, तपोधन [मुनीश्वर] आदिका तेज बढता है, पापनाश होकर पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

१ आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ॥
भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥

स्यात्सार्वभौमसपत्तिः सर्वजीवसुरक्षया ।
तस्मात्सर्वे न हन्तव्यास्सागसोपि निरागस ॥ २३ ॥

अर्थ— संपूर्ण जीवोंकी रक्षासे चक्रवर्तीका पद भी प्राप्त होता है इस लिये चाहे कोई अपराधी हो निरपराधी हो उनको मारना नहीं चाहिये और न कष्ट देना चाहिये ॥ २३ ॥

ब्रूते क्लेशकर वचो न न हरत्यन्यार्थभूम्यादिक ।
नातिक्रामति यो व्रती तमखिला देवी वदतीत्यय ॥
यद्यत्तेन कृत च तत्तदखिल सत्य फलत्यन्वहम् ।
सर्वं मानसवाचिकाङ्गिकमहो सद्य फल यच्छति ॥२४॥

अर्थ—जो व्यक्ति दूसरोंके साथ कटुवचनका प्रयोग नहीं करता है, दूसरोंके धन भूमी आदिको अपहरण नहीं करता है, साधु सय मियोंका अविनय नहीं करता है उसे सब लोग दय कहते है, वह जो कुछ भी कार्य करता है उसमें उसे अवश्य सफलता मिलती है, उनके सपूर्ण मानसिक, वाचिक और कायिक कार्य तत्क्षण फल देते है ॥ २४ ॥

निर्दयपनेसे होनेवाला नुकसान उदाहरणके द्वारा दिखाते है

येऽत्र स्वाश्रितजीवयुग्ममदयन्दत्वोचितार्थान्सदा ।
विष्टिं कारयतीव गोपशुनरैः कार्यं कृत कारित ॥
सर्वं नश्यति तस्य तेन फलति क्षेत्र न सर्व कृत ।
नैष्फल्य भवतीत्यवेत्य सुकृती सर्वान्धनैः पालयेत् ॥२५

अर्थ—जो व्यक्ति अपने आश्रित द्विपद [नौकर चाकर] चतुष्पद [गाय, भैंस, बैल वगैरे आदि प्राणियोंको उचित द्रव्यादि देते हुए दया नहीं करता है उनसे बराबर अपना कामही लेता रहता है

१ क्लेशकरोक्ति न वदति न परार्थं हरति यस्तामिह चान्ये ॥
देवोऽयमिति ब्रुवते नाथमतिम्तस्य सर्वसिद्धि स्यात् ॥

उसका किया हुआ, कराया हुआ सब कार्य नष्ट होता है, जिस प्रकार कोई किसान अपने आश्रित जनोंको कष्ट देकर यदि उनसे फल प्राप्त करना चाहता है तो उसे फल मिलना कठिन है उसी प्रकार अपने आश्रित जनोंके प्रति दया न रखनेवाले व्यक्तिको किसीभी कार्य में सफलता नहीं मिलता, इस लिये अपने आश्रित मनुष्योंको धन इत्यादिसे रक्षा करना चाहिये ॥ २५ ॥

जीवपालनसे होनेवाले लाभ

ये च पूर्वनृपालदत्तमखिलं ग्रामादिधर्मादिकं ।
पांत्येव भगिनीमिवात्मतनुजामेवात्मदत्तं यथा ॥
ते भूपाश्च जनाः सुसद्रविणगोधान्यादिसंपत्तयो ।
आधिव्याधिविरहितेण सुखिनो जीवंति भूत्वा चिरं ॥२६॥

अर्थ— जो राजा व अन्य व्यक्ति जिस प्रकार धनादि देकर अपने पुत्रोंके समान बहिनकी भी रक्षा करते हैं ठीक उसी प्रकार अपने पूर्वजोंके द्वारा दिये गये ग्राम खेत इत्यादिक धर्मको बराबर पालन करते हैं उन राजाओंको अथवा उन व्यक्तियोंको धन धान्य स्त्री पुत्र इत्यादियोंकी समृद्धि होते हुए आधिव्याधिसे रहित सुखी शरीरको प्राप्त कर चिरायु प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

१ स्वदत्तं द्विगुणं पुण्यं पूर्वदत्तानुपालनात् ।
पूर्वदत्तापहारेण स्वदत्तं निष्फलं भवेत् ॥
पित्रा दुहित्रे भगिनी च दत्ता पुत्रेः हरत्यात्मन आददानं ॥
पुत्रीरिवास्या भुवि पूर्वदत्तं गृह्णत आ के विफलं स्वदत्तं ॥
सर्वा प्रजा यथा पूर्वे भूपास्ते वर्तयंति ताः ।
पालयंतु तथा भूपा वेधा वा दृष्टिका इव ॥
दानपालनयोर्मध्ये दानाच्छ्रेयोनुपालनं ।
दानात्स्वर्गमवाप्नोति पालनादच्युतं पदं ॥

। । देशे यस्य पुराविष्टजनाखेदयते च ये ।
। । दापयति न ते तत्र जीवति सुखिनश्चिरं ॥ २७ ॥

अर्थ—जो राजा अपने राज्य में प्रविष्ट प्राणियोंको कष्ट नहीं देता है एवं दूसरोंसे नहीं दिलाता है वह राजा एवं उसकी प्रजा सुखसे जीते हैं ॥ २७ ॥

नृस्त्रीगोपनधान्यवृक्षवसनाद्याहृत्य यत्रिव गतं ।
स्वस्थानान्नृपते सदानमभवत्खेद विधत्स हृदि ।
लोकोत्साहहतेश्च देवविभवच्छेदे मुद मा कृथा ॥
विघ्न मा कुरु मापि कारय मह निर्विघ्नमवाखिल ॥२८॥

अर्थ—हे राजन् ! दूसरे जीवोंको कष्ट देना पाप है, उनकी स्त्री, गाय, धन, धान्य, वृक्ष, वस्त्र इत्यादिको अपहरण करनेसे उनके हृदय में बडा भारी धक्का पहुचता है जिससे उनको भयकर दुःख होता है, दूसरोंकी सपत्तिका छेद करनेसे उनका उत्साह भग होता है, इस लिये दूसरोंको कष्ट पहुचाने में आनद मत मानो, दूसरों के उत्साहमें विघ्न उपस्थित मत करो, दूसरोंसे न करावो ताकि तुम्हारे भी सर्व कार्य निर्विघ्न हो ॥ २८ ॥

विघ्नान्विते वैहिकसर्वकार्यव्ययति नो तानि पुरोभिवृद्धिं ।
दैवे महे सर्वविनाशहेतुर्भूयादविघ्न कुरु भव्य बुद्धया ॥ २९ ॥

अर्थ—हे भव्य राजन् ! ऐहिक विवाहादिकार्यों में यदि विघ्न उपस्थित हुए तो पुरोभिवृद्धि नहीं होती है। देवता महोत्सवमें यदि विघ्न उपस्थित हुआ तो वह सर्वनाशके लिये कारण है, इस लिये ऐहिक पारलौकिक कार्यों में विघ्न उपस्थित न होसके ऐसा प्रयत्न करो ॥ २९ ॥

स्वान्देशान्सुमनैर्नरपति च जनैर्धान्यार्थमारोग्यक ।
मैर्यैर्डिभिरगना इव सुतास्ताभिर्लभते नृपा ॥

आवे तो उसका हर्षसे सन्मान करना चाहिये, एवं उस पूजाके लिये योग्य सामग्री वगैरह लेकर अपने बंधुबांधव व साधर्मियोंके साथ मन्दिरके लिये रवाना होना चाहिये। मंदिरमें जाकर बाह्य विचारको छोडकर देव गुरु विद्वान व सुदृष्टि जीवोंका यथायोग्य नमस्कार करें एवं एवं शुभविचारसे युक्त होकर स्थिरचित्तसे उस शुभ महोत्सव में योग देवें ॥ ३५ ॥

> जेतुं शत्रुबलं व्रजामि नृपतेः सेवाश्रयेण द्रुतं ।
> मुक्तवैवात्मपरिग्रहं निजगुरोरग्राङ्कभागोर्पितं ॥
> इत्थं स्वीकृतसुव्रतो रणतलं निःश्रेयसं यासवा– ।
> ऽस्त्वं जीवात्र जिनोत्सवेषु सुभटो वर्तस्व नित्यं यथा॥३६॥

अर्थ—हे आत्मन्! जिसप्रकार युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें जानेवाला वीर सैनिक प्रतिज्ञा करता है कि "मैं शत्रुसेनाको जीतनेके लिये जा रहा हूं। स्वामिसेवाके लिये मेरा शरीर समर्पित है। जबतक मैं रणभूमिसे निवृत्त न होऊं तबतक मेरेलिये सब प्रकारके भोगोपभोगोंका त्याग रहे" इसीप्रकार जिनोत्सवमें जानेवाला जीव भी यह प्रतिज्ञा करें कि "कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेकेलिये जिनचैत्यालयमें जारहा हूं। मैं जिनेंद्र भगवंतकी पूजाकेलिये अपना शरीर अर्पण कर चुका हूं। जबतक इस पुण्यमहोत्सवसे निवृत्त नहीं होऊं तबतक मेरेलिये सब भोगोपभोग पदार्थोंका त्याग है" इसलिये जिन पूजामें भी वीरके समान रहे ॥ ३६ ॥

> योद्धारो रणरंगवीरारिपुभिस्त्यक्ताभिमानाद्रिका ।
> निश्शङ्कादिगुणा इवार्हतमहे विघ्नप्रशङ्कादिना ।
> नो गच्छन्ति पुरं प्रयाति चरमं पद्भ्यां शिवस्त्वेव ना– ॥
> नेक्षन्ते निजं स्मरंति निलयं जैना वसंतश्चिरं ॥३७॥

अर्थ—जो योद्धा शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये रणरंगमें जाते हैं वे

वहांपर स्त्री पुत्र धन आहारादिसे निःशंक होकर युद्ध करते हैं। इसी प्रकार जो श्रावक जिनपूजोत्सवके लिये मंदिरमें जावें वे मलमूत्रादिकी शंकासे रहित रहें, मंदिरमें व्यर्थ इधर उधर टहले नहीं, किसी पदार्थको पांवसे हटावे नहीं, इधर उधर देखे नहीं, अपने इष्ट मित्रादिकोंका स्मरण नहीं करें। एवं अपने गृहकृत्य संबंधी विचारोंको मनमें लावे नहीं एकाग्रचित्तसे महोत्सवमें योग देवें ॥ ३७ ॥

> सर्वे वीरभटा रणांगणतलं तांबूलयामिच्छति य।
> तांबूलोदकनालिकेरकदलीसस्यादि किंचिन्न ते ॥
> संतुष्टा मविचारका रिपुलयव्यापारबोधक्षमाः ।
> श्रीजिनोत्सववीक्षका अघलयव्यापारदक्षास्तथा ॥ ३८ ॥

अर्थ—वीर-योद्धा युद्धस्थानमें युद्ध करनेमेंही लगे रहते हैं, तांबूल पानी, नारियल, केला आदि खानेकी उन्हें चिंता नहीं रहती है, इसी लिये वे संतुष्ट होकर युद्ध करते हुए शत्रुओंको नाश करनेमें समर्थ होते हैं, इसी प्रकार जिनमहोत्सवमें लगे हुए जीव उसी में संलग्न होकर उसके समयतक खाना पीना वगैरह सब भूल जावें तभी वे यथार्थ रूपसे कर्मोंको नष्ट करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥

> चैत्यावासगतिस्मृतेरनशनद्वंद्वस्य चोद्योगतो ।
> वेधस्याष्टफलं लभेत गमनप्रारंभतश्चक्रमे ॥
> पक्षेद्वादशजं फलं निजगृहद्वारनिर्गमान्मध्यतः ।
> पक्षानन्नफलं गृहेक्षणवशान्मासोपवासोऽर्ध्वं ॥३९॥

अर्थ—भावपूर्वक जिनचैत्यालयको जानेके विषयमें विचार करने मात्रसे दो उपवासका फल, सामग्री वगैरहके तैयार करने में चार उपवासका, गमन करनेके लिये प्रारंभ करनेसे आठ उपवासका, गमन करनेसे दस उपवासका, अपने घरके द्वारसे बाहर निकलने में बारह

अथवा चित्त लगावो, इत्यादि, इसी प्रकार कर्मरूपीशत्रुको जीतते समय शांत चित्तसे उसे जीतनेका उपाय करना चाहिये ॥ ४५ ॥

जिनपूजनोत्सवके लिये कौन योग्य है ?

इद्धोऽथ प्रयताऽथ किमिह सुमनसपूजितोऽथ द्विजोऽथ ।
विप्रोऽथ ब्राह्मणोऽथ विरचितदहनप्लावकोऽथ बुधोऽथ ।
सुस्वात्मा दृक्चरित्रो द्विजनिकरसुधर्मोपदेष्टा च कर्ता ॥
शुद्धोऽथ शिक्षकोऽथ स भवति जिनपूजोत्सवे योग्य एव ४६

अर्थ—जो यज्ञोपवीतको धारण कर इंद्रके समान पूजाके लिये सज्ज हुआ है, पूजासामग्री दान व ज्ञानकेलिये समर्थ हो, सज्जनोंके द्वारा आदरणीय हो, विप्रवर्णमें जिसका जन्म हो, पुरुषार्थोंको पूर्ण करनेमें दत्तचित्त हो, ब्राह्मण हो, स्नानसंध्या, सकलीकरण इत्यादि पवित्र क्रियावोंको जो करचुका हो, दर्शनचारित्रसे भूषित हो, त्रैवर्णिकोंको धर्मोपदेश देनेवाला हो, निर्मल विचारवाला हो, दूसरोंको शास्त्राभ्यास करानेवाला हो, वही जिनपूजा करनेकेलिये योग्य है ॥ ४६ ॥

पूजाके भेद

भृत्यैश्च बंधुभिः पूज्यैरित्रिभिर्जिनपस्य कृता ।
तामसी राजसी पूजा सात्त्विकी भवति ध्रुव ॥ ४७ ॥

अर्थ—सेवकोंसे जो पूजा कराई जाती है वह तामसी पूजा कहलाती है, उसका फल न कुछ है । अपने बंधुवोंसे कराई जानेवाली पूजा राजसी कहलाती है, उसका फल अल्प है । पूज्य पुरुष जो गृहस्थाचार्य कहलाते हैं उनसे कराई जानेवाली पूजा सात्विकी कहलाती है । इससे महान् फल मिलता है ॥ ४७ ॥

द्यादश फलान्याद्या परा शतफलान्यपि, ।
तृतीया स्वर्गमोक्षश्रीसन्मार्गाप्यफलान्यर ॥ ४८ ॥

अर्थ—पहिली तामसी पूजा दसवा भाग सदोष फल देगी, दूसरी राजसी पूजा सौवा भाग सदोष फल देगी, तीसरी सात्विकी पूजा स्वर्ग व मोक्षलक्ष्मीका सग कराकर अनत सौख्यको देती है ॥ ४८ ॥

भुक्त्वा क्षुत्तृषमात्मनाथ समय स्मृत्वा मनस्यासते ।
सन्नद्धाश्च धृतश्रियो नृपभटा जीवति लोके यथा ॥
त्यक्त्वा लौकिकमार्गिक मुकृतिन कार्यं तु धृत्वाशये ।
सद्बुद्ध्या जिनभानुनैनसतमा निर्णाशयति ध्रुव ॥४९॥

अर्थ—जिस प्रकार रणभूमिमें युद्ध करनेवाला वीरभट भूख प्यासकी परवाह न करके अपने स्वामिकार्यमें पूर्णतया सलग्न रहता है वही यशस्वी होता है, उसी प्रकार लौकिक व शारीरिक कष्टोंको सहन कर धर्मात्मा लोग मन में सतोष धारण कर जिनपूजादिकार्य में सलग्न रहते हैं, वे अवश्यही जिनेंद्रसूर्यके प्रतापसे पापरूपी अधकारको नष्ट करते हैं ॥ ४९ ॥

शरीरे जिनलांछन स्वमनसि श्रीजिनबिंबाकृति ।
वक्त्रे श्रीजिनसस्तुर्ति जिनपतस्तत्त्वश्रुतिं कर्णयो. ॥
अक्ष्णा श्रीजिनपोत्सव दृढतर सस्थाप्य ते धार्मिका ।
ध्यायतोऽत्र जिनोत्सवेषु विमल पुण्य सदा चिन्वते ॥५०॥

अर्थ—पूजोत्सवमें प्रवृत्त भक्त शरीरके अवयवोंमें मानस्तभ, चक्र आदि शुभलाछनोंको धारण कर, अपने मनमें श्रीजिनेंद्रबिंबके आकारको, मुखमें श्रीजिनस्तुति करते हुए, कानोंसे तत्वश्रवण करते हुए, आंखासे जिनपूजोत्सवको देखकर दृढचित्तसे — एकाग्रतासे श्री जिनपूजोत्सव करें तो अवश्य निर्मल पुण्यका सचय करते हैं ॥५०॥

१ अहद्रूपियाश्रिते चेतसि वपुषि सदा जैनलक्ष्माणि वक्त्रे ।
जैनस्तोत्राणि बिभ्रत्र चवितततु (?) गात्रोपि जैनेंद्रपूजा ॥
स्रू स्तरव्यस्य सुष्ट पद स्वदुरित जीव भा नाशय

वाहनपर चढकर आनंद करते हैं उसी प्रकार कोई जीव धर्मके प्रभावसे स्वर्गमें विमानारूढ होकर सुख भोगते हैं ॥ ५८ ॥

पूर्वं मुक्तिगतौ महाविह [?] निजज्येष्ठप्रसूनैर्जीव भो ।
त्यक्त्वा तद्गमन क्षणस्मृतिवशात्सर्वार्थसिद्धिं गतौ ॥
सा द्वौ पण्डुसुतानुभाविव तथा स्वाऽन्याभिलाषी सव ।
ध्यान स्वाध्यादि पु ाज मनि मृतौ पूजोत्सवार्थे मद ॥५९॥

अर्थ—पाण्डवपुत्र नकुल और सहदेव मुक्ति जानेके लिये पात्र थे। परंतु जिस समय उ होने तपश्चर्या की उस समय एक क्षणभरके लिये शत्रुओंकी बाधा न सहन करनेसे एवं धर्मराजका स्मरण आनेसे मुक्ति टलकर उ ह सर्वार्थसिद्धी जाना पडा। इसलिये हे भव्य ! तुम तप, ध्यान, जप, मरण, द्रव्यार्जन, युद्धस्थान एवं जिनपूजोत्सव आदि समयमें अपने चित्तको स्थिर रखो। प्रत्येक कार्यमें चित्तैकाग्रताकी अत्यंत आवश्यकता है ॥ ५९ ॥

कारुण्यार्द्रीभूतचित्त दयाला
ऽपोपद्रव कुर्वते कारयति ।
एत सर्वे हिंसकास्तत आहु- ।
स्तद्व्यापारा एव हिंसाक्रिया स्यु ॥ ६० ॥

अर्थ—करुणासे जिसका चित्त द्रवीभूत होगया है ऐसे दयालु सर्वोमें योक हृदयमें जो कोई कार्योद्रेक करते और कराते हैं। उनको महर्षियोंने हिंसक कहा है। क्योंकि उनका यह व्यापार हिंसा ही तो है ॥६०॥

साधूनां जनयति चेतसि यदा हास्याभिमानारति-
क्रोधं कामविकारशोकरतिसम्भासैर्जुगुप्सादिभि ।
हिंसार्थं परैर्वचोभिरमल चलन च य साधव ।
वर्माद्दोषसमानुवच्च किल तेपापोदनादृता ॥६१॥

अर्थ—जो मनुष्य काम, क्रोध, हास्य, रति, अरति, शोक, भय,

जुगुप्सा इत्यादिकोंकेद्वारा साधुओंके चित्तमें विकार उत्पन्न करते हों वे जिसप्रकार वर्षाकालमें सूर्य बादलोंसे घिरा रहता है उसी प्रकार स्थिर पापोंसे घिरे रहते है ॥ ६१ ॥

> कंदः पंकेऽभसोऽधो वसति पुनरसौ यस्य दण्डस्तदूर्ध्वं ।
> पुष्पं पंकेरुहस्येव च सुकृतिजनो भाति पुण्यांबुनाशात् ॥
> तानुत्कृत्याशु खादत्यपि जगति यथा जंतवो बीजपुण्या-
> न्युन्मूल्यामूलमेते बहुदुरितजुषोऽदयघस्मरिता वै ॥६२॥

अर्थ—कमलका कंद कीचडमें रहता है, कमलनाळ पानीके अंदर रहता है एवं पुष्प पानीके ऊपर रहता है। इसी प्रकार पुण्यवान् सज्जनोंकी वृत्ति है। जिस समय उस तालाबका पानी सूख जाता है उस समय उस कमलकंदको उखाडकर दुष्टलोग उसे खाते हैं इसी-प्रकार जिस समय पुण्यात्माओंका पुण्यजल क्षीण क्षीण होजाता है उस समय दुष्ट लोग उनको जडसे उखाडनेके लिये प्रयत्न करते हैं। उनके सुखका नाश करते हैं, ऐसे लोग इस संसारमें घोर पापका बंध करते हैं ॥ ६२ ॥

> धर्मातरायेण कृतेन विघ्नं दृष्ट्वाधिगम्यैव मुनीश्वरैः के।
> जैना बभूवुः सुदृशा विशुद्धा मुक्तिं गता श्रेणिकवत्प्रयांति ॥

अर्थ—बडे २ मुनियोंके साथ जिन्होंने द्रोह किया, उपसर्ग किया या धर्ममार्ग में अंतराय किया ऐसे बहुतसे लोग पीछे उसका पश्चात्ताप होनेपर जैनी होगये, सम्यग्दृष्टि होकर मुक्ति गये, एवं श्रेणिकके समान जावेंगे भी ॥ ६३ ॥

> गर्वं सत्यज सज्जनस्व नृपवद्देवं गुरुं मंत्रिव-
> त्संघं तद्वत्सलवद्विरुद्धचरितं त्वं जीव मा मा कुरु ।
> वैरं वचनदुर्विवादमनघं त्यक्त्वैव वाक्यं वद ।
> कारुण्यं कुरु भक्तिमंव विलसद्धर्मच्छयैवा वह ॥ ६४ ॥

एष्टा स्व च परात्म व्यवहृति दु ख सुख स्वीयज ।
चान्यांत्याममपापभोजनविधि दृष्ट्वा स्वयोपिजन ॥
पूजार्थांसितुमतरेण समय प्रात पुन स्व ययु ,
पातास्युर्वनिताश्च विन्नदुरित दत्त न किं किं फल ॥ ६९

अर्थ— कोइ २ स्त्रियां जो महामह दर्शन के लिए आती है अपन २ पनक स्त्रियों को देखकर उन म अपने पति के पराक्रम का वर्णन करने लगता ह । उस क व्यवहार को कहती हं । अपने सुख दु खको कहता है । अपने का काइ राग हुआ हो या कष्ट हुआ हो, उसे कहता ह । या भोजनका समाचार कहता है, इस प्रकारकी स्त्रियां पूजा महोत्सव को न देखकर प्रात काल होते ही अपने २ ग्रामको चल देता हैं । इस प्रकार पूजाकार्य म विघ्न डालनेवाली स्त्रियोंको पाप क्या फल नही देगा ! अपितु अवश्य देगा ॥ ६९ ॥

मत्तत्वं पगिवादनो त्महसनात्पान्कर्षणे दूरसने
दोंपरूयापनभर्त्सन परयशोलेपात्मपार्त्युद्भवे-
र्जनायर्णनयोगिराड्परिभवस्थान वपानिस्न-
भ्युत्थानांजलिकाभिवादनपुन्त्सस्पगगुणोद्धहने ॥७०॥
वभ्रम्य भिक्षहीनयोनिषु चिर देशादिहानकथा-
त्पुद्भूयोच्चकुल भिन शुपमय लब्ध्वा सबोध वपु ।
कृत्वार्चा मकुल च दानममल पश्चात्तु पूर्वा गति ।
गतु वाञ्छसि जीव मा भम शम धर्म दया सर्वदा ॥७१

अर्थ—इस जीवन पूर्वमा अपने मानकषायसे, दूसरोंके तिरस्कार करनेसे, हसी करनेसे, अपन उत्कर्षका चाहसे, मन वचन कायकी नीच प्रवृत्तिसे, दूसरो के दाप प्रकट करनेसे, दूसरोंको भर्त्सना देनेसे दूसरोंके कार्ति लोपने एव अपने कार्ति चाहनेसे, जैन मुनीश्वरोंके आनपर उनको स्थान मान देकर एव उठकर खडे होना, प्रणाम

करना, पादप्रक्षालन करना आदि क्रियाओंसे आदर न करनेसे, अच्छे गुणोंको ढकनेसे, समस्त नीच योनियोंमें भ्रमण करते हुए दुःख उठाया है। देवम अनेकबार उच्चकुलको प्राप्त कर भी दुराचरणसे नीचकुलमें फिर गया है। इसलिये हे जीव! तूने अब उच्चकुलमें जन्म लिया है, उसमें सबका हित करनेवाले जैन धर्मको प्राप्त किया है। एवं ज्ञानयुक्त शरीरको भी प्राप्त किया है। पूजा दान इत्यादि सत्कार्योंको करनेका पात्र सभी तुम में मौजूद है इस लिये पहिले उक्त समान नीच गतियों में जानेकी इच्छा मत कर। शांति और दयाकी सेवा सदाकाल करते हुए अपना जन्म सार्थक कर ॥ ७० ॥ ७१ ॥

> नेदं नेदमिदं न वा न कुपितं कर्ता दिदृक्षागत-
> द्राद्विश्रावकमानसं कलुषयन् सतामयनं जायते
> स्वस्यान्यस्य च ज्वलद्दीपवर्तिशिखया स्निग्धकुराररुत् स्वयं ॥
> स्वीयान्वालिकदहिनाऽपि दहतीत्यात्मीयगहादिकं ॥७२॥

अर्थ—जो कोई भी श्रावक जिनपूजा सत्र को जाकर वहांपर कषायोद्रेकसे "यह यह नहीं, यह नहीं" इत्यादि कषाय पूर्ण वचन कहकर देव, गुरु, श्रावक इत्यादि सबके चित्तको क्षुभित करता है वह अपना तथा दूसरोंका अहित करता है। जिसप्रकार दीपककी लौ पानेकी इच्छा रखनेवाला चूहा जलती हुई बत्तीको मुखमें लेकर जाते हुए अपने शरीरको एवं दूसरोंको जला देता है उसीप्रकार जिनपूजोत्सवके समयमें कषायके उद्रेकसे क्रोधित होनेवाला मनुष्य अपने तथा दूसरोंके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अहित कर लेता है ॥ ७२ ॥

> कारुण्यात्समधिया शपति न च न क्रुध्यति निंदति न।
> स्वद्रव्यार्थिजना इवानवरतं माध्यस्थभावं गता ॥
> नो जल्पति न च स्मरति सुधियो धिक्कारवाचं क्वचित्।
> स्वपरगृहधियैव धार्मिकजना निर्विघ्नपुण्यार्जिनः ॥७३॥

आखाके माएका चढाना, कामविकारसे युक्त होना, ये सब जिन मंदिरमें निषिद्ध हैं अर्थात् ऐसी क्रियायें मंदिरमें नहीं करनी चाहिये ॥ ७८ ॥

मात्सर्यं च मदाष्टकं च शपनं निर्भर्त्सनं धिक्कृतिं ।
निंदां दोषकरोक्तिभोजनविधिं दुष्कामशास्त्रश्रुतिं ।
खट्वांदोलनसंस्थितं च शयनं निद्रां च तंद्रीं कलिं ॥
रागद्वेषमतीव स मुग्नां चैत्यालये वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

अर्थ—मत्सरभाव, अष्टमद, दूसरोंको शाप देना क्रोधभरे वचन कहना, धिक्कार देना, निंदा करना, दोषपूर्ण वचन कहना, भोजन करना, कामशास्त्रादिकका सुनना, खाट, झूला वगैरहमें बैठना, सोना, नींद लेना, आलस करना, रागद्वेष करना एवं पूजा आदिका देखनेमें चित्त लगाना यह सब जिनमंदिरमें वर्ज्य है । ७९ ॥

हास्यं नर्मपदप्रसारणकरस्फोटांगसंस्कारता— ।
व्याख्यानं करताडनं भुजमसत्यालापनिष्ठीवनं ॥
जृंभं मर्दनगात्रभंजनमवष्टंभं सदा पदनम् ।
सर्वं श्रीजिनसाधुमध्यनि नृपास्थाने यथा वर्जयेत् ॥८०

अर्थ—हास्य करना, सरस कथालाप करना, पैर फैलाना हाथोंसे गोटवर छुटकी निकालना, शरीरका संस्कार करना खापुरुषार्थ शुभ वहायक। अवज्ञा करना, ताली बजाना ऊँघना, असत्य बोलना, थूकना, जंभाई लेना, शरीरको ताडना, उठना, पादना आदि अयोग्य क्रियायें राजाके आस्थानमें जिस प्रकार निषिद्ध हैं उसी प्रकार जिनमंदिर व साधुओंके स्थानमें ये क्रियायें निषिद्ध हैं ॥ ८० ॥

राजाग्रेपि विकुर्वते परिहसत्याख्याति भण्डाक्तिका ।
सुर्दत परिहासयति खलु ये नीचास्त एवाखिला ॥
भण्डास्ते परिहासका इति जना सत स्मरत्यन्वह ।
ये साधोस्त इवाचरति सुजनास्तपा सदृशा इति ॥८१॥

अर्थ—राजाके सामने जो विकृत आचरण करते हैं, परिहास करते हैं, उनको सज्जन लोग भाण्ड कहते हैं। ये नीचकुलमें उत्पन्न होते हैं। जो सभ्यताका आचरण करते हैं उनको सज्जन कहते हैं। इसी प्रकार जिनालयमें जाकर नीचवृत्ति करनेवाले भाण्ड हो हैं। नीच हैं। जिनालयमें सभ्यवृत्तिसे रहकर जिनभक्ति करनेवाले हो भव्य पुण्य संपादन करते हैं ॥८१॥

---

१ यथा मिथ्याविना नृणा गुणपात्रस्तुतिवृथा ।
तथा दुष्टवृत्तीना पुराणश्रवण वृथा ॥ १ ॥
ये व्यर्थोक्तिभिरित्कट सहस्र कोलाहल कुर्वते ।
साधोर्दति शम मनोविकलता यान मनोऽस्वस्थता ॥
कुर्यात्कुप्यत एव यत्र यतिभिर्वीक्ष्यादिना श्रावकाः ॥
ताकुप्यति सपुण्यभक्तिचरितश्रद्धाश्च निम्नति त ॥
दुष्टराजकथाकामक्रोधवृद्धिकरी कथा ।
दुष्कापुण्यकरी साधुविकथे त्युच्यते बुधै ॥
यत्रागच्छति यसता ताभिस्स रस करोति सत्पति ॥
तामालिंगति स पुमान् निन्द्य पण्ढः सुरेः च मूढ स्यात् ।
सोपानक्जना जिनालयगमा गर्वान्मदाच्च ये ॥
जायते मनु सत उ मति सदा मातगजातो च ॥
सपक्षावाधावाशय सति भजाश्रसूत्रकसाढ्य
भ्रियाद्याणयतु विना निराहाविना नयेयुध्रुव ॥
विना पूजोपकरणै स्वमद्रव्याणि य नरा ॥
स्थापयति जिनावासे ते स्युः पापसूतय ॥
जल विना यथा सर्वद्र्याणा जन्म मृत ॥
स्नेह विना तथा सर्वपुण्याना जन्म तथा ॥

अर्थ—प्रायश्चित्तमें शुद्धिविधानक लिये गधोदकको मस्तकसे लकर कटीपयत गीला हो वैसा सेचन कर। भूत प्रेतादिक ग्रहोंकी पाडासे व युद्धक्षेत्रसे रक्षाके लिय गधादकका लेपन कर ॥८७॥

दुष्टै· पीडितमानवात्र सुमनाश्चाश्रित्य भूप यथा।
दुष्टान्वारयितु सुख च सुकृतं कन्तु त्रिधा सवते ॥
पापै· पीडितमानवापि सुमनाश्चाश्रित्य देव गुरु ॥
पाप वारयितु सुख च सुकृति स्वर्गापवर्गप्रद ॥८८॥

अर्थ—जिस प्रकार दुष्टासे पाडित मनुष्य दुष्टसे बचनेके लिये, दुष्टोंका निवारण कर सुखका प्राप्तिक लिये राजाके आश्रयमें जाता है एव मन वचन कायसे उसरा सेवा करता है उसी प्रकार पापोंसे पाडित मनुष्य पापोंक व तज्जन्य दु खोंक निवारणक लिये एव सुखकी प्राप्तिके लिये देव व गुरुको मन वचन कायसे सेवा कर, देव गुरु सेवा का फल इस लोकमही नहा पर लोकमें सुखप्रद है, स्वर्गादिक सुखोंका अनुभव कराकर मोक्षसुखको प्रदान करनेवाला है ॥ ८८ ॥

यो जीवान्स्वगृहस्थितान्न दयते स्वाश्रयागतान्सारत ॥
तस्यांत सुकृतक्षयस्तमखिला पापीत्युशन्ति क्षितौ ॥
क्लिष्टश्चासजतोऽदग्धसुकृत पुण्याभिवृद्धि क्रिया ।
सर्वा निष्फलतां प्रयाति बलरपापाभिवृद्धि परा ८९

अर्थ—जो स्वामी अपने घरमें अपन आश्रयमें रहनेवाले द्विपदचतुष्पद जीवोंपर दया नहीं करता है वह सदा पापबंध करता है, उसके पुण्यका नाश होता है। इतनाही नहीं उसे लोकमें सब पापी ऐसा कहते हैं। दूसरे प्राणियोंको क्लेश पहुंचानेके कारण उनक आहसे उसका पुण्य जलते हैं अत एव पापकी वृद्धि होती है। स्वाश्रित जीवोंपर दया करनाही श्रेयस्कर है ॥ ८९ ॥

राजश्चन्नमवति शत्रुहनने दक्ष यथा कार्षिका ।
कृत्यर्थं भृतिभृत्पानपि सदा रक्षति लोके यथा ॥
सद्धर्मानुगुण परिग्रहमिम पात्येव तेषामय ।
स्याद्धर्माननुकूलरक्षणविधाविष्टिस्त्रियेवाघदा ॥ ९० ॥

अर्थ— जिसप्रकार राजा शत्रुओंसे अपनी रक्षाके लिये समर्थ सेनाका रक्षण करते हैं, किसान लोग कृषि के योग्य बैल मनुष्य आदि की रक्षा करते हैं उसी प्रकार धार्मिक गृहस्थोंको उचित है कि वे धर्म के अनुकूल परिग्रहोंकी रक्षा करें अर्थात देवकार्य, राजकार्य, गार्हस्थ्य-कार्य एव व्यवहारकार्यको सपन्न करनेके लिये अपने कुटुबीजनोंकी रक्षा करें, अपने आश्रित जनोंपर अनुग्रह करें, यहांतक इसी उद्देश्यसे गाय भैंस आदिको भी पालन करें, इस प्रकार पुण्यमय उद्देश्यसे किये हुए कार्यसे पुण्यबध होता है । इसके विरुद्ध जो आचरण करते अर्थात् उपर्युक्त चार प्रकारके उद्देश विरुद्ध आरभ करते हैं वे पापका सचय करते हैं जैसे किसीको पकडकर बलात्कारसे उससे कार्य कराना पापके लिये कारण होता है ॥ ९० ॥

ग्रथपुरदेशसैन्य यस्य भवेत्प्रातिकूल्यमपि तस्य ।
पुण्य न नार्थलाभो यशो न भूतिर्न हानिरातिभी स्यात् ॥९१

अर्थ—जिसके लिये परिग्रह, पुर, देश, सेना आदि प्रतिकूल है उसको पुण्यकी प्राप्ति नहीं, अतएव सुख नहीं, द्रव्यलाभ नहीं, यश की प्राप्ति नहीं, ऐश्वर्यकी उसे प्राप्ति नहीं होसकती, प्रत्युत उनसे उसकी हानि होती है और अतिशय भय उत्पन्न होता है। इसलिये इन सबको अपने अनुकूल बनानेसे गृहस्थजीवन सुखमय होता है ॥९१॥

अथ पापागतस्तस्मो निरवद्योऽनन्ततोऽनिश ।
क्रोधाग्निभ्रष्ट आदत्त भुक्तिद्रव्य स्वकर्तृत्व ॥ ९२ ॥

भृत होकर अपने चित्तमें, महलमें, नगर में एवं अपने देशमें सदा काल प्राणियोंको कष्ट पहुंचाता रहता है। अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये उन आश्रितजीवोंको अनेक प्रकारसे पीडा देता है यह नारकी वृत्ति है। इस प्रकारकी दुष्टवृत्तिसे सज्जनलोगोंको हरतरहसे कष्ट पहुंचाया जाता है। सज्जन लोग ऐसे राजास घृणा करते हैं। यह सब राजाके ऐश्वर्य उसके हाथसे जानेके चिन्ह हैं ॥ ९८ ॥

नाह त्वं दुष्कृतोऽहं बहुसुकृतफलस्त्वं नृपोऽहं कुचारी।
त्वं दाता याचिताहं त्वमरिकुलभयो भातिरज्ञो बुधस्त्वं ॥
स्तुत्य स्तोता विवेकी त्वमहमपि जड श्रावणीयः सुवक्ता।
त्वं स्वामी सेवकोऽहं त्वमिह भज निजां पुण्यवृद्धिं क्षितीश॥९९

अर्थ—अपने रक्षक राजाको अभयदान पालन करनेके लिये इस प्रकार प्रेरणा करें कि हे राजन्! तुम पुण्यवान हो, मैं पापी हूं, तुम बहुतसे अच्छे आचरणाको पालते हो, मैं दुराचारी हूं, तुम दाता हो, मैं याचक हूं, तुम शत्रुओंको भय उत्पन्न करनेको समर्थ हो, मैं भय भीत होने योग्य हूं, मैं मूर्ख हूं, तुम बुद्धिमान् हो, तुम स्तुतिके योग्य हो, मैं स्तुति करनेवाला हूं, तुम विवेकी हो, मैं अविवेकी हूं, तुम सुवक्ता हो, विशेष क्या? तुम स्वामी हो मैं सेवक हूं, तुम रक्षक हो मैं रक्ष्य हूं। इसलिये मेरी रक्षा करना तुम्हारा धर्म है। हे राजन्! तुम्हारा कर्तव्य पालन कर तुम यथेष्ट पुण्य संपादन करो ॥ ९९ ॥

धर्मागतो शुभा[illegible]

यथा स [illegible] १०० ॥

अर्थ—जिस प्रकार संयम[illegible] है, [illegible]

प्रमाति [illegible]

प्रवेश [illegible]

अर्थात् [illegible]

व लक्ष्मी ये दोनों प्रवेश नहीं करता है। शुभाचरण करनेवालोंको देखकरही लक्ष्मी उनके घर जाता है, प्रत्युत ऐसे दुराचारी अशुभ क्रियावोंसे दरिद्रीही बनते हैं ॥ १०० ॥

सहस्रजनभोगेऽपि वन्ध्यायां न सुतो यथा ।
तथा पापात्मके पुंसि, नोद्भवति शुभक्रिया ॥ १०१ ॥

अर्थ——जिस प्रकार हजारो आदमियोंके संभोग करनेपरभी वंध्या को संतानोत्पत्ति होती नहीं इसी प्रकार पापी मनुष्योंमें किसीभी प्रकार शुभाचरण उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १०१ ॥

सात्मवपु शुद्धमिदं मलीमस विमलमाहुरेवार्या ।
स्यात्तत्पुण्य यथामिव विबुधैरधिगम्य वन्हिदग्ध ते १०२

अर्थ——पापक्रियावों से पापबंध होता है, मनुष्यको पुण्यकर्मसे सब कुछ प्राप्त होते हैं। इस शरीर में जबतक आत्मा रहता है तबतक मलिन होनेपरभी पवित्र माना जाता है। कोई उसे स्पर्श करनेमें घृणा नहीं करते हैं। परंतु जब पुण्यहान होनेसे उससे आत्मा निकल जाता है तब यह शरीर अस्पृश्य माना जाता है एवं जिस शरीरको हम बडा आदर करते थे उसीको जलाते हैं। यह क्या? यह सब पुण्यपाप कर्मोंकी महिमा है। इसलिये मनुष्यको सदा पुण्यके साहचर्य प्राप्त करना चाहिये ॥ १०२ ॥

तातं स्वामिनमुत्तमार्यमनुजं जामातरं मातरं ।
मातारं बुधमिष्टसेवक कुलज्येष्ठ गुणं वल्लभा ॥
मित्रं स्वामिवलं स्वबान्धवजनं जैनं जनं धार्मिकं ।
यः स्वाश्रितदति तस्य चायुरपश्च श्रीस्थानवज्ञक्षय ॥

अर्थ——जो मनुष्य अपने पिता, गुरु, स्वामी, उत्तम सज्जन, जमाई, माता, विद्वान, इष्ट सेवक, कुलगुरु, भाई, अपने स्त्री, मित्र, स्वामि, सेना

अर्थ—दूसरे देशसे पीडित होकर आये हुए वीर भटोंको, वीर राजाओंको, चिकित्सा प्रधान वैद्योंको, ज्योतिषियोंको, एवं और भी मनुष्योंको अपने राज्यसे मारकर एवं उनके धन अपहरण करते हुए उनके चित्तमें संक्लेश उत्पन्न कर इतनाही नहीं उनको अनेक प्रकार से धिक्कार देकर निकालता है वह राजा अत्यंत पापी है। अतः गुणोंको देनेवाला अभयदान उसका नष्ट होता है। उसके आयुक्षय होता है, धनसंपत्ति इत्यादि सबका क्षय होता है ॥ १०९ ॥

विघ्नस्त्वभयदानस्य शत्रुपातितसालवत् ।
तटाकभेदवन्मुख्यमर्मास्त्रक्षतवद्भवेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—अभयदानमें विघ्न डालनेका फल इस प्रकार दुःख देता है कि जैसे कोई किलेको शत्रु आकर घेरे, अथवा भरा हुआ तालाब फूटे उस प्रकार अथवा मर्मस्थानमें लगा हुआ अस्त्रके समान, अर्थात् अभयदानमें विरोध करनेसे महान् दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ११० ॥

स्वद्वर्गानिति र्‍द्यासि रिपव गात्रं स्वयं भूपया ।
यन जातमनर्पमेकविलये भृत्यप्रजानां न स ॥
नाश वरिस जिनोत्सवस्य कुरुषे किं तुनमलेन ते ।
स्वस्थानत्रयवर्जनं तव त्रिवर्गाऽध्वरं स्याद्ध्रुवं ॥ १११ ॥

अर्थ—हे राजन्! तुम तुम्हारे राज्य, तुम्हारे नगर में स्थित सेवक वगैरह की शत्रुओंसे रक्षा करने के लिए अपने प्राणोंतकको देनेके लिए तैयार होजाते हो, एवं अपने परिवारके नष्ट हो[illegible] कुछ नष्ट हुआ ऐसा समझते हो ऐसी अवस्थामें [illegible] आनेपर उसको दूर करनेका कार्य तुम्हारा [illegible]
तुम्हारे कायम यूनर[illegible]
राज्य में हानि [illegible]
अरर ही तुम्हार

अर्थ, प्यारे पदार्थोंके समान धर्मको भी [illegible] नहीं पहुंचने देना चाहिये ॥ १११ ॥

> ये कुर्वंति जिनोत्सवेष्वसरला विघ्नं [illegible]
> स्तन्निघ्नानपि संघसेवकजनान् पापिष्ठ[illegible] ॥
> [illegible]स्त जिनधर्ममात्मगुरून् स्वर्गापवर्ग[illegible]
> तेषां [illegible]तामित्रराज्यविभव[illegible] ॥ [illegible]

अर्थ—जो कुटिल श्रावक जिनपूजाको देखकर [illegible] जिनपूजामें विघ्न डालते हैं, एवं जिनपू[illegible] श्रावकोंको विघ्न डालते हैं, एवं इनके [illegible] उनके कार्यमें विघ्न डालते हैं, एवं [illegible] धर्मात्माओंको बाधा पहुचाते हैं एवं [illegible] स्कार करते हैं वह अपने धर्म, स्वर्ग [illegible] इत्यादि सबका तिरस्कार करते हैं [illegible] तीव्र पापबंध होता है। एवंच उनके [illegible] आदि सब इसी पापके कारणसे नष्ट [illegible]

होता हा है। देव के धन का हरण करना विषके समान है। वह अपना भाग्य, परिग्रह, धन सेना वैगरह का शीघ्र नाश करता है। तथा कृष्णपक्षके चंद्रसमान स्वयं भी नष्ट होता है ॥ ११९ ॥

जिनार्चार्थं मद्नार्थं हीनत्वं यः करोति चेत्।
तस्य भाग्यस्य पुण्यस्य हीनत्वं सर्वथा भवेत् ॥ १२० ॥

अर्थ—जिनपूजाके लिए दिए हुए द्रव्योंसे कुछ अपने लिए लेकर कुछ जिनपूजाको जो कोई देता है उसका भाग्य व पुण्य दोनोंका अनन्य नाश होता है ॥ १२० ॥

येन ग्रामधनं जिनस्य च हृतं स्वल्पार्थं बह्वर्थद।
दंडेन दण्डितवंचितं स्वपहृतं स्यान्दोहितं स्यत्तरं॥
तस्य स्यात्स्वविरोधताप्ययशो तेजोभिमानक्षयौ।
मृत्यू रुक्च धनक्षयोऽत्र विफलास्तास्ता कृता याः क्रियाः॥

अर्थ—जो कोई जिनमंदिरके लिए अर्पित ग्राम व धनको अपहरण करता हो, एवं बहुत कीमतके थोडे कीमतमें खरीदता हो, जुर्मानेके रूपमें लेता हो, धोका देकर लेता हो, अथवा और किसी तरह अपहरण करता हो उस पापी व्यक्तिको उसके तीन पापोदयसे तीन घडीके अंदर तीन प्रहरके अंदर, तीन दिनके अंदर, तीन पक्षके अंदर, तीनमास के अंदर, तीन अयनोंके अंदर, अथवा तीन वर्षके अंदर अपने बंधु मित्र भार्या पुत्र इत्यादिसे वैर विरोध अवश्य होगा। लोकमें उसका अपवाद होगा, उसका तेज घटेगा, उसका धन नष्ट होगा, उसका मरणभी हो सकेगा विशेष क्या? वह जो कुछ भी क्रिया करे उसमें उसको सफलता नहीं मिलेगी ॥१२१॥

पीतं यन विषं च तस्य सकलान्यंगानि पंचेंद्रिया-।
प्यंग बुद्धिरियं च वित्तपभवमन्यानुकूलानि वा॥

धर्मद्रव्यविषं हृतं प्रकुरुते दद्दह्यमानालये ।
द्विड्भूपावृतभूपते' पुरि यथोत्पातास्तदास्युश्च तान् ॥१२२

अर्थ—जो मनुष्य विषभक्षण करता है उसका सर्व शरीर, इंद्रिय, बुद्धि, चित्त आदि सर्व विषमय हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिन मंदिरके धनरूपी विषको ग्रहण करता है वह मनुष्य पापके उदय से दुःखी होता है उस की अवस्था ऐसी होती है जैसा आग लगे हुए घर में फंसे हुआ मनुष्य की, अथवा शत्रुओंके द्वारा घेरा गया है राज्य जिस का ऐसे राजाके समान एवं अनेक प्रकार के संकट ऐसे पापी को उपस्थित होते हैं ॥ १२२ ॥

भित्वा देवपुरमविट्जनमाहृत्य प्रसह्यापि ये ।
तेभ्योवद्बुधमान्यपौरमपि संगच्छति क्षपा पुरं ॥
देशो नश्यति राट्स्वयं च बहुधोत्पातेन नाशं गतं ।
सर्वं वस्तु धनादिकं च विलयेन्निष्कारणं दापत ॥१२३

अर्थ—जो दुष्ट राजा जिनमंदिर इत्यादि देवस्थानोंको फोडकर उनके उन्नतिको सहन न कर उनके धन आदिको अपहरण करते हैं एवं उस नगर में रहनेवाले विद्वान्, चार, वैद्य इत्यादि सज्जनोंको कष्ट देते हैं, उन दुष्ट राजाओं का इस पापसे राज्य नष्ट होता है। राजा स्वयं अनेक प्रकारके उत्पातों से नाशको प्राप्त होता है, इतना ही नहीं उसके संपूर्ण ऐश्वर्य अकारण नष्ट होते हैं ॥ १२३ ॥

दत्वाल्पार्थं धर्मवन गृहीत्वा धान्याद्यर्थं लब्धुकामः कुदृष्टी।
अज्ञत्वान्मद्रव्यनाशात्क्षुधार्तो जेपालोत्थं बीजमश्नन्निवोर्च्या॥

अर्थ—जो व्यक्ति अल्पद्रव्य देकर मंदिरके ग्राम, खेत आदिको खरीदता है, क्योंकि उसे उन खेतोंसे धान्य इत्यादि मिलनेकी आशा है, परंतु वह यह नहीं जानता कि उसको लाभसे अधिक हानि होगी वह व्यक्ति मूर्ख है। भूख लगनेपर जपालबीज (विष) को खानेवाला

अ यको फसाते हैं एव नाच हैं। उन लोगोंने शुद्धश्रमें ज म लेकरमी मोक्षमार्गको मलिनही किया है ऐसा समझना चाहिये ॥१२९॥

सद्गोत्रनिंदां जिनयोगिनिंदां
करोति यत्नस्य च सर्वदा हि।
इहैव वक्त्रे क्रिमिगृद्दूर्वणा
भवति चाग्रे निरय प्रयाति ॥ १३० ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम गोत्र व गोत्रजोंका निंदा करते हैं एवं जैन मुनाचरोंको निंदा करते हैं इस जन्ममें ही उनके मुखमें कीडे वगैरह पडते हैं, बहुत पाप पाडा वगैरह उठते हैं, एव आगेके भव में नियमसे नरक जाते हैं ॥ १३० ॥

भूत्वा हिंसातुरश्चेतसि बक इव यो मानवो जैनदीक्षां।
धृत्वा भगानि करत्वा यदविकलतवास्ताहि निंदन्बवन्स ॥
दासीभर्तुर्द्विजस्योत्तरजनिपसुतोऽशेषविद्याप्रवीण—।
स्तद्देशाधीशकुष्ठमन्नमनकरणाल्लब्धयस्तत्रयेश्य ॥ १३१ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य हिंसा करनेमें तत्पर रहे बकके समान जैन दीक्षा ग्रहण करके उसको दोष लगाता है तथा जो निर्दोष दीक्षाको पालनेवाले साधुगण का निंदा करके गालियां देता है। दासीका पति ऐसे द्विजसे उत्पन्न हुआ वह अपने देशके राजाका कुष्ठरोग नष्ट करके जो उसके द्वारा थोडासा ऐश्वर्य मिला है उसका भोग लेता है। अर्थात् कपटसे दीक्षा लेनेवाले पुरुष हानाचरण करते हुए मुनिधर्म से भ्रष्ट होते हैं ॥ १३१ ॥

य कामार्थी धनार्थी परधनहरणोपायविन्निमित्तार्थी।
चौर्यार्थी धूलिभस्माद्युपकरणलसद्धर्मरीकादिविद्धि ॥
स्नेहं कृत्वा गृहीत्वा तदुपकरणमर्थाद्यमेह विचार्य।
स्वप्नार्थे नैर्धनात् व्यवहरति स वेश्यागसोऽन्याभिलाषी ॥

अर्थ—संसार में जो कामुक मनुष्य हैं अथवा धनकी इच्छा करने वाले हैं वह सदा दूसरोंके धन को अपहरण करनेके उपाय जानने वालोंके साथ मित्रता चाहते हैं, चोरी करने की इच्छा रखनेवाले, चोरी के सहायक उपकरण भस्म इत्यादि को जाननेवाले के साथ मित्रता चाहते हैं। ऐसे लोगोंके साथ मित्रता कर उन से उपकरणोंको लेकर एवं उन से धनिकोंका घर इत्यादि को विचार कर फिर चोरी करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार वेश्यागमन करने की इच्छा रखनेवाले ऐसे ही दुष्टोंके साथ मित्रता कर उन से उसके सब उपायोंको समझकर ऐसे दुर्मार्गोंमें प्रवृत्ति करते हैं ॥ १३२ ॥

भामिन्या लञ्जिकायां स्वगृहपरिकरान्धथवित्त च सर्वं।
वञ्चित्वाहृत्य दत्वा परिहरसि भवांस्त सछलाल्य चैत्य ॥
सौख्य जीवैहिक सवसमनुभवतीत्यात्मधर्म विमुच्य।
अथ धर्म च सर्व परिभवति क्रुधैर्वैहिकामुनिकार्थो ॥१३३

अर्थ—हे जीव ! सर्वत्रक्षमा वेश्याके अधीन होकर अपने घर से धन को चोरी कर और भी पदार्थोंको अपहरण कर उस वेश्या को ले जाकर देते हो, उस नीचकार्यके द्वारा अपने चित्त को भी ठग-कर ऐहिक सुखकी वांछा करते हो, इहलोक और परलोकमें सुख को देनेवाले धर्म को भूलकर सब कुछ सुखसे वंचित रहते हो, क्रोधी अपने क्रोधसे जिस प्रकार लोकको अपने विरोधी बना लेता है। उसी प्रकार वेश्यागामी अपना अहित कर लेता है ॥ १३३ ॥

यत्रास्ते वनितैका तामाक्रामति च पुंसि धनदानात् ॥
अपवादात्पतिभीतेरनुमनुतेऽतो गृहे वसेन्नैका ॥१३४॥

अर्थ—जिस घर में अकेली स्त्री रहती है। उसे देखकर कामा-

---

१ शृंगारोचितवित्तानि स्वसुताय ददज्जड ।
जारेभ्यो गणिकाभ्य स्यु परभोगाय तानि ता ॥

ऐसे प्रभावक गुरु हों तो भी उनमें रत्नत्रयात्मक धर्म नहीं मिलता है, कदाचित् रत्नत्रयात्मक धर्मके उपदेश देनेवाले गुरु मिले भी उन कर्मपीडितोंको उसे सुननेकी इच्छा नहीं होती है, कदाचित् इच्छा हो भी यह उपदेश उनको रुचता नहीं, रुचे तो भी हृदयमें प्रवेश नहीं करता है, कदाचित् हृदय में प्रवेश करे तो भी वहांपर यह उपदेश बहुत दिनतक टिकता नहीं, कदाचित टिक भी जाय चंद्रमासे समुद्र के बढने के समान तप हुए घी में पानीके समान, दरिद्र में ऐश्वर्य के समान अनेक दोषोंको अर्थात् द्रव्य भाव कर्मोंको उत्पन्न करके आत्मामें विकार उत्पन्न करते हैं एवं उन धर्मविचारोंको नष्ट करते हैं। ये सब सुयोग प्राप्त होकर पापात्मा धर्मात्मा बने इस के लिए मुख्यतया काल लब्धिकी अत्यंत आवश्यकता है ॥ १३७ ॥

गुरुक्रमोल्लंघनतत्परा ये जिनक्रमोल्लंघनतत्परास्ते ।
तेषां न दृष्टिर्न गुरुर्न पुण्यं वृत्तं न बंधुर्न त एव मूढाः १३८

अर्थ---जो मनुष्य गुरुओं की परंपराको उल्लंघन करना चाहते हैं अर्थात् गुरुओं की आज्ञाको नहीं मानते हैं वे जिनेंद्रभगवतकी आज्ञा को ही उल्लंघन करने में तत्पर हैं ऐसा समझना चाहिए। उन लोगों में सम्यक्त्व नहीं है। उन को कोई गुरु नहीं, उन्हें पुण्य का बंध नहीं, चारित्र की प्राप्ति नहीं, उन का कोई बंधु नहीं विशेष क्या? वे अपना अहित कर लेने वाले मूढजन हैं ॥ १३८ ॥

निजधर्मवंशपारंपर्यागतसत्क्रमं व्यतिक्रम्य ।
यो वर्तते स उत्सुक इह तेन च धर्मवंशहानिः स्यात्॥१३९

अर्थ---मनिपरंपरासे आए हुए सन्मार्ग को उल्लंघन कर जो आचरण करता है वह धार्मिकमनुष्योंमें उत्सुक कहलाता है। अर्थात् उस का यह विचार रहता है कि मैं जो कुछ बोलता हूं वही

आगम है, मैं जो कुछ भी करता हूं वही आचार है। इस प्रकार के उच्छृंखल विचार से उस व्यक्तिद्वारा धर्म का ही नाश होता है १३९

बाधन्ते नृपसेवकानपि वचोगात्रैश्च ये सागस-।
स्ते कारागृहवाप्यदण्ड्यसकलच्छेदा भवेयुर्यथा॥
ये रत्नत्रयधारिणस्त्रिकरणैस्ते सागसो दुर्गतौ।
ते बाध्या बहुदण्ड्यखण्ड्यसकलच्छेद्याश्च बन्धास्तथा॥

अर्थ—जिस प्रकार इस लोकमें राजाके सेवकोंको भी कोई वचन व शरीरके द्वारा बाधा पहुचावें तो वह राजाके अपराधी कहलाते हैं, उनको कारागृहका दण्ड मिलता है वहांपर उन्हे अनेक प्रकारकी बाधा दीजाती है, दण्ड दिया जाता है, समय आनेपर उनका सर्व नाश किया जाता है। इसीप्रकार जो रत्नत्रयधारी साधुवोंको मन वचन कायसे कष्ट पहुचाते हैं वे अपराधी हैं, वे भी उस पापके कारण नरकादि दुर्गतिमें जाकर जन्म लेते हैं। और वहांपर अन्य नारकी जीवोंके द्वारा उनको अनेक प्रकारसे बाधा दीजाती है। दण्ड मिलता है, वध किया जाता है। एवं उनका सर्वनाश किया जाता है। इसलिये वीतरागी साधुवोंको कभी कष्ट न पहुचाना चाहिये॥ १४०॥

मुक्तिर्नास्ति कलौ यथाग्रमिव सुक्षेत्र जिनाधिद्वय।
जैना निस्वकृपीवला इव सदा भृत्यैश्च तत्र क्रिया।
श्रेयोदामिह कारयन्ति विमुखा दक्षेव कान्याधवो॥
राज्ञा विहितमिश्रफला सुफलैर्ददानानि पूजार्पणं॥ १४१

अर्थ—इस पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रसे मुक्ति नहीं हो सकती, जिस प्रकार कि दरिद्र कृषकको निजका धान्य नहीं होता है। मुक्तिस्थानको प्राप्त करनेयोग्य क्षेत्र जिनदेव और जिनमुनि हैं। उनके प्रति जो क्रिया श्रावकोंका होना चाहिये वह पौरुषरूपसे नहीं हो पाती, पूजाप्रतिष्ठादि श्रेयस्कर क्रियाको श्रावक अपने

सेवकोंसे कराते हैं। अतएव सम्यक्त्वसे विमुख है। यह श्रावकका दोष है। जिस प्रकार राजाका अपराधी सदा दुःखी रहता है उसी प्रकार यह पापात्मा भी दुःख उठाता रहता है ॥ १४१ ॥

न्यक्सेवाकृदपुण्यवानकुलजो भिक्षार्जितद्रव्यभुक् ।
भूपास्थानगतागतश्च मनुजो नीचोपि पूज्यो भवेत् ॥
स विभ्यति निरीक्ष्य चाटुवचनं सर्व वदत्यत्र हि ।
बाधते जिनपूजकं जडमना पश्यति दासं यथा ॥१४२॥

अर्थ—नीचवृत्ति करनेवाला, पापी, नीचकुलोत्पन्न, भीख मांगने वाला व्यक्ति भी यदि राजदरबारमें आता जाता रहता है, राजाके साथ विशेष बोलता चालता रहता है तो वह नीच होनेपर भी लोकके लिए पूज्य होजाता है। सब लोग उससे इसलिए डरते हैं कि यह कुछ राजासे चुगलीकर हमारा अहित करेगा। इसलिए सब लोग उसकी खुशामद करते हैं। और मीठे २ बोलते हैं। परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात यह है कि जिनेंद्र भगवतकी सेवा करनेवाले पुरोहितको बहुत कष्ट देते हैं, अज्ञानी जन उन्हें नौकरोंके समान देखते हैं। यह उचित नहीं है ॥ १४२ ॥

वेश्यादासीजनानामुपकृतिमधुना कुर्वते नो विषादं ।
तेषामाकृतमीषन्न खलु च वदत्यपीकुर्वते भागिनो ये ॥
सा वेश्या सौख्यदास्ते न च यदि सुखदास्तद्विरोधान्न सौख्यं
मत्वैव तैर्विरोधं न च जिनभजकं नद्यम तथैव ॥ १४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोक में ऐसा देखा जाता है कि जो मनुष्य वेश्यासेवन करना चाहता है वह सब से पहिले उसे वेश्या के दासीका उपकार करता है। उस दासीको कष्ट नहीं पहुंचाता है। उस के विचार में जरा भी धक्का नहीं पहुंचने देता है, वह दासी जैसे कहे वैसे ही मानता है। क्या उसे सुख देनेवाली वेश्या है? अथवा वह दासी है?

सुख देनेवाली यद्यपि वेश्या है तथापि उस दासीके साथ विरोध करने से उस को वेश्या से भी ठीक सुख नहीं मिल सकेगा ऐसा समझकर उस दासीके साथ विरोध नहीं करते हैं। परन्तु दुःख इस का है की जिनेंद्र देवके साक्षात् सेवक पुरोहितोंका आदरकी दृष्टि से देखते नहीं है।

ये ये राज्ञः सेवकाः संति ते ते।
पूज्याः सेव्याः सेवकाः न प्रजानां॥
तास्तत्पापभीरोपकुर्वंति सेवां।
भीता, भीता राज्यमनो लब्धुकामाः ॥ १४४ ॥

अर्थ––राजा की मर्जी को प्राप्त कर लेने की इच्छा रखने वाले मनुष्य राजसेवकों को बडे पूज्यदृष्टि से देखते हैं अर्थात् राजसेवक प्रजावोंके लिए आदरणीय हैं, वे प्रजावोंके सेवक नहीं हैं। प्रजा उन राजसेवकोंको भय से स्नेहस उपकार करती है एवं उन की सेवा करती है। यह लौकिक नीति है॥ १४४ ॥

ये ये नो देवार्चकास्संति ते ते।
पूज्याः सेव्याः सेवकास्स्युः प्रजानां॥
नार्थस्तेषां ताभिरर्थं विनाद्य।
भीता भीता आज्ञया [?] वा तदर्थात्॥ १४५ ॥

अर्थ––जो भगवान्के अर्चक हैं वे सब हम श्रावकोंके लिये पूज्य हैं, उनकी सेवा करने योग्य है। परन्तु पंचमकालके दोषसे प्रजायें उनकी सेवा करना छोडकर वेही सबके सेवक बनगये हैं। उनको उनकी सेवाके बदले नैवेद्यके सिवाय और कुछ मिलता भी नहीं है। जो मिलता है उसीमें संतुष्ट होकर भयसे सबकी सेवा करते हैं यह काल दोष है॥ १४५ ॥

ये येऽर्चंति जिनं गुरूनुपचरंत्यर्हत्प्रजास्तेऽत्र ते।
सद्भक्त्योपचरंति पूजकजनाः स्युस्ताः स पुण्य [illegible]

अन्योन्यानकूलयोगवशत पाप च पापमद ।
कोपा कोपकरा शमा शमकरा' भावा स्युराज्यावमा

अर्थ—जो जिनेंद्र भगवत व जिनमुनियोंका पूजा करते हैं वे अर्हंत परमेष्ठीके प्रजा हैं, इस पचमकालमें जो उनका सत्कार करते हैं वे पुण्यका बंध करते हैं । परस्पर अनुकूलवृत्तिसे दोनोंको पुण्यबंध होता है । एव एक दूसरेसे अनुकूल प्रवृत्ति न होकर वैमनस्यभाव रहे तो पापकर्मका बंध होता है । क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि क्रोध से क्रोधका वृद्धि होती है, शांतिसे दूसरा मनुष्य भी शांत होजाता है । जिस प्रकार अग्निमें पडा हुआ घी अग्निका प्रज्वलित करनेवाला है । जलमें पडा हुआ घी ठण्डा होता है, इसप्रकार भाव जैसे होते हैं उसी प्रकार उसका परिणति होती है ॥ १४६ ॥

ये धर्माश्रितसौख्यमप्यनुभवन्तुधा धूपध्वसिनो ।
ते ज्ञातार्थगुणाश्च वन्हिबलताऽप्यथ्याशिना दु खिन ॥
धर्मं घ्नति दृगर्हदाश्रितजना दु कर्मसवर्धिन ।
सर्वे पचमकालदोपबलतो मूढा इहवाभवन् ॥१४७॥

अर्थ—जो राजा व श्रीमत लोग पूर्वजन्म में आचरण किए हुए धार्मिक कृतियोंके पुण्यसे सुखको अनुभव करते हुए उस धर्मको नष्ट करते हैं वे अज्ञानी ठीक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार कि अनेक भोग्यपदार्थोंके गुणको जानते हुए एव अग्निके बल होनेपर भी अयोग्य आहार को खाकर दु खी हो जाते हैं । सम्यक्त्व गुण कर्मको नाश करता है । परंतु खेदका बात है कि इस पचमकालके दोषसे जिन धर्माश्रित मनुष्य मूढतासे पापकर्मका और प्रवृत्ति करते हैं ॥१४७॥

दुर्दर्शा श्रितकण्टकैर्गमतरा मार्गाश्रितघ्नयुता ।
दुर्गंधाश्च जडैः कृता इव जनैः श्री कृतं शिहितं ।
पुण्योद्योगचयोपदेष्टृभिरिवासरयावने कार्पिकैः
स्वैराचारिभिरक्षलालसनरैर्धर्मान्वियोत्पत्तय ॥ १४८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग खेतके सस्यको काटकर अस्त व्यस्त कर देते हैं तो जानेवाले लोगोंको मार्ग नहीं मिलता है इसी प्रकार इंद्रियाभिलाषी स्वैराचारी व अज्ञानी लोगोंके द्वारा यह पवित्र जिनमार्ग मलिन किया जाता है । उन स्वेच्छाचारियोंकी कृपासे यह मार्ग अत्यंत मलिन, दुर्गंधयुक्त, कुरूप व कटकमय बन जाता है। इसी प्रकार कुशल धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा उस मार्गका प्रकाशन भी होता है । वे अपने उपदेशसे इस जिनधर्मकी प्रभावना कर पुण्यसंचय करते हैं ॥ १४८ ॥

ये मध्यजिनगेहमत्र कलहं शप्यंति साक्षारणं ।
मर्मोद्घाटनमद्भुतं कुमतयः कुर्वंति तत्रैव गुरोः ॥
संघो न्यग्गतयो मिथाहृतधना क्लिष्टाशया स्युः प्रभो ।
तेषां सद्मनि रोगिणोऽपि सरजा मृत्युस्त्रिमासांतरे ॥१४९
ये नृपति जिनालयेऽपि मदिरा दग्ध्वाप्यदत्यामिषं ।
ते भृत्याश्च नृपा प्रजा अनुमता भ्रश्यंति काका इव ।
क्षुत्रस्ता स्व विहरंति गहनगरं दुष्टा इवारण्यगाः ॥
सर्वे दण्डितपीडिता निगलिता कारासु गुप्ता जनैः ॥१५०

अर्थ—जो मिथ्यात्वी जिनमंदिरमें अथवा मुनिवासमें कलह करते

१ वेश्या दूषीविषमिव धुनोतीह सर्वं परस्त्री– ।
क्ष्वेडं सद्यो हरति च सुखं शुद्धपुण्यं च रण्डा,
आयुर्लक्ष्मीमपि नृपसुतां वंशशुद्धिं च दासी ॥
मूढ श्रेयःशुभगतिकरीमूढकन्यामुदास्ते ॥

समुद्रमें सदा पानी रहनेसे उसके कारणसे उत्पन्न नारियलके वृक्षमें भी सदा फल रहता है। इसी प्रकार लोकमें ऐसे बहुतसे पुण्यवान् मौजूद हैं जो अपने पूर्वोपार्जित अक्षय पुण्यके कारणसे प्राप्त संपत्तिसे सदा काल पुण्य कार्योंकी वृद्धि करते हैं। अपनी संपत्तिसे वे सदा धर्म प्रभावनाका ही कार्य करते हैं। इससे जो पुण्यका बंध होता है उसी का नाम पुण्यानुबंधी पुण्य है। परन्तु पर्वतादिमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे वृक्ष ऐसे हैं जिनमें कभी फल लगते हैं कभी नहीं लगते हैं। इसी प्रकार कितने ही लोकमें ऐसे मनुष्य हैं जो पापपुण्यके द्वारा संपत्ति को प्राप्त कर भी कभी उसे धर्मकार्यमें और कभी पापकार्यमें लगाते हैं, उनका धर्म और पाप दोनोंमें समानबुद्धि है ॥ १५४ ॥

> यावद्धान्यं भवति भुवि वर्षावदिच्छन्ति लोकाः—
> स्तद्वृत्पत्तिं स्वविषयमिमं पूर्वभूपाः स्ववृद्ध्यै ॥
> अज्ञानाधा जनमिह यथा पूतिनीं नारसिंहो ।
> द्रव्याहृत्यै निजकुलहतं भूमिपाः पीडयन्ति ॥ १५५ ॥

अर्थ—लोकमें किसानोंके स्वभावमें उनका जिस वर्ष जितने अधिक धान्यकी उत्पत्ति होती हो उतना ही वे चाहते रहते हैं। उससे अधिक संतुष्ट होते हैं। धर्मात्मा राजा भी उससे अपने राज्यकी ही उन्नति है ऐसा समझकर उनकी अच्छी तरह रक्षा करते थे, परन्तु खेद है कि आजकलके अज्ञानसे अंध हुए राजा उन प्रजाओंको जिस प्रकार नारसिंहने पूतिनीको पीड़ा देकर मार डाला उसी प्रकार अपने स्वार्थके लिए प्रजाओंके द्रव्यका अपहरण कर उन्हें पीड़ा देते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं है कि इस पापके कारण उनके कुलका ही क्षय होता है ॥ १५५ ॥

> कराऽधिको ऽभूत्फलमल्पमुर्व्यां ।
> सेवाधिका स्वल्पभृतिं कथंचित् ॥

शून्या तु सा स्वामिजनद्वये त-।
न्नैष्फल्यमायाति नृप प्रजोर्व्यं ॥ १५६ ॥

अर्थ—आजकलकी परिस्थिति दह हुई है जमीनका कर तो हुआ अधिक परतु जमीनमें उत्पन्न ना होता है कम, इसी प्रकार सदकोंस सेवा तो अधिक लेने लगे। परतु उ हे वेतन तो कम दते हैं। इस प्रकारकी वृत्तिसे उन राजा प्रजाओंमें दिनपर दिन शू यता आती जाती है। और इससे उन राजा प्रजा व भूमिकी संपत्ति इत्यादि सब निष्फलताको प्राप्त होते हैं ॥ १५६ ॥

विमाननात्पूज्यसतां नृपस्यो।
भवेत्स्वविश्वासवतां विघातनात्।
स्वतेजसा हानिरनीकतेजसां ॥
प्रजाविलोपश्च निजायुष श्रिय ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो राजा अपने स्वार्थकलिए अपने राज्यमें रहनेवाले गुणवान् वैद्य, ज्योतिषी आदि सत्पुरुषोंको पीडा देकर अपने राज्यसे भगाता हो उसके धर्मका क्षति होती है। अपने विश्वासके मत्री पुरोहित बंधु इत्यादिके साथ विश्वासघात करनेसे अपने तेजका नाश होता है, इतनाही नहीं उसके सेनाका भी तेज नष्ट होता है। एव उसके प्रजाका लोप होता है, स्वत राजाके आयु व संपत्तिका भी क्षय होता है। इसलिये राजाको उचित है कि प्रजाजोंको कभी कष्ट न पहुचावे ॥१५७

नात्मेवाजीविते देहे सहते रोगपीडनं।
निरर्वा नाजीवित सेवाविधान भपतर्मनाक् ॥ १५८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार शरीरकी आयु बाकी न रहनेपर जीव रोगपीडा न सहता हुआ इस शरीरको छोडकर चला जाता है इसी प्रकार जिस सेवक के सेवाके लिए कोइ प्रतिफल न मिलता हो वह राजाकी सेवा कभी नहीं कर सकता है ॥ १५५ ॥

स्वामिद्रव्य स्वामितामेव कुर्या– ।
भृत्यद्रव्य भृत्यतां स्वामिवित्त ॥
भृत्यग्राह्य भृत्यवित्त न जातु ।
ग्राह्य योगै. स्वामिना भृत्यकारि ॥ १५० ॥

अर्थ—सेवक स्वामिसेवामें तत्पर होकर परिश्रमसे जो धन कमाता है उसे स्वामिद्रव्य कहते हैं । ऐसा ही धन सेवकके ग्रहण करने योग्य है, ऐसे धनोंके उपार्जनसे सेवक धनवान् बनकर अनेक सेवकोंका स्वामी बनता है । परंतु ऐसा न कर जो किसी तरह आलस्य से काम करते हैं वे भृत्यद्रव्यके कमानेवाले कहलाते हैं, ऐसे द्रव्यसे सेवक ही बना रहता है। वह यथेष्ट धनार्जन नहीं कर सकता है । स्वामीका धन सेवक ले सकता है । परंतु भूलकर भी स्वामी सेवक के धन को ग्रहण न करें । यदि स्वामी सेवक के धन को ग्रहण करता है तो वह स्वयं सेवक बन जाता है ॥ १५९ ॥

कृत्वा नित्यनिकृष्टकर्मकरुणामुत्पाद्यतेनाप्यपा ।
पत्युर्वित्तमुपार्जित च यदहो येनैव पापात्मना ॥
तद्वित्त प्रभुणा न दत्तमथवा व्याजाद्बलादाहृत ।
॥ नाथ कुरुते निजेशसदृश तद्विश्यजेत्तद्धन ॥ १६० ॥

अर्थ—जो सेवक पहिले बहुत निकृष्ट २ सेवाओंके द्वारा मालिक के हृदय में करुणा उत्पन्न करता है एवं उन से यथेष्ट धन लेता है । उस के बाद उस के हृदयमें पाप आकर अपने स्वामीके द्वारा नहीं दिया हुआ धनको भी किसी तरह धोका देकर लेने लगता है । उस स्वामीकी श्री ऐसी बातोंसे घटेगी नहीं प्रत्युत वह अपने स्वामीके बराबर बन जायगा । परंतु उस सेवक को ऐसे कार्योंसे हानियां पहुंचेगी, इसलिए ऐसे धन को अपहरण नहीं करना चाहिए ।

ये' सेवकानां धनमाददाति ।
या नीचकृत्यार्जितमन्यवित्त ॥
कुर्याद्धन यत्खलु तस्य तत्र-।
न्नीचोपसेवार्जितजीवनं च ॥ १६१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने सेवकों के [illegible] है, एवं नीचकृत्योंसे कमाया हुआ [illegible] करता है वह उसके फलसे इस भवमें [illegible] जन्म लेता है एवं नीचोंकी सेवा करनेके [illegible]

भृत्येष्वीर्ष्यां भावहिंसातुरा ये ।
स्वप्नन्येषु प्रीतिम्। कुर्वते ते ॥
ज-मन्यग्रे स्वेषु भृत्येषु चैको ।
भृत्यो भूत्वैकैकजन्मन्यहा [illegible]

अर्थ—जो स्वामी अपने नौकरोंमें [illegible] ईर्षाभाव एवं दूसरोंके सेवकोंमें प्रति [illegible] आगे एक जन्ममें अपने एक २ से[illegible] होता है आश्चर्य है ॥ १६२ ॥

भूनाथऽप्यविश्वासक सेवक सुदृगहिगाहो यथा जायते ॥
भृत्यऽप्यपि भूमिपा यदि सुदृढ्यासोऽसवद्धतेव ॥
भृत्योत्सर्जनगोपनोक्तिविगम भूपाऽग्निकापोसव–।
द्भृत्यस्थोऽभृतेऽस्ये भवभवे भृत्याप्यपुण्यान्वितः ॥ १६४॥

अर्थ–राजा यदि अविश्वासी हो उसका सेवक यदि विश्वासी हो तो वह मत्तमत्त अपरिचित सेवक गारुडाने पकडे हुए सर्पक समान होता है। राजा यदि विश्वासी हो तो भरी हुई गाडी को बांधा हुआ बैल के समान हो जाता है। सेवकों को रक्षण करने का वचन देकर फिर यदि उन का रक्षा राजा नहीं करता है तो उस राजा की दशा वहीं होता है जैसा कि आम उगा रईकी। वह राजा इस प्रकार के पापोंसे भवभवमें पापी होकर उत्पन्न होता है ॥ १६१ ॥

परद्रव्यापहारित्वाद्दरिद्रो भवति ध्रुव ।
तस्माद्दाता परद्रव्य न गृह्णाति कदाचन ॥ १६५ ॥

अर्थ—परद्रव्य को अपहरण करने से मनुष्य नियम से दरिद्री बनता है। इस लिए दाता को उचित है कि वह परद्रव्य को कभी ग्रहण न करें ॥ १६५ ॥

स्वपितागतवित्तघ्न देवस्वाम्यर्थवंचन ।
तेनेहामुत्र नि स्व स्याद्भूय स्वार्थापहृत्सदा ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य देवद्रव्य और स्वामिद्रव्य को अपहरण करता है उस के पहिले के एव आये हुए दोनों प्रकार के द्रव्य नष्ट होते हैं। एव वह इस भव में एव परभव में बहुपरिग्रही और दरिद्री हो जाता है। एव उस का धन सदा दूसरोंसे अपहृत होता है ॥ १६६ ॥

चौर्यं दुष्टमिदं परविपल्लता चित्ते भ्रमोऽन्यपरता ।
दैन्य नि प्रमता मुख विरसता निस्त्राणता पादयो. ॥

कपो वर्ष्मणि दुःपरीषहजय स्याद्गद्गदरं गळे ।
निःक्रोधो बुधता दया विनयता चित्रं मृदुत्वं शम १६७

अर्थ—चोरी करना अत्यंत निकृष्ट कार्य है। यदि किसीने चोरी करते हुए देख लिया तो चोरका चित्त विकल हो जाता है, चित्तमें भ्रम उत्पन्न होजाता है। आंखो में अधरी आजाती है, दीनता धारण करनी पडती है, सारा शरीर प्रभाहीन होजाता है, मुख विरस हो जाता है, पैरोंमें निःशक्ति आजाती है, शरीर कपने लग जाता है, अनेक प्रकारके कष्ट सहन करने पडते हैं, कंठ गद्गद होजाता है, क्रोध छोडना पडता है, बुद्धिमत्ता आजाती है, दया भी उत्पन्न होती है, विनयशालमी बनना पडता है, मार्दव एव शांति भी धारण करना पडता है, आश्चर्य है ॥ १६७ ॥

अनियतवृत्त मरणं विशङ्ककुलबाधने मुहुर्मुहुस्त्वं ।
चौर्यमपि चौर्यवर्जनमहो जना वर्जयेयुरिह तच्च ॥ १६८

अर्थ—चोरी करते समय चोरको बहुत अनियतवृत्ति करनी पडती है क्यों कि उसे यह डर होता है कि मुझे कोई देख न लेवें, यदि कहीं पकडा गया तो फिर राजकर्मचारियोंके द्वारा दिये गये दण्डसे उसे यह इच्छा होती है कि यदि मेरेको मरण आजाय तो अच्छा है। इस लिये सज्जन लोग ऐसी चोरी को छोडते हैं ॥१६८॥

अर्थारागपदं सत्सुमिकुसुम शांतिच्छदं संयम-।
स्कंधं जीवचयाश्रयं वृषलसच्छाखं सपरियङ्कुरं ॥
दृष्टिज्ञानफलं दयेधितमिदं सद्धर्मवृक्ष जना ।
सर्वे निर्दहतिदं दहति मुनयस्तेनाग्निना मूढवत् ॥१६९॥

१ विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखं ॥
यमनमशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यं ॥
विबुधजनशकुंतैः सेवितं धर्मवृक्षं ॥
...रपीह स्तेनतीव्रानलेन ॥

थोंका कम कीमत में खरीदता हो तथा दूसरोंके प्रति सदा निष्ठुर व्यवहार करता हो उस व्यक्तिके भूत भविष्यत् वर्तमान ऐसे तीनों प्रकार के धन नष्ट होते हैं ॥ १७५ ॥

दशांशदपादविशुद्धिता विपात् ।
धन स सर्वे लभते नृपार्पित ॥
नृपारिचोराज्यधमर्णविस्मृते- ।
धेनेन दग्धेन धराटवी समेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो अपना कोष बढानेके निमित्त प्रजासे दशांश कर लेंगे ऐसा नियम करके भी उनसे सर्वधन लेता है तथा शत्रु रूप राजाका, चोरका, कर्जा जिसने लिया है तथा जो विस्मृतिसे धनको छोड गये हैं ऐसे लोगों का धन ग्रहण करता है वह राजा श्मशान, जली हुई भूमी के समान नष्ट होगा इस श्लोकका अर्थ हमारे ध्यानमें ठीक नहीं आया है। अतः अभिप्राय लिखा है ॥ १७६ ॥

बहाशार्जितवित्तस्य सर्वस्व विकलयन मनः ।
निक्षेपार्थहरस्यैवामुत्रिकार्थहरस्य वा ॥ १७७ ॥

अर्थ—बहुत लोभी होकर जो धन कमाता है उसके मनको इस कार्यसे बहुत दुःख उत्पन्न होता है अथवा ऐसा पुरुष सबके द्वारा पीडित किया जाता है। जिससे उसका मन खिन्न होता है। जैसे कोई धनिक किसी का धन अपने पास रखता है तथा मांगनेपर उस का देता नहीं उस समय वह उसको बहुत कष्ट देता है क्योंकि वह धनिक उस दीनके आगेके जीवनकाहा बिगाड देता है। इस श्लोकका केवल अभिप्रायमात्र लिखा है ॥ १७७ ॥

सत्पीडित वक्रमिवात्मपति गृहीत्वा ।
व्याहूय शीघ्रमस्ये वितरेत्कृतज्ञम् ॥

सीतेव रावणगृहांतगतान्यगेहा- ।
द्रुतु स्मरत्स्यनयलब्धधन नितांत ॥ १७८ ॥

अर्थ—जो धन अन्याय, व बलात्कारसे अपहरण किया गया हो वह अपने स्वामीको अनेक प्रकारके कुतत्रस शीघ्र पकडकर शत्रुके हाथमें दे देता है । जिस प्रकार बहुत कष्ट पाया हुआ सेवक स्वामीसे चिढकर उसे शत्रुके हाथमें दे देता हो । एवं जिस प्रकार सती सीता रावणके घरसे अन्य घर होनेसे छोडकर जाना चाहती थी इसी प्रकार अन्यायोपार्जित धन दूसरेके पास जरूर चला जायगा । उससे कभी सुख नहीं मिल सकता ॥ १७८ ॥

यो बहाशाजितार्थस्सन् कुर्वन्स बहुधा वृष ।
दोषी वांछासिव स्वास्थ्य कुर्वस्वैवापथ्यमौषधम् ॥१७९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अत्यंत लोभसे न्याय अन्याय, योग्यायोग्य विचार न करके बहुत धनको कमाता हो एवं उस पापके उपशम के लिये अनेक धर्मकार्य करता हो सचमुचमें वह रोगीके समान है जो वात, पित्त, कफके विकारसे पीडित हो, स्वास्थ्यकी इच्छासे औषधिका सेवन भी करता हो साथमें अपथ्य भी करता हो ॥ १७९ ॥

सत्पुरुषोऽर्जयति धन यत् सकलजनसाधुवृद्धयैव स्यात्
तस्य धनस्य न हानिर्नानुपहतधर्मबलसुगुप्तस्येव ॥१८०

अर्थ—सज्जनलोग न्यायसे जिस धनका उपार्जन करते हैं वह धन संपूर्ण इष्ट जन व साधु सतोंकी वृद्धिके लिये कारण होता है । एवं धर्मकार्यमें उसका विनियोग होता है । उस धन की हानि कभी नहीं होती, उसे कोई अपहरण भी नहीं करता एवं धर्म कार्यों की रक्षा उससे होती है अतः एव धर्मरूपी आत्मा उसकी रक्षा करता है ॥ १८० ॥

अर्थ—जिनमंदिरके जीर्ण होनेपर उसे देखनेपर भी धनवान जैन उस से उपेक्षा करते हों, उसके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करते हों तो उनका घर, धन, तेज, मान इतनाही नहीं प्राणादिका भी शीघ्र नाश होता है ॥ १८६ ॥

लेखयति यश्च यो वा सविकारास्तस्य जिनमुनींद्रप्रतिमान् ।
नश्येद्धनमायुर्गृहमपि सह मूलं च वीक्ष्य हृष्टस्यापि ॥ १८७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य जिनेंद्र व मुनींद्रोंके चित्रको (प्रतिमा) सविकार निर्माण कराता हो उसका धन, आयु, घर इत्यादि समूल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं उन सविकार प्रतिमाओंको देखकर जो प्रसन्न होते हैं उनका भी धन आयु, घर इत्यादि समूल नष्ट होते हैं ॥ १८७ ॥

राजा पुरा रौरवहारिण स-।
दीर्घायुरारोग्यसुखाग्निरूढा ॥
सर्वे नृणां रौरवकारिणोऽद्य ।
ऽस्वल्पायुरारोग्यसुखाम्नयः स्युः ॥ १८८ ॥

अर्थ— पूर्वकालमें राजा प्रजाओंके दुःखोंको दूर करनेमें सदा दत्त चित्त रहते थे इसलिये व दीर्घायुषी, आरोग्यवान्, सुखी व स्वस्थ होते थे। पंचमकालके राजा प्रजाओंको हरतरह दुःख देनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझते हैं अतएव वे अल्पायु, रोगी, दुःखी व अस्वस्थ होते हैं। प्रजाओंके हितनिरत रहना यह राजाका कर्तव्य है ॥ १८८ ॥

यन्नास्थाने सदा हासा भण्डोक्तिर्वैहृगर्वचाक ।
धर्मनिंदा भवेत्सर्वं समूलं च विनश्यति ॥ १८९ ॥

अर्थ—जिस राजाके आस्थानमें (दरबार) सदा काल हास्य,

मण्डवचन, परनिंदा, व धर्मनिंदा आदि दुष्कृत्य होते रहते हों उस राजाकी संपत्ति समूल नष्ट होजाती है ॥ १८९ ॥

> यत्राट्टहासो दुष्कर्म जिनधर्मस्य दूषण ।
> साधुनिंदा भवेत्तत्र सहमूलं विनश्यति ॥ १९० ॥

अर्थ—जिस राजाके आस्थानमें सदाकाल अट्टहास होता रहता हो, दुष्कर्मका बाजार लग रहा हो, साधुओंकी निंदा होती रहती हो उस राजाकी संपत्ति नष्ट हो जाती है । राजा धार्मिक हो तभी उसका राज्यशासन अटल रह सकता है ॥ १९० ॥

> यत्रोत्कोचहरा भूपा. कायस्था पिशुना नराः ।
> विश्वस्तास्तैर्हतास्सर्वं सहमूलं विनश्यति ॥ १९१ ॥

अर्थ—जिस राजाके शासनमें लोग अल्पकार्यके लिए महत्वपूर्ण कार्योंको बिगाडनेके लिए तैयार होते हैं, इधर उधर चुगली करके परस्पर झगडा करानेमें आनंद मानते हैं, अधिकारीवर्ग रिश्वत लेकर कार्य करता है, विश्वस्त ऐसे सज्जन लोग जहां सताये जाते हैं ऐसा राज्य, समूल नष्ट होता है ॥ १९१ ॥

> दृष्ट्वा न पश्यति बुधान्ब्रुवतः सदुक्तिं ।
> श्रुत्वा शृणोति स जडः कटु वाग्रहीव ॥
> ज्ञात्वा हिताहितजनाननिशं न वेत्ति ।
> लक्ष्मीमहाग्रहगृहीतजनो विभाति ॥ १९२ ॥

अर्थ—लक्ष्मीरूपी महाभूतसे गृहीत अज्ञानी व्यक्ति सज्जनोंको पहिले देखनेपर भी नहीं देखेके समान वर्ताव करते हैं, शास्त्रोंको सुननेपर भी अनसुनी कर देते हैं । अपने हित व अहितजनोंको जानकर भी नहीं जाननेके समान करते हैं, अनेक प्रकार भूतादि दुष्ट ग्रहोंसे गृहीत व्यक्तिके समान कटुवचनका उच्चारण करते हैं । इसलिये धनके मदसे मदोन्मत्त प्राणी ग्रहपीडितके समान हो हैं ॥१९२॥

नेक्षते कलिसमयाश्रयाञ्जरा किम् ।
बोधते कनकसमाश्रयात्पुन ॥
मन्यते जनपसमाश्रयान्न किंचित् ।
कुर्वते त्रिमदयुता इये न किं तत् ॥ १९३ ॥

अर्थ—मनुष्य कलिकालके आश्रयसे ही किसीको देखना नहीं चाहता है, किसीको धन कनक मिलजाय तो वह मदोन्मत्त होजाता है, किसीको राज्यसत्ता व अधिकार मिलनेपर मदोन्मत्त होता है। इनमें किसीको एक साथ दूसरा कुछ भी मिले तो उनके अनर्थका कोई पार नहीं, ऐसी अवस्थामें कलिकाल, कनक, राज्याश्रय य तीनों मद एकजगह मिल जाय तो फिर वे क्या नहीं करेंगे ? सब कुछ अन्याय करनेको तैयार होंगे ॥ १९३ ॥

विघ्न' सद्य फलति कृतिनामेव पुंसा कृतोऽप ।
नीचस्पृष्टिः फलति कृतिनां सद्य एव द्विजानाम् ॥
क्ष्वेडः सद्यः फलति सुखिनां पन्नगस्यच नाऽत्त- ।
स्तस्मादित्थं सुकृतिपुरुषा नैव कुर्यात्कदापि ॥१९४॥

अर्थ—जिसप्रकार दुष्ट सर्पके काटनेसे उसी समय विषोद्रेक होकर प्राणको अपाय पहुंचता है उसीप्रकार सत्पुरुषोंके मार्गमें विघ्न करनेसे उसका फल तत्क्षण मिलता है, नीचलोगोंके स्पर्शन ब्राम्हणोंको उसी समय फल देता है। इसलिये सज्जनोंको उचित है कि वे कभी सन्मार्गमें विघ्न नहीं करें ॥ १९४ ॥

आयुर्हंति रुजा करोति रिपुभिर्घोरैर्मृतिं न्यक्कृतिम् ।
कारागारनिवेशनं निगलदुर्बंधं सदा तद्धन ॥
सर्वार्थापहृतिं ततो विहरणं लोकेऽपि भिक्षाटनं ।
दैन्योक्तिं विनति त्वर स्थितिमहो चित्रं कृतागः फल॥१९५

अर्थ—बहुत आश्चर्यकी बात है, राजद्रोह धर्मद्रोहकरके अर्जित

पापोंसे प्राणियोंका बडा अहित होता है। राजाके द्वारा प्राणदण्डको प्राप्त होते हैं, अगर कदाचित् प्राणनाश न भी हुआ तो अनेक प्रकारके रोग कष्ट देते हैं। चार या शत्रुओंके द्वारा मरण होता है। अनेक प्रकारसे तिरस्कार प्राप्त होता है। जेल जाना पडता है, वहां बेडी पडती है, अनेक प्रकारके कष्ट मिलते हैं, उसके धनको दूसरे लोग लूटके लेजाते हैं, वह भीख मांगने लगता है। दूसरोंके सामने दीनता व कातरता को धारण करता है। विशेष क्या? उसका भारी अध पतन होता है। यह सब उस धर्मापराधकृत पापका फल है ॥ १९५ ॥

सप्तार्चिर्दहतीव सर्वमनिशं हत्यर्कतेजो रसं।
क्ष्वेडो जीवितमामयः सुखयुगं देवर्षिराजादिषु ॥
दम्पत्यो कुरुते विरोधमक्षयं सद्बंधुभृत्यादिषु।
सत्पुण्यः कृतकार्यलाभमपर्थविघ्नाश्रितं स्तम. ॥ १९६ ॥

अर्थ–जो मनुष्य धर्मकार्योंमें, देवकार्योंमें व राजकार्योंमें विघ्न करता हो उसका अध पतन होता है। जिस प्रकार अग्नि सब पदार्थोंको जलाता है उसी प्रकार यह पाप उसके सर्व कार्योंको नाश करता है। जिस प्रकार सूर्यका तेज पानीको सुखा देता है उसी प्रकार उसका भी तेज नष्ट होता है। विषसे जिस प्रकार प्राणघात होता है, रोगसे जिस प्रकार सुखका नाश होता है उसी प्रकार इस अंतरायकृत पापसे उसको सुख मिलता नहीं। इतना ही नहीं उस पापके कारणसे देवर्षि, राजा, राज्याधिकारी, बंधु, भृत्य व गृहांगना की परस्पर दंपतियोंमें अविनाशी विरोध उत्पन्न होता है। उसके लिए जिस जिस कार्यमें भी लाभ होनेकी संभावना हो उसे यह अंतरायकृत पाप रोकता है ॥१९६॥

कारुण्यांशु विशोषयन्नविमलज्ञानं समाच्छादयन्।
श्रद्धानं च विनाशयन्नविरतं चारित्रमुत्सादयन् ॥

आदेय प्रतिमाचयन्गुणगणानुन्मूलयन्नाहयन् ।
साऽप दुष्कृतराड्विभाति विमले लाभ सदोदासयन् ॥

अर्थ—यह पापरूपी राजा क्षारजलको गरम करके गुणवाले जीवोंके समान करणारूपी रसको जलाता है, मेघ सूर्यको, कर्दम रत्नको ॥ घडा दीपकको जिस प्रकार आच्छादित करता हो यह निर्मल ज्ञानको आच्छादित करता है। विश्वासभ्रष्ट करनेवाले जार पुरुषके समान, स्वामिभृत्य–विश्वासका नष्ट करनेवाले दुर्जनोंके समान, देहमें आत्मबुद्धि करनेवाले रागके समान, कपडकी सिलाई को छुडानेवाले धोबीके समान श्रद्धानभ्रष्ट करता है। अपने वंशागत धर्मपुण्यको नष्ट करानेवाली व्याके समान चारित्रको भ्रष्ट करता है। गर्भस्राव करने वाले भूतोंके समान, शिशुहत्या करनेवाली विधवाओंके समान आगे प्राप्यपुण्यको नष्ट करता है, अच्छे डोरोंको काटनेवाले चूहोंके समान, शुद्ध तपोगुणको नष्ट करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान गुणोंको नष्ट करता है, हेयमें उपादेय व उपादेयमें हेयबुद्धि उत्पन्न करता है। निर्मल पुण्यलाभमें सदा विघ्न करता है। इसलिये देव, राज, धर्मकार्यमें कभी विघ्न नहीं करना चाहिये ॥ १०७ ॥

विघ्नाश्रितस्य नृपतेर्विषयो बलं च ।
यथा विनश्यति यथा कुजनस्य सगात् ॥
शास्त्र सुबुद्धिरमला च विवेकिता च ।
कर्पूरमिश्रतिलजस्य भवञ्जनोऽयम् ॥ १०८ ॥

अर्थ— जैसे दुर्जनोंके संगतिसे शास्त्रज्ञान, सुबुद्धि, विवेक आदि सद्गुण नष्ट होते हैं उसी प्रकार देवधर्म–कार्यमें विघ्न करनेवाले राजाके आश्रयमें रहनेवाले देश व प्रजायें नष्ट होते हैं, वह स्वयं कर्पूरमिश्रित तेलको पीनेवालेके समान अपना अहित कर लेता है ॥ १०८ ॥

सततमभयदानान्निर्भयो निर्जितारि- ।
त्रिभुवनजननेत्रेन्दीवरानन्दचन्द्र ॥
स्वजनसुरमहीजः कामिनीनां मनोज्ञः ।
स भवति परमश्रीकामिनीकांतरूप ॥ १९९ ॥

अर्थ—सदाकाल अभयदान करनेसे मनुष्य निर्भय बनता है। सर्व शत्रुवोंको जीतनेवाला होता है, तीन लोकके मनुष्योंके नेत्ररूपी नीलकमलको हर्ष उत्पन्न करनेवाले चद्रमाके समान बन जाता है, स्वबंधु व देवोंके द्वारा भी वह पूज्य व स्त्रियोंके लिये कामदेवके समान सुंदररूप बन जाता है। इतना ही नहीं वह इसी अभयदानके फलसे मुक्तिलक्ष्मीका पति बन जाता है ॥ १९९ ॥

दयांबुसिक्तामृतसूर्यतप्ता-
मचौर्यसद्दोहलशोभमानाम् ॥
सती सुरक्षावृतिकामकांक्षा ।
हिमालिकक्ष्मीं लतिका वहंती ॥ २०० ॥

अर्थ—यह अभयदानरूप लता दयाजलसे सींची गई है, मरणका अभाव अर्थात् जीवनरूपी सूर्यसे प्रकाशित हो रहा है, चोरी नहीं करना एतत्स्वरूप दोहदसे वह पुष्ट होगयी है, प्राणियोंका रक्षण करना यही इसकी वृति है-बाड है। तथा निस्पृहतारूपी ठंड आलबाल की शोभा धारण करता है ॥ २०० ॥

शुद्धस्याभयदानस्याहारदानस्य यत्फलम् ॥
शबरः क्षत्रियो भूत्वा लोभदत्तेन चाब्रवीत् ॥ २०१ ॥

अर्थ—शुद्ध अभयदान व आहारदानके फलसे एक भिल्ल उसी जन्म में मरकर क्षत्रिय हुआ व लोभदत्त नामके व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष बोला। इसलिए अभयदान का फल अचिंत्य है ॥ २०१ ॥

भावो देश इवान्वय पुरमिवावास कृतोऽन्यैर्वपु-।
र्माता श्रीरिव सा पिता जनपकाः पौरा प्रजा बांधवाः ॥
क्षेत्र क्षेत्रमिवात्मजा इव सुसस्यौघा कथ तत्र भो ।
का प्रीतिं कुरुसे भवाग्निजकृते प्रीतिं कुरुर्या यथा ॥२०२॥

अर्थ—हे भव्य ! ससारके प्रति मोह बढाना उचित नहीं है । यह ससार देशके समान है । अपना कुल नगरके समान है । शरीर दूसरोंके द्वारा बनाया हुआ मकानके समान है, माता सपत्तिके समान व पिता राजाके समान है । बधुजन पुरवासी प्रजाओंके समान हैं । क्षेत्र खेतके समान है व अपने पुत्र सस्यसमूहके समान हैं । ऐसी अवस्थामें इन ससारवृद्धिके कारणोंमें क्यों प्रीति करते हो अर्थात् उपर्युक्त सभी ससारमोहको वृद्धि करनेवाले हैं । उनमें मोह छोडना यह विवेकियोंका कर्तव्य है ॥ २०२ ॥

स्यात्पचव्रतसालपचयवृते देहऽपराजायुते ।
दुर्भावा खलु वृत्तयो रिपुनृप दृष्ट्वा पतित्वा तत ॥
प्रयुक्ते शिथिला पतति तरणीमत्तेभदृक्स्पृष्टितो ।
नात शुद्धिरस व्रत च न बल साध्यस्त्वयाय ध्रुव ॥२०३

अर्थ—पचमहाव्रतरूपी पच परकोटसे रक्षित इस शरीररूपी राज्य को जब पापराजा आकर घेरते हैं, तब मिथ्यात्व, दुराचरण आदि शत्रु राजाओंको देखकर एव तरुणीरूपी मदो मत्त हाथीको देखने व स्पर्शसे यह सुरक्षित राज्यस्थित आत्मा अपने स्थानस विचलित होता है एव शिथिल होजाता है जब उसके अतरग शुद्धि नहीं रहती है और न व्रतमें बुद्धि रहती है और न कोई आत्मशक्ति रहती है। इसलिये हे भव्य ! हरसमय मिथ्या वादि दुर्भावोंसे अपनेको बचाये रखो ॥२०३॥

या विद्या फलदा तयैव चतुरा भाग्य लभत सदा ।
तत्रासक्तिरनूनम सुपठन तस्या श्रुतिश्चिंतनम् ॥

येषां सति त एव सौख्यमुभयं तत्रैहिकामुत्रिकं ।
पचैतानि न येषु ते भुवि पुरो दीना भवेयुर्धुवम् ॥२०४॥

अर्थ—जो विद्या फलप्रद हैं या जिससे विद्वान् लोग भाग्यशाली बनते हैं उसी विद्यामें आसक्ति, लीनता, पठन पाठन, श्रुति व चिंतन करना उचित है अर्थात् स्वपरहित करनेवाली विद्यामें मनुष्यको आसक्त होना चाहिये, उसीमें लीन होना चाहिये उसी विद्याका रातदिन पठनपाठन करते रहना चाहिये और उसीका मनन करना चाहिये। जो इस प्रकार करते हैं उनको इहलोक—परलोक संबधी सुख मिलते हैं। ये पांच बातें जिनमें नहीं हैं उनको कोई सुख नहीं मिलता है प्रत्युत वे आगे दरिद्री होते हैं ॥ २०४ ॥

स्थानं यद्वलवानिभैः स्वविषये पूर्णैर्दुर्गमैः—।
र्सिधुग्रामवनैस्सखैव वरणैः कुड्यैर्हितारक्षकैः ॥
द्वास्थैः प्राहरिकैर्व्ययागमकरैर्द्वीपैश्च तैः रक्षितं ।
यत्तद्द्रव्यमिवातिकष्टकयुतं पुण्यं महीवावतात् ॥ २०५॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने खजाने व राज्य जो बहुत आपत्ति पूर्ण है उनके रक्षाकेलिये अनेक प्रकारसे प्रयत्न करता है अर्थात् अपनी सेनासे युक्त होकर हत्ती, राज्य, आधीनस्थ राजा, दुर्गम नदी, ग्राम, वन, खाई, दीवाल, रक्षक हितैषी, नगरद्वार रक्षक, प्राहरिक, बडे २ दरवाजे, व बहुत धनका व्यय और प्राप्ति जिनसे होती है ऐसे द्वीप इन सबकी सहायता से राजा जिस प्रकार अपने खजाने की रक्षा करता है उसी प्रकार यह राजा अपने निर्मल पुण्य को भी इन सब की सहायतासे आपत्तियोंसे रक्षण करें ॥ २०५ ॥

अभयदानमभयंकरमार्यास्सुगतिदानचतुरं सुखधाम ।
विदितचारयशःकुलगेहं सकलजीवनिलयं प्रवदंति ॥

अर्थ—सज्जनोत्तम पुरुष अभयदानको अभय उत्पन्न करनेवाला

कहते हैं, एवं अभयदानसे सुगति व सुखस्थान मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। यह अभयदान यशःकीर्ति के लिए सुन्दगृह है। एवं संपूर्ण जीवों के लिए सुखाश्रय स्थान है ॥ २०६ ॥

शुभ्रःपुण्यसवतीजननकुलगिरिः कर्मभूमीध्रवज्र।
चेतोविकल्पनाश रिपुभयहरणं सर्वशास्त्रार्थबोध ॥
अज्ञानं हंति कोपं शमयति विनयं संयमं सविधत्ते।
शांतिं ख्याति विवेकं सततमरुजतां सोऽभयाख्यं सुदानं॥

अर्थ—निर्दोष अभयदान पुण्यनदी को उत्पन्न करने के लिए कुलाचलके समान है। कर्मरूपी पर्वतको तोडने के लिए वज्रके समान है। इस से चित्तकी विकल्पना दूर होती है। शत्रुभय दूर होता है। समस्त शास्त्रों का अर्थज्ञान होता है। अज्ञान को यह नाश करता है क्रोधको उपशम करता है, विनय व संयम को उत्पन्न करता है, शांति विवेक व निरोगता सब कुछ इस अभयदान के फलसे उत्पन्न होते हैं ॥ २०७ ॥

सस्यसस्याधिपार्निर्वृतीव नश्येत्फलं सर्वथा बहु स्यात्॥
धृत विमुक्ताभयदानिना यद्दानत्रय नेष्टफलानि दत्ते २०८

अर्थ—जिस प्रकार सस्योंकी वृद्धिका उसका स्वामी रक्षा नहीं करें तो उसके सब धान्य नष्ट होते हैं उसी प्रकार आहार, औषधि व शास्त्रदानसे पुण्यवृक्षका बढानेपर भी यदि अभयदानसे उसकी रक्षा नहीं करें तो वह निष्फल है, उससे पापकी वृद्धि होती है ॥ २०८ ॥

धर्मोपकारिभूपेन गृहीतं यत्समं धनं ॥
मया ममाय तत्सर्वं स्मरेद्दत्तं भवेत्कृती ॥ २०९ ॥

अर्थ—धर्मोपकार करनेवाले राजाके द्वारा गृहीत धनको अप यय

१ धर्मोपकारिभूपेन यावद्द्रव्यं समाहृतं ॥
संचितमे मया दत्तं तत्सर्वं धर्महेतवे ॥

हुआ ऐसा न समझना चाहिये। यह मैंने धर्मके लिए ही दिया, ऐसा सत्पुरुषोंको विचार करना चाहिये ॥ २०९ ॥

धर्मोपकारिभूपेन गृहीतं यत्सम धनं ॥
मयाद्य दत्तं तत्सर्वं ममाघं नेति चिंतयेत् ॥ २१० ॥

अर्थ—सत्पुरुषोंको सदा यह भावना करनी चाहिये कि मैंने आज धर्मोपकारी राजाको जो कुछ भी धन दिया है और जो उसने ग्रहण किया है, वह पापके लिए नहीं अपितु पुण्यार्जनके लिए दिया है ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २१० ॥

निजग्रामाधिपेनाद्य यावद्द्रव्यं समाहृतं ॥
तत्सर्वं दण्डवद्दत्तं मया नीचं न चिंतये. ॥ २११ ॥

अर्थ—मैंने आज अपने ग्रामाधिपके लिए जो दण्डके रूप में द्रव्य दिया है वह सब अन्यायके लिए नहीं दिया धर्मके लिए दिया है इसलिए उस विषय में मुझे चिंता नहीं करनी चाहिए ऐसा सत्पुरुष विचार करें ॥ २११ ॥

मतं समस्तैः ऋषिभिर्यदार्हतैः ।
प्रभाशुरारमावनदानशासनम् ॥
मुदे सतां पुण्यधनं समर्जितुं ।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥२१२॥

अर्थ— समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके सयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २१२ ॥

इत्यभयदानविधिः

दानशालालक्षण

प्रणम्य जिन भक्त्या ससंश्रुत्य गुरोर्वचः ।
निर्दोषपुण्यद दानशालालक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् जिनेंद्रको भावशुद्धिसे नमस्कार कर एवं मन वचन कायकी शुद्धिसे सद्गुरुओंके उपदेश सुनकर, अब आगे निर्दोष व पुण्यप्रद दानशालाका स्वरूप कहेंगे इस प्रकार आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

नवीन गृहसंस्कार

गोमयचूर्णविलिप्तं शुद्धं पुण्याहवाचनाहोमाभ्याम् ।
सिक्तगन्धाम्बुनव्यं गेहं मुनिभोजनाय योग्यं स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—जो मकान पहिले चूना व गोबर से अच्छीतरह लिप्त हो, तदनंतर पुण्याहवाचना होम आदि संस्कारके द्वारा शुद्ध करके गंधोदक से सिक्त हो, ऐसा नवीन गृह मुनिभोजनके लिये योग्य है ॥ २ ॥

पुराणगृहसंस्कार

भरन सद्मनि सूतकौकसि कुदृक्शूद्राश्रयेऽन्यस्मिन् चे— ।
द्दीवःसैव्रतिकोपि गोमयपय.ससिक्तभित्तिच्छदि ॥
होमेनापि सुगंधतोयविमल गाविद्पवित्रांगण ।
तत्राहत्पदसेवकं सुहृदय भुंजीत योगीश्वर ॥३॥

अर्थ—सूतकी, चाण्डाल, मिथ्यादृष्टि व शूद्रोंका निवास जिसमें होगया हो ऐसे पुराने मकानमें भी बिना शुद्ध किये व्रतिक व महाव्रतियोंको भोजन नहीं देना चाहिये । सबके पहिले गोबरके पानीसे दीवाल वगैरहको गलाकर लीपना चाहिये । फिर पुण्याहवाचनापूर्वक होम करके निर्मल गंधोदकका सेचन करना चाहिये एवं बाहरके अंग

१ वास्तुविधि विमानशुद्धि

णको भी गोबरसे पवित्र करना चाहिये। ऐसे घरमें अर्हत्परमेष्ठीके चरण भक्त व सम्यग्दृष्टी मुनि भोजन करें ॥ ३ ॥

सर्वथा आहारवर्जनस्थान

मिथ्यादर्शी च मासादः गेहे जैनाश्रये सति ।
नाघात्र नव कृत्वा शुद्धऽशुद्धेतिकादय ॥ ४ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि व मद्य, मास, मधु के सेवकोंके द्वारा आश्रित घरमें कोई जैनी रहता हो तो उस घरमें जैनमुनि आहार नहीं ले सकते हैं। यदि उस घरको नवीन कर पूर्वोक्त प्रकारसे होम पुण्याह-वाचना आदि संस्कारोंके द्वारा शुद्ध करें तो नंतिक उसमें आहार ले सकते हैं ॥ ४ ॥

मंगलगृह

प्रत्यह गोमयांभोभि पूर्णसंसिक्तचत्वर ।
यद्दृष्टिगोचर योगिप्रवेशायातिमंगल ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस घरके प्रांगण प्रतिनित्य गोमयके पानीसे सिंचित हुआ दृष्टिगोचर होता हो, वह घर मुनियोंके प्रवेशके लिये अत्यंत मंगल है ॥ ५ ॥

सम्यक्फलितसस्यौघ सुक्षेत्र वीक्ष्य निस्तृण ।
सर्वे शसंति त तच्च दातार मुनयस्तथा ॥६॥

अर्थ—जिस खेतमें अच्छे फल व सस्य हो उस खेतको देखकर राहगीर लोग उस खेतका व उस खेतके मालिककी प्रशंसा करते हैं, ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकारके मंगलगृह व उसके मालिक दाताकी सज्जनलोग प्रशंसा करते हैं ॥ ६ ॥

मतिक्षुन्निग्रह शस्त सर्वसंकल्पवर्जित ॥
यद्गृह सवमखिल रक्षत्सवमंगलोत ॥७॥

अर्थ—जिस घरमें प्रवेश करनेसे मुनियोंके चित्तमें क्षोभ या अन्य

संकल्प न होना हो वह घर प्रशस्त है। उस घरके सर्व बरतनोंको एव अन्य पाकोपकरणोंका बहुत प्रयत्नके साथ रक्षण करना चाहिये ॥७॥

अप्रशस्त गृह

चण्डालसूतकीयुक्तं स्याच्च यन्नोचितं गुरो ।
स्फुलिङ्गदग्धपटवद्भोजयोग्यं न सर्वथा ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आगसे जला हुआ वस्त्र पहनने योग्य कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिसके घरमें चण्डाल व सूतकी रहते हों वहांपर भोजन करना गुरुवोंको कभी उचित नहीं है ॥ ८ ॥

गुरुवोंके आगमनपर सूतकियोंका कर्तव्य

तिष्ठेच्चैकत्र निर्वेक्य प्रसूता स्त्रीव सूतकी ।
चण्डालो न विशेज्जैनगृहं चत्वरमेकदा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रसूत स्त्री इधर उधर न जाकर एक जगह बैठती है उसी प्रकार सूतकियोंको भी मुनिचर्याके समय एक जगह बैठ जाना चाहिये। चण्डाल जैनियोंके मकानमें कभी प्रवेश न करें ॥९॥

गुरूणामागतौ तिष्ठेत् गोप्यस्थानेऽपि सूतकी ॥
सद्दृष्टिविषयो भूत्वा न तिष्ठेन्न नमस्कुर्यात् ॥१०॥

अर्थ—अपने परम गुरुवोंके आनेपर सूतकी व रजस्वला स्त्री गुप्त स्थानमें जाकर बैठें और उस स्थानमें न बैठें जहां उन गुरुवोंके दृष्टिगोचर हो। उस समय में गुरुवोंको नमस्कार नहीं करना चाहिये और न बोलना चाहिये ॥ १० ॥

देवगुर्वाद्यसत्क्ये पीते पीडाज्यदुग्धदधितक्र ॥
नीतिश्लोकास्ति तरसो गोमहिष्याति न सरति दुग्धं चाग्र ॥११

अर्थ—देव गुरुवोंके सेवार्थ योग्य दूध, दही आदिको जो स्वयं खालेता है उसके गाय भैंस आदि मरजाते हैं, कदाचित् जीवें तो भी

दूध नहीं देते अर्थात् ऐसे द्रव्योंको हमें खाना उचित नहीं है ॥११॥

अशुचित्वं कुरुते यन्नीचकुले जन्म नीचमाहार ॥
हिंसाद्यकृत्यवृत्तिस्ततो भवे दुर्गतिस्थितिर्भवति ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य गुरुवोंके भोजनस्थान को व देवोंके पूजन स्थानको अशुद्ध रखता है, वह आगामी भवमें जाकर नीच कुलमें जन्म लेता है नीच आहार सेवन करनेवाला होता है, हिंसादि पंच पापोंमें रत होता है। इसी प्रकार नरकादिदुर्गतिमें भ्रमण करता रहता है ॥ १२ ॥

चाण्डालके लिए जैनगृहप्रवेशनिषेध

स चाण्डालेक्षणे स्वप्ने मृतमेनोऽथवा वदेत् ॥
तन गेह गते सद्य पुण्यश्रीर्विषभागिव ॥ १३ ॥

अर्थ—स्वप्नमें चण्डालको देखनेपर उसका फल मृतोंका समाचार व अपने शौच की हानिको बतलाना चाहिये। चण्डालका स्पर्श हुआ तो ज्ञानहानि, उसके साथ भोजन करें तो मिथ्यात्वकी वृद्धि आदि फल होते हैं। इस प्रकार जिस चाण्डालका दर्शन, स्पर्शन आदि स्वप्नमें भी दूषित है, वह प्रत्यक्षमें यदि किसी जैनघरमें प्रवेश करें तो उस घर की पुण्यलक्ष्मी विषबाधासे पीडितके समान विना कहे भाग जाती है ॥ १३ ॥

चाण्डालादिस्पृष्टपाथ सेकात्सस्य न नश्यति ॥
मृतकीस्पृष्टवा सेकात्तत्प्रवेशाद्विनश्यति ॥ १४ ॥

अर्थ—चाण्डालके हाथसे स्पृष्ट जलके सचनसे कोई वृक्ष वगैरह नाश नहीं होते हैं। मृतकी अर्थात् रजस्वला आदिके द्वारा स्पृष्ट होनेसे वह वृक्षादिक नाश होते हैं। परंतु जैनगृह प्रवेशके विषय में चाहे चाण्डाल हो चाहे स्त्री हो दोनोंकी समानता है। उनके द्वारा प्रविष्टगृह उनको (व्रतियोंको) आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है॥१४॥

ये वसत्यशुचौ गेहे पात्रदानादिके कृते ॥
ग्रहादिभिस्सदा तेषामाधयो व्याधय क्षया ॥ १५ ॥

अर्थ—जो श्रावक पात्रदानादि सत्कार्यको करनेके लिए अशुचि गृहमें रहते हैं, उन लोगोंका सदाकाल भूतप्रेतादियोंसे एवं चोर, जार इत्यादि दुर्जनोंसे अनेक प्रकारके संकट उपस्थित किये जाते हैं, जिस कारणसे उनको सदा मानसिक चिंता व रोगबाधा बनी रहती है ॥१५॥

सूतकोच्छिष्टविण्मूत्र नीचसंवष्टिते स्थले ॥
कृते सत्पात्रदानेऽस्मिन्पुराधिव्याधयोऽधिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—सूतक, उच्छिष्ट, मल, मूत्र व चाण्डालादिके द्वारा स्पृष्ट स्थानमें जो सत्पात्रदान देता है उसे अधिक रोगादि बाधा उपस्थित होजाती है ॥ १६ ॥

क्षेत्रमादावसत्कृत्य पश्चाद्बीज वपन्निव ॥
पात्र गेहमसत्कृत्वा चान्नदानाद्धृथ भवेत् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान योग्य समयमें खेतका सत्कार नहीं करके बीज बोवे तो उससे कोई उपयोग नहीं होता है उसी प्रकार अन्नदान देने योग्य क्षेत्र अर्थात् घरका सत्कार न करके यदि दान देते हैं तो उससे कोई फल नहीं होता है ॥ १७ ॥

सत्कृत्य क्षेत्रमेवादौ पश्चाद्बीज वपन्निव ॥
गेह पात्रं च सत्कृत्य कृतदानात्सुखी भवेत् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेतको पहिले गोबर आदिसे सत्कार करके पीछे बीज बोता है तो उस खेतमें सस्यवृद्धि वगैरह अच्छीतरह होकर फलकी प्राप्ति होती है जिससे किसान सुखी होता है उसी प्रकार दानशालाको होम पुण्याहवाचना आदिसे सत्कृत कर एवं उसमें रहनेवाले दानपात्रोंको भी शुद्ध कर उपलक्षणसे मन वचन कायको

भी शुद्धि कर दान देवें तो वह दाता सुखी होता है ॥ १८ ॥

स्नात्वा धौतशिखाः सुधौतदशना पुत्रादिलोकास्पृशो- ।
गाविट्पूतगृहेऽनिवेशितजने मन्यग्रभाण्डादिभि ॥
पक्कैर्मृदजना बहुभयतना वाजिश्चतुर्भिर्मुदा ।
स्वान्देवानिव पूजयति बहुधोत्साहैर्मुनीन्धार्मिका ॥१९॥

अर्थ—धार्मिक जन प्रतिनित्य दतधावन करके, आमस्तक स्नान करें। तदनतर पुत्र आदि विना स्नान किये लोगोंका स्पर्श न करें। अपने घरके आगणको गोमयसे पवित्र कर एव उसमें इतर अशूद्रादि लोगोंका प्रवेश नहीं होने देवें। और पूर्वोक्त प्रकार संस्कृत रसोई घरमें संस्कृत पात्रोंसे तैयार किये हुए भोजनको अनेक प्रकारके उत्साहसे मुनियोंको अर्पण करें। इतना ही नहीं, जिस प्रकार वह अपने देवोंकी उपासना व भक्ति करता है उसी प्रकार मुनियोंके प्रति भी भक्ति करें ॥ १९ ॥

साधुपादरजाकीर्णं शुचि यद्गेहमगण ॥
ग्रहाहिवन्हिकीटाद्या प्रविशति न तद्गृहम् ॥ २० ॥

अर्थ—साधुवोंके पादधूलसे जिस घरका आगण पवित्र होगया हो, उस घरमें भूतपिशाचादि दुष्ट ग्रहोंका प्रवेश नहीं होता है, सर्पादिक विषैले जतु वहां नहीं आते हैं एव अग्नि, चोर आदिका उपद्रव नहीं होता है। और न घरमें कीडे आदि क्षुद्र जतुवोंकी ही बाधा होती है ॥ २० ॥

पुण्यपुत्रा प्रजायते तत्र श्रीरेधते सदा ॥
द्रव्य गृहागत पुण्य भूरि भूत्वा प्रवर्धते ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस घरमें मुनियोंका पदार्पण हुआ हो उसमें पुण्यपुत्र अर्थात् कुलकी कीर्ति बढानेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं। एव उस घरमें

संपत्ति सदा बढता है। एवं उस घरमें आया हुआ द्रव्य व पुण्य अत्यधिक होकर बढता है ॥ २१ ॥

राजाद्यागमनोत्साहे गृहशोभां च कुर्वते ।
सुपात्रागमने जैना स्वर्गमोक्षसुखप्रदे ॥ २२ ॥

अर्थ—इहलोकमें हमारे रक्षक राजा आदिके आगमनके समय जिस प्रकार प्रजाजन अपने घरकी सजावट करते हैं, उसी प्रकार धार्मिक जन स्वर्गमोक्षको प्रदान करनेवाले सुपात्रोंके आगमनके समयमें अपने घरकी सजावट या शोभा करते हैं ॥ २२ ॥

महाय बन्धागमने जनास्तदा ।
गृहांगणद्वारमतीव शोभनं ॥
धनक्षयार्थं च कुर्वतेऽहसे ।
सुधारसुपात्रागमने न किंचिदा ॥ २३ ॥

अर्थ—लोकमें विवाहादि कार्यमें जब बंधुवोंका आगमन होता है उस समय सब लोग अपने घर, आंगण आदिको खूब सजाते हैं इतना ही नहीं, अपने शरीरको भी सजाते हैं। परंतु यह सब संसारवृद्धि के लिए कारण है एवं इनसे धनहानिके सिवाय कोई लाभ नहीं है। परंतु खेद है कि लोग अपने घरको सत्पात्रोंके आगमनके समय कुछ भी नहीं करते हैं ॥ २३ ॥

महाय बन्धागमने जनास्तदा ।
गृहांगणद्वारमतीव शोभनम् ॥
वृष श्रियं लब्धुमयं च सद्दिवं ।
सुधासुपात्रागमने दिवामृतं ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोग विवाहादि कार्योंके समय बंधुओंके आगमनमें घरके द्वारकी शोभा करते हैं, इस प्रकार सुपात्रोंके आगमनके समयमें धर्म, संपत्ति, आरोग्य व स्वर्गमोक्षादिकको प्राप्त करने के लिए नहीं करते हैं। खेद है! ॥ २४ ॥

पापी स्त्रिया

स्त्रियस्तु बन्ध्वागमने महाज्ज्वलाः ।
सुधौतवस्त्रा शुचया महोत्सवा ॥
भवंति पात्रागमने सकृच्चरा ।
मलीमसांगा मलिनाशयास्सदा ॥ २५ ॥

अर्थ—बहुतसी स्त्रियां अपने घरमें बन्धुओंके आगमनके वृत्तांत पाकर नहा धोकर स्वच्छ हो जाती हैं एवं अच्छे २ कपडे, गहने पहनकर अपने घर में कोई उत्सव हो जैसे रहती हैं । परन्तु खेद है कि पात्रोंके आगमके समयमें खराब कपडे पहने रहती हैं । शरीरको ही नहीं, मन को भी मैला कर लेती हैं ॥ २५ ॥

सर्वे सर्वाणि वित्तानि दीनेभ्यो ददते गृहे ॥
दातारो याचकास्सति न त तानि वृषाय न ॥ २६ ॥

अर्थ—लौकिककार्यों के लिए सर्वजन याचकोंके इच्छित द्रव्य को दानमें देते हैं, उस में दातार भी है याचक भी हैं । परन्तु धर्म कार्योंके लिए दातार भी नहीं, याचक भी नहीं है । कदाचित् याचक भी हों तो दातार नहीं है ॥ २६ ॥

पुण्यवती स्त्रिया

स्त्रिय कृताया सदया महोत्सवा ॥
सुधौतवस्त्रा शुचया महाज्ज्वला. ॥
भवंति पात्रागमनेषु ते च ता ।
मनोवच कायविशुद्धयश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—पुण्यवान् दयालु स्त्री पुरुष पात्रोंके आगमनमें सुंदर वस्त्र को पहननेवाली व महान उत्सववाले हो जाते हैं, इतना ही नहीं उन के मनवचन काय की शुद्धि होती है । यह उन का पूर्वपुण्य व भक्ति का फल है ॥ २७ ॥

दानशालायाः पवित्रता

मुनिभुक्तिगृहेऽन्यथा भोजनं यदि तत्फलं ॥
कुण्डरन्ध्राम्बु तद्रक्षेद्गृहं स्वगृहवत्सदा ॥ २८ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार देने योग्य भोजनशाला में उनके आहारदानके पहिले किसीको भोजन नहीं कराना चाहिये, यदि करावें तो दानका फल घायके भूमाके समान व्यर्थ जाता है। इसलिये उस घरको अपने घर (स्व) के समान रक्षण करना चाहिये ॥ २८ ॥

यत्यादिभुक्त्यगारेऽस्मिन् कृतान्यैर्भुक्तिरेव चेत् ॥
यावद्दानं कृतं तावन्नष्टं भिन्नतटाकवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार दान देने योग्य दानशालामें यदि उनको आहार देनेके पहिले किसीने भोजन किया तो उस दातारने जितना दान दिया हो वह सब व्यर्थ जाता है, जिसप्रकार तालाबके फूटनेपर पानी चला जाता है ॥ २९ ॥

यत्यादिभुक्त्यगारे विण्मूत्रलिप्तशिशौ स्थिते ।
रोगः पुण्यवतो मृत्युरपुण्यस्य शिशोर्भवेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—मुनियोंको दान देने योग्य पवित्र दानशालामें मलमूत्रसे लिप्त यदि बालक हो तो उस बालकका अनिष्ट होता है। यदि वह बालक पुण्यवान् हो तो रोगी होता है, यदि पुण्यहीन हो तो मरण प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

यत्यादिभुक्त्यगारे विण्मूत्रवासःस्थितिर्यदि ॥
रोगो भवेच्छिशोस्तस्या सत्पुत्रोऽपि न जायते ॥ ३१ ॥

अर्थ—पात्रदान देनेयोग्य दानशालामें यदि मलमूत्र से युक्त कपडा वगैरह हो तो बालक रोगी हो जाता है, इतना ही नहीं उस माताके गर्भमें फिर कुलवर्धक सत्पुत्रोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ३१ ॥

शिशुदोले स्थिते पात्रचित्ते विण्मूत्रसंस्मृतिः ॥
स्यात्तथैव तयोरंतराय पुण्यश्रियोर्लयः ॥ ३२ ॥

अर्थ—दानशालामें या बाहर बच्चोंको सुलानेका झूला हो तो पात्रोंको उसे देखकर मल, मूत्रोंका स्मरण आजाता है, जो कि आहारमें अंतरायका कारण है। आहारमें अंतराय होनेसे दाता व पात्र दोनोंकी पुण्यलक्ष्मी नष्ट होजाती है ॥ ३२ ॥

तृणावृतेऽत्र सस्यानि वर्द्धते किं फलंति किं ?
नीचोच्छिष्टेऽङ्गणे गेहे पुण्यायुः श्रीतुजस्तथा ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बहुतसे घास फूस वगैरहसे युक्त खेतमें सस्यकी वृद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार मल, मूत्र उच्छिष्टादिसे युक्त अंगण, पाकगृह वगैरह जहां हो उस घरमें संपत्ति व संतानोंकी वृद्धि नहीं होती और न पुण्य व आयुकी वृद्धि होती है ॥ ३३ ॥

मिथ्यादृङ्नीचविण्मूत्रोच्छिष्टमिश्रेऽङ्गणे गृहे ॥
विलश्यते श्रीःसपत्नीव क्षीयते दैन्यमेधते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस घरमें मिथ्यादृष्टि व नीचोंका संसर्ग हो, मलमूत्र, उच्छिष्ट आदिसे युक्त अंगण हो, उस घरमें संपत्ति सवतके समान खिन्न होती है, एवं नाशको पाती है। दीनता बढ़ता जाती है ॥ ३४ ॥

बहु व्ययंति पुत्राय कन्यादाने कुवर्द्धये ॥
भिन्नगेहं न कुर्वंति मुनिभक्त्यै वृषर्द्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—संसारमें अपने पुत्रोंके लिए, कन्यादानके लिए, और भी संसारवर्द्धन कार्यके लिए बहुतसे द्रव्यका व्यय करते हैं। परंतु जिससे धर्मवृद्धि होता है ऐसे मुनिदानके लिए सर्वदोषरहित भिन्न घरका निर्माण नहीं करते हैं ॥ ३५ ॥

क्षेत्रे सर्वाणि धान्यानि वपंते कृषिका इव ।
जैनाः पृथग्गृहेष्वन्नदानं कुरुत सर्वदा ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान लोग गोबर आदिसे संस्कृत भिन्न खेतोंमें भिन्न २ धान्यका बोते हैं, उसी प्रकार होम विधानादिसे संस्कृत दानशालामें ही जैन आहारदान देवें। यहां आहारदानके लिए, पृथक दानशालाके निर्माण का यही अर्थ है कि वह शाला अच्छी तरह संस्कृत होना चाहिये। मन्मन्त्र उच्छिष्ट आदि का संसर्ग नहीं होना चाहिए एवं खास बात यह है कि उसमें मिथ्यादृष्टि भोजन नहीं करें, सम्यग्दृष्टि व्रतिक ही भोजन करें, एसे घरमें ही मुनियोंको दान देना उचित है। ॥ ३६ ॥

मत समस्तैरार्षेयिर्यथार्हतै ।
प्रभासुरात्मावनदानशासन ॥
मुदे सतां पुण्य धन समार्जितु ।
धनादि दद्या मुनये विचार्य तत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके समयोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ ३७ ॥

इति दानशालाविधि ।

पात्रसेवाविधि ।

प्रणम्य जिनपादाब्जयुगं त्रैलोक्यमंगलं ॥
वक्ष्ये जिनमुनींद्रादिपात्रसेवात्मकं विधिं ॥ १ ॥

अर्थ—तीन लोकके लिये मंगलस्वरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रभगवतके चरणकमलको नमस्कार कर जिनमुनींद्र आदि पात्रोंकी सेवाविधि इस प्रकरणमें कहेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा आचार्यपरमेष्ठी करते हैं ॥ १ ॥

दानविधि

नवोपचारकरणं यन्मुनेरादरेण तु ॥
सवत्सद्विधिमाप्नोति धान्यार्जनविधिर्यथा ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार आहारदानके लिए साधनभूत धान्यादिकोंके प्राप्ति के लिए अनेक प्रकारकी विधि करनी पडती है अथवा खेतमें धान्यकी उत्पत्तिके लिए अनेक प्रकारकी क्रिया करनी पडती है। उसी प्रकार पात्रको आदरके साथ नव प्रकारसे उपचार करना उसे सज्जन लोग सद्विधि कहते हैं ॥ २ ॥

दानक्रम

देशकालागमविधिं द्रव्यं पात्रक्रमो यथा ।
दानं देयं तथा दात्रा क्षेत्रे कृष्यविधौ यथा ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेती करते समय देश, काल, आगम, विधि आदि जानकर बीजको बोता है, उसी प्रकार योग्य देश, उचित कालमें, आगमोक्त विधिको ध्यानमें रखकर सत्कृत द्रव्यको उत्तम पात्र को दान देवें। सचमुचमें वही उत्तम दाता है ॥ ३ ॥

देशगुण

देशमवृत्तिसञ्जुद्ददोषोपशमकारणम् ॥
दोषरोगहराहारो दयस्तद्दशेदिभि ॥ ४ ॥

अर्थ—जांगल, अनूप, साधारण आदि देशके अनुसार प्रवृत्ति करना वात पित्त, कफ आदि दोषोंके उपशमके लिए कारण है। इसलिए दाताओंको उचित है कि वे देशोंके भेदको जानकर वात, पित्त, कफ आदिक दोषोंको एवं तदुत्पन्न रोगोंको दूर करनेवाले आहार दानमें देवें ॥ ४ ॥

कालगुण

कालक्रमकृद्दोषोत्थरोगोपशमकारणम् ॥
कालदोषहराहारो देयस्तत्कालवेदिभिः ॥ ५ ॥

अर्थ—शीत, उष्ण और वर्षाकालके अनुसार आहारप्रवृत्ति रखें तो वातपित्तादिसे उत्पन्न रोग उपशांत होते हैं। इसलिए उत्तम दाताओंको उचित है कि वे कालक्रमको जानकर दोषहर आहारको दानमें देवें॥५॥

उत्तमपात्रदान कालक्रम

चणकजीरकहल्लकुल्लमेथीशाल्यादिवपनसमयस्त्वेक ॥
उत्तमपात्रे क्षेत्रे दातॄणामन्नदानविधिरेक स्यात् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चना, जीरा, कुलथी, मेथी, धान आदिको बोनेका समय एक ही हुआ करता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रोंकी आहारविधि भी एक ही है। और एक ही काल है ॥ ६ ॥

मध्यमपात्रदान कालक्रम

गोधूमवल्लतुवरी जोनलतिलमुद्गयवपनसमयौ च द्वौ ।
मध्यमपात्रे क्षेत्रे दातॄणामन्नदानसमयौ स्याताम् ॥ ७ ॥

अर्थ— जिसप्रकार गेहू, पावटा, तूअर, ज्वार, तिल, आदि धान्योंको बोनेके समय दो हैं, इसी प्रकार मध्यम पात्रोंको आहार दान देनेके समय दो हैं ॥ ७ ॥

शास्त्रक्रम

शास्त्रकममनुल्लंघ्य समवर्तेत धार्मिक ॥
धर्मे दाने च भुक्तौ च स नयः स गुरुक्रमः बुधः ॥ ८ ॥

अर्थ—धार्मिक सज्जनोंको उचित है कि वे धर्म, दान व भोजनमें एवं लौकिक कार्यमें शास्त्रक्रमको उल्लंघन न कर प्रवृत्ति करें। शास्त्रक्रमसे प्रवृत्ति करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि है ॥ ८ ॥

विधि गुणक्रम

य सर्वकालदेशेषु यद्यदाश्रित्य वर्तनं ॥
वर्तते तदनुक्रम्य हेयं हित्वात्र सर्वथा ॥ ९ ॥
हातुं न शक्य वरकर्म न वर्ज्यं योगदोषवत् ।
सद्भक्तिरकषाय स्यात् सुकृतिनैव दोषभाक् ॥ १० ॥

अर्थ—जिनधर्मभक्त, मंदकषायी, धार्मिक सज्जनको उचित है कि वे सर्व देश व कालमें जो धर्मकेलिये अनुकूल है, देश व कालके लिये अनुकूल है उसे अनुकरण कर वर्तन करें। जो बात हेय हो उसे जरूर छोड़े, और जो कार्य मन वचन कायके दोषके समान छोडनेको अशक्य हो उसे न छोडें, परंतु यह ध्यानमें रहें कि वह धर्मके साधन हो, जिस प्रकार भक्तिके लिये अष्टद्रव्य, आत्मसिद्धिके लिये देह, देहरक्षणकेलिये आहार, गमनकेलिये वाहन, धान्यकेलिये खेत, धर्मवृद्धिके लिये दोषाच्छादन आदि बातें निंद्य नहीं हैं, उसी प्रकार धर्मसाधन भी ग्रहण करें, सर्वथा छोड नहीं सके तो धार्मिक जनोंकेलिये दोषास्पद नहीं है, प्रत्युत उससे पुण्यबंध होता है ॥ ९ ॥ १० ॥

द्रव्य लक्षण

पादगुदशौचशेषं तोयाक साधुपेयमभ किं वा ।
क्षुद्रकगुडशर्करादि ॥ वर्णानां सकरोऽस्ति कर्णाटादौ ॥११॥

अर्थ—जिस पानीमें पाद, गुद, शौच आदिकी शुद्धि मनुष्य करते हों, वह पानी साधुओंको पीने योग्य कभी हो सकता है क्या ? नीच जातिके लोगोंके द्वारा बनाए हुए गुड, शक्कर, दूध, दही आदि साधुवोंको आहारमें देने योग्य है क्या ? कभी नहीं ? कर्णाटादि देशमें

जिस प्रकार वर्णसंकर स्पष्ट दोष पाया जाता है। उन समस्त दोषों रहित द्रव्यका ही दानमें देना चाहिए ॥ ११ ॥

स्पष्ट दोष

विद्यायत्तकुलाभिमानधृतताघृत्यादिक चेटिका ।
वेश्या इति परांगना त्रिभुवनश्लाघाश्रयक्षोभण ॥
कुर्यान्जीवनजीवितार्थविषयग्रथादिवस्तुक्षय ।
यत्संसर्गात्परज मनाहि नरक पातो भवेद्जसा ॥ १२ ॥

अर्थ—नाचोंके संसर्गसे मनुष्यको विद्या, बुद्धि, कुल आदिका मद, दासत्व, वृत्तिक्षय, सम्पत्ति, शक्ति, जीवन, भोग व परिग्रह आदिका क्षय होता है। दूसरोंको उससे कष्ट पहुंचता है। इतना ही नहीं परजन्ममें वह नरकमें जाता है ॥ १२ ॥

पात्र

राजान पालयतीव निजधर्माश्रित बल ॥
निजधर्माश्रितान्सर्वान् दययावति धार्मिका ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने आश्रित सैन्यको बड़े तरहसे रक्षण करते हैं, उसी प्रकार धार्मिक सज्जनोंको उचित है कि वे अपने आश्रित पात्रोंको दयाबुद्धिसे रक्षण करें ॥ १३ ॥

नवधा भक्ति

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजा ।
प्रणामवाक्कायमन प्रसाद ॥
विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा ।
कार्या मुनीनां गृहमेधिभिश्च ॥ १४ ॥

अर्थ—पडिगाहना, उच्च आसन देना, पादप्रक्षालन, पूजा, प्रणाम मन शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, तथा आहारशुद्धि इस प्रकार उत्तम पात्रों का नव प्रकारसे गृहस्थ सत्कार करें ॥ १४ ॥

प्रतिग्रह

न दैन्यविध्वंसिनिधिद्रुधेनुका ।
यथा ददामो वयमित्युशन्ति य ॥
इद सुपात्र सुकृतागत न मे ।
त्यजामि नान्यस्य ददाम्यह तथा ॥ १५ ॥

अर्थ--जिस प्रकार मनुष्यका दरिद्रताका नाश करनेवाली कोई निधि, कल्पवृक्ष व कामधेनु के मिलनेपर हृष्ट होकर यह कहते हैं कि अब हम इसे किसीको नहीं देंगे, उसी प्रकार धार्मिक सज्जन अपने पुण्यसे अपने द्वारमें आये हुए पात्रोंको देखकर हर्षित होते हैं, और कहते हैं कि मैं अब इसे नहीं छोडूंगा और न दूसरोंके यहां जाने दूंगा। इस भक्तिविशेषसे जो आदरके साथ पात्रको अपने द्वारपर स्वागत किया जाता है उसीका नाम प्रतिग्रहण है॥१५॥

उच्चासन

गत्वाभ्युत्थाय सवीक्ष्य सत्पात्रं गृहमेधिना ॥
दत्तमुच्चासन तस्मै सूनृतासनमुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—धार्मिक गृहस्थ पात्रोंके आगमन को दूरसे देखकर भक्तिसे उठता है। फिर उनका प्रतिग्रहण कर उन्हें विराजनेको उच्च आसन देता है, यह दूसरा उपचार है ॥ १६ ॥

पाद्यपूजा

मुनिपादाम्बुजद्वद्वक्षालन पाद्यमीरित ॥
मुनिपादार्चन यच्च सा पूजेत्यभिधीयते ॥ १७ ॥

अर्थ—उच्चासन देनेके बाद मुनीश्वरोंके पादप्रक्षालन करनेको पाद्य कहते हैं। और उनकी पादपूजा करनेको पूजा कहते हैं ॥१७॥

प्रणामादिचतुष्टय

पचाग• प्रणति प्रणाम इति वाक्कायाशयैर्यत्कृत ।
स्तोत्रं सेवनमुत्तम स्मरणमित्यार्या ब्रुवतीह ते ॥

कारण सपत्ति, जिनधर्म प्रभावनाके साधन धर्म, अथ, कामरूप त्रिवर्ग सपत्ति, परमागमज्ञायकबुद्धि, जिनधर्माराधक भव्योंके पोषण के लिए ऐश्वर्य, जिनवाणी, देहसौंदर्य, एकपाठादिक कुशाग्रबुद्धि आदिको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

मोक्षफल

एतैरप्युपचारैर्ये सर्पयति सपात्रतां ॥
सुखं स्वर्गस्य मोक्षस्य लभंते ते क्रमेण च ॥ २२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त नव प्रकारकी भक्तियोंसे युक्त होकर जो तपोनिधि मुनियोंको आहार देते हैं व स्वर्गादिक सुखको प्राप्त करते हैं । इतना ही नहीं क्रमसे वे मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं ॥ २२ ॥

मूढा नाथपरार्थलाभमनसः स्वार्थव्ययं कुर्वते ।
सर्वे स्वामिन एव पर्वसु सदा सेवाजनभ्योऽपि च ॥
नीत्वा तद्वदयं जना न कुरुते व्यर्थव्ययं पापदं ।
पूर्वोपार्जितपुण्यपापसुखतोऽप्याशुत्रिवर्गार्थं मनाक् ॥२३॥

अर्थ—आज भी अज्ञानी किसान आग मालिकोंसे [illegible] लोगोंको कुछ लाभ हो इस इच्छासे उनको अनेक प्रकारकी भेंट ले जाकर देते हैं । पर्व-दिनोंमें अपने स्वामियोंके पास यहांतक कि अपने स्वामिके सेवकोंके पास भी जाकर उनको अनेक भेंट वगैरह अर्पण कर उनका आदर करते हैं । सचमुच में उनको अज्ञानी नहीं कहना चाहिये । क्यों कि ऐसा करनेसे उनके स्वामी भी समयपर उनको उपकार करते हैं । इसलिये यह उनका कर्तव्य है । इसी प्रकार मोक्षपुरुषार्थ को जो प्राप्त करना चाहते हैं वे भी अपने द्रव्यके कुछ अंशको व्यय करके श्रीभगवान् जिनेंद्रकी उपासना आदि करें । पर्वदिनोंमें विशेषतया भगवान् जिनेंद्र एवं उनके सेवक यक्षयक्षियोंका आराधना कर तथा अनेक प्रकारसे धर्मप्रभावना

कर अपने द्रव्यका सदुपयोग करे । परन्तु खेद है कि कितने ही लोग पूर्वोपार्जित पुण्यसे प्राप्त द्रव्यके होनेपर भी ऐसे शुभकार्यमें उसका व्यय नहीं करते । परन्तु पापोपार्जनमें सहायक ऐसे दुराचार, मुकद्दमे-बाजी आदिमें व्यर्थ व्यय करते हैं ॥ २३ ॥

क्षेत्रादिसर्ववस्तूनां सत्कारं कुर्वते जनाः ।
नत्तदर्थं न कुर्वन्ति सत्फलप्राप्तिहेतवे ॥ २४ ॥

अर्थ—धान्यादिकके उत्पत्तिकेलिये खेत आदिका सत्कार मनुष्य करते हैं । धनप्राप्तिकेलिये दुकान आदिका सत्कार करते हैं । परन्तु खेद है कि सबका मूलबीज जो पुण्यधन है जिसके फलमें सर्व संपत्तिकी प्राप्ति है, उसके सत्कारके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते ॥२४॥

आनन्तयाद्यनुबंधि प्रथितममृदु निस्सारमुद्यत्कलीयं ।
दर्पिनादप्रपोस्वरतापितमुदकसंयोगतो मुद्रितो वा ॥
शुष्यत्सज्ञापापिप्याब्रिजनलभवसस्यानि सर्वाणि निरप्य ।
क्षेत्रं सत्कृत्य पात्रं फलमिव लभते कार्षिको धार्मिकश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—जैसे कृषकलोग क्षेत्रका अच्छी तरहसे सत्कार करते हैं अनंतर उसमें धान्य बोते हैं इससे धान्य उगकर अच्छा, फललाभ उनको होता है । उसी तरह पात्रको आहारदान देनेवाला दाता भी मित्रके समान है । वह भी प्रथम अपने को दान देने योग्य बनायेगा तभी पात्रदानसे उसको फललाभ होगा, अन्यथा नहीं । पात्रको आहार देनेवाला दाता प्रथमतः सम्यग्दर्शनके घातक ऐसे अनंतानुबंधि कषाय को अपने हृदयसे नष्ट कर देता है, तब उसके हृदयमें जो पूर्वकालमें मिथ्यात्वरूपी धान्य उगा था वह शुष्क होकर नष्ट होता है । नष्ट होनेसे वह दाता अपनेको व्रतादिकसे संस्कृत करता है अर्थात् संस्कृतक्षेत्रके समान यह जब अपनेको सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिकसे संस्कृत करता है, तब सत्पात्रको आहारदान देकर

स्वर्गमोक्षादिकफलको प्राप्त कर सकता है। जैसे खेतमें जो तृण या अयोग्य धान्य ऊगा था वह नेत्रकी दर्शनशक्तिको विघात करनेवाली ऐसी आंधीके चलनेसे, खूब धूल आकाशमें उड जाती है और उसके साथ तृणादिक भी टूट फूटकर, उड जाते है। अथवा जलवृष्टि न होनेसे तृणादिक शुष्क होजाते हैं और तदनतर किसान लोग उसको निकालकर फेंक देते हैं और कठिन क्षेत्रको हलके द्वारा धान्य बोनेके योग्य बनाते हैं। तब उसमें उनको फललाभ होता है। अभिप्राय यह है कि, मिथ्यात्वका त्याग करके सम्यग्दर्शन और व्रतादिक धारण करनेसे न्नाता सत्पात्रको आहारदान देनेके लायक होजाता है ॥ २५ ॥

मत समस्त ऋषिभिर्यदाहत।
मभासुरात्पावनदानशासनम् ॥
॥ बुदे सतां पुण्यधन समर्जितु।
धनादि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥२६॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके सयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २६ ॥

द्रव्यलक्षण

प्रणम्य परमात्मानं चन्द्रप्रभजिनेश्वरं ।
पात्रभुक्त्युचिताशेषद्रव्यलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—परमात्मा श्रीचन्द्रप्रभस्वामीको नमस्कार कर पात्रोंके भोजनके योग्य सर्व द्रव्योंका लक्षण इस प्रकरणमें कहेंगे ऐसी आचार्यश्री प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

द्रव्यलक्षण

क्षुधातृषादोषरुजादयः शमं ।
प्रयांति येस्सत्परिणामहेतुभिः ॥
लसत्तपःस्वाध्यायध्यानादिवृद्धिकैः ।
द्रव्याणि तान्येव वदंति साधवः ॥

अर्थ—जिन आहारोंसे क्षुधा तृषादिक दोष एवं वातपित्तादि विकारोंका उपशमन होकर शुभ परिणाम उत्पन्न होता हो, जिनसे साधुओंका चित्त तप, स्वाध्याय, ध्यान आदिमें बढता हो उन्हींको सज्जन जन द्रव्य कहते हैं ॥ २ ॥

द्रव्यगुण

गोवत्सस्पृष्टमभिस्तिमितमनलदग्धं पलालं चरण्ड- ।
क्लिन्नं यज्जन्तुदग्धावटगतमिह निस्सारकं पूतिगन्धि ॥
त्यक्त्वा सप्तसस्योच्चयचितमपुं कोमलं शुद्धबीजं ।
शुद्धं त्यक्त्वाशमिथ कृषिक इव वपेत्क्षेत्रमध्ये सुवर्णं ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार किसान खेतमें बीज बोते समय इन बातोंका ख्याल रखता है कि बोनेका बीज गायका खाया न हो, पानीसे भीगा न हो, अग्निसे जला न हो, भूसा न हो, गीला हुआ न हो, कीडा लगा न हो, छेद से युक्त न हो, निस्सार न हो, दुर्गंधी न हो,

और उत्तम सस्य उत्पन्न होनेके लिए योग्य हो, कोमल हो, शुद्ध हो, धनसहित हो, नेत्रको सुंदर दिखता हो, एवं अच्छे वर्णसे युक्त हो। उसी प्रकार साधुओंके लिए देनेके आहारमें भी उपर्युक्त सभी बातोंका ख्याल रखें। उस प्रकार के योग्य द्रव्यको दानमें देनेवाला ही प्रशस्त माना है ॥ ३ ॥

अनुचितद्रव्य

सर्वद्रव्यमनाणकं त्वनुचितं वस्त्रादि भुक्तोज्झितं ।
तांबूलीदलपूगनालिफलगर्थांभ'प्रसूनादिकं ॥
सर्वं पर्युषितं त्वभक्ष्यघृतवा विलनं च पात्राय नो ।
दद्यात्सर्वमिदं सदा भवितरच्छुरपाय फलाभुजे ॥ ४ ॥

अर्थ—भोजनकालमें अनुचित समस्त द्रव्य, उपभोग कर छोडा गया वस्त्रादिक, तथा तांबूल, सुपारी, कच्चा नारियल, फल आदि बनाकर बहुत दिन होनेसे बिगडा हुआ द्रव्य, बहुत दिनका घृत आदि पात्रोंको आहारमें न देना चाहिए। जो पदार्थ उच्छिष्ट खानेवाला मनुष्यके लिए देनेयोग्य है उन पदार्थोंको पात्रदानमें देना कभी योग्य हो सकता है? नहीं ॥ ४ ॥

निषिद्धद्रव्य

विद्धं विवर्णं विरसं विगंधं— । मसात्म्यमक्लिन्नमपक्वमत्र ॥
स्विन्नं सरूक्षमतीव पक्वं । नेत्राप्रियं वस्तुनयं न दद्यात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो द्रव्य बींधा गया हो, वर्णविकृत हुआ हो, विरस हुआ हो, दुर्गंधसहित हो, शरीरप्रकृतिके लिये अनुकूल न हो, अयत रूक्ष हो, पका न हो, पसीजा हो, अत्यंत पका हो, आंखों को अच्छा नहीं दिखता हो, ऐसे पदार्थोंको पात्रदानमें नहीं देना चाहिये॥५॥

पर्युषित

दधिसर्पि पयोभक्ष्यमाय पर्युषितं मतं।
गंधवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विगर्हितं ॥ ६ ॥

अर्थ—गंध, वर्ण, और रससे भ्रष्ट दही, घी दूध व अन्य पकान्न पर्युषित कहलाते हैं। ऐसे अन्न द्रव्य भी निंदित हैं ॥ ६ ॥

ग्रामानीतं चापणक्रीतमन्न-
मन्यादिष्टं दैवयक्षादिसृष्टम् ॥
मिथ्यादृष्टिस्पृष्टमुच्छिष्टमेत-
माचार्याते योगिने नैव दद्यात् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो आहार दूसरे गामसे लाया हुआ हो, बाजार (होटल) से खरीदकर लाया हुआ हो, दूसरोंके (मिथ्यादृष्टि) उद्देश्यसे बनाया गया हो, गृहदेवता, यक्षदेवता भूतादिकोंको अर्पणके लिये बनाया गया हो, मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा छुआ हुआ हो, उच्छिष्ट हो, नाथोंके लिये बनाया गया हो, ऐसे आहारको योगियोंको कभी नहीं देना चाहिये ॥ ७ ॥

पुनरुष्णाकृतं सर्वं । सर्वं धान्यं विरूढकं ॥
दशरात्रोषितं कंसे न दद्यान्मुनये घृतम् ॥ ८ ॥

अर्थ—फिरसे गरम किया हुआ आहारद्रव्य, अंकुर आया हुआ सर्व धान्य, एवं कांसेके पात्रमें रखा हुआ दस दिनका घृत यह मुनियों को आहारदानमें देनेके लिये निषिद्ध है ॥ ८ ॥

कारण

एतदाहारभक्षणेव चेतोऽस्वास्थ्य ततो गदा ।
तपोभंगस्ततो दातुरन्तरायो महान्भवेत् ॥ ९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकारके सदोष आहारोंके भक्षणसे चित्तमें अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है। एवं अनेक रोगादिक उत्पन्न होते हैं। और तपश्चर्यामें विघ्न उपस्थित होता है, इतना ही नहीं, दाताको महान् अंतराय कर्मका बंध होता है ॥ ९ ॥

१ पुनरुष्णीकृतं सर्वं । क्षाराद्यारोदकादिकं ।
सम्मूर्छजननहेतु स्या- । द्विषयं जीवितापहं ॥

निषिद्धाहारदत्तफल

स्वश्वशुरादिमुक्तान्नशेषं दत्त वपामते ।

अपुत्रा स्यात्सपुत्रा चेत्ते स्युर्जीवन्मृता मृता ॥ १० ॥

अर्थ—मुनियोंको आहार देनके पहिले अपने पति, ससुर, बधु आदिको भोजन कराकर फिर बचा हुआ आहार जो स्त्री आहारदानमें देवें तो उस स्त्रीको अत्यधिक पाप लगता है जिससे वह अपुत्रा होती है। कदाचित् पहिले लड़के हुए हों तो वे जीवित मृत होते हैं अर्थात् पागल, मूख, बधिर, अंधे, दुष्ट होते हैं ॥ १० ॥

अव्रतिकदत्ताहारफल

अव्रतिकदत्तभुक्तिः सनतभग च पुण्यभग च ।

दास्या दत्ता कुर्यादाहार पुण्यस्य सत्वर्गम ॥ ११ ॥

अर्थ—दर्शनचारित्रसे रहित अव्रतीके द्वारा दिया हुआ आहार व्रतभग और पुण्यभगके लिये कारण है। एव दासीके द्वारा दिया हुआ आहार भी दाताके पुण्य व सत्ताका नाश करता है अर्थात् इससे पापसचय होता है ॥ ११ ॥

निषिद्धाहार

जीवेनांगेन कायेना— [illegible]

भवेद्वमया चेद्ना [illegible] ॥ १२ ॥

अर्थ—हिंसकप्राणियोंका [illegible] हुआ आहार, श्वा दिककी छायासे स्पृष्ट आहार [illegible] आहार, अशुचि अपवित्र दशामें दिया हुआ आहार [illegible] नीचकार्य कर आहार मुनियोंको दानमें [illegible] दाताके द्वारा [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

सारेऽध विपत्र [illegible]

दास्या दापायितु [illegible] मजायत ॥ [illegible]

अर्थ—दूध में गराड़, अन्नमें विष, सोनेमें तावा वगैरहके मिलाना जिसप्रकार दोषपूर्ण है, उसीप्रकार दासीके हाथसे दिलाया हुआ आहार दाताके लिये दोषकारक ही है ॥ १३ ॥

नीचभाण्डपक्वाहार

दत्तं संकल्प्य नीचानां येर्भाण्डैः पक्वमोदनम् ।
तैर्भाण्डैः पक्वमन्नं न देयं यतये बुधैः ॥ १४॥

अर्थ—जिन बरतनोंमें चाण्डाल आदि नीच जातियोंको संकल्प करके भोजन पकाया जाता है उनमें पकाया हुआ अन्न मुनियोंको बुद्धिमानोंद्वारा नहीं देना चाहिये अर्थात् नीचोंके लिये भोजन पकानेके बरतनमें मुनियोंके लिये आहार देने योग्य भोजन नहीं पकाना चाहिये ॥ १४ ॥

अव्रतिक पक्वाहार

अव्रतिकपक्वमन्नं यो दत्ते तस्य पुण्यधनहानिः स्यात् ।
सत्कृतशालिक्षेत्रे क्षुधाभिजननस्य बीजवपनं वा ॥१५॥

अर्थ—अव्रतीके द्वारा पकाया हुआ अन्न जो दान देता है उसके पुण्य व धनका नाश होता है। जिसप्रकार धानके खेतको संस्कार कर उसमें राई बोवे तो कोई उपयोग नहीं है ॥ १५ ॥

सव्रताव्रत मिश्रण

सव्रताव्रतयोर्मिश्रं गंधागंधविमिश्रवत् ।
नीचोत्तमविमिश्रं स्यात् तप्ताज्यजलमिश्रवत् ॥ १६॥

अर्थ—भोजनादिकमें अव्रती और व्रतियोंके मिश्र होनेपर सुगंध दुर्गंधके मिश्रके समान हो जाता है। नीच और उत्तम पुरुषोंका मिश्रण तप्त हुए घीमें पानीके मिश्रणके समान होता है ॥ १६ ॥

कुलीनर्नीचयोर्मित्रं भुक्त्यार्थं कुलनाशनम् ।
यथा स्याच्छ्वतिना शुक्तौ मत्वा दोषान्निरोधयेत् ॥१७॥

अर्थ—भोजनादिक-कार्यमें कुलीन और नीचोंका मिश्रण कुलनाशके लिये कारण होता है। इसप्रकार मुनियोंके आहारमें इन बातोंको दोष मानकर उनका परिहार करना चाहिये ॥ १७ ॥

> लोहाग्न्यो: कनकायसोर्विषसिताजंबालकस्तूरिका-।
> स्वर्भानुः सूर्यंतमोरसायनपयोमध्वाज्यमणोर्यथा ॥
> दुष्टः स्यात्खलसंगतोऽपि सुजन सत्संगता दुर्जना।
> यो द्वीपायनवच्च पार्श्वमुनिवद्दग्धो धनध्वंसन ॥ १८ ॥

अर्थ—लोहके साथ अग्नीका संसर्ग होनेपर अग्नीका कुछ नही बिगडता है, लोहेको ठोके पडते हैं, सोना और लोहका मिलानेपर लोहेका कुछ नहीं बिगडता है, सोना खराब होता है। विष और शक्करको मिलानेपर विषका कुछ नहीं होता है, शक्कर खराब होता है, कीचड और कस्तूरीको मिलानेपर कीचडका कुछ नहीं होता है कस्तूरी बिगड जाता है। सूर्यके साथ केतु, चंद्रके साथ राहुके ग्रहण होनेसे सूर्य चंद्र ही कांतिविहीन होते हैं, उन ग्रहोंका कुछ नहीं बिगडता है, रसायन और पानी के संसर्गमें रसायन बिगडता होता है पानीका कुछ नहीं होता, मधु और घीके संसर्गसे घी ही खराब होता है, मधुका कुछ नहीं होता। इसी प्रकार दुष्टोंके संसर्गसे सज्जनोंका धननाश होता है। दुष्टका कुछ नहीं बिगडता है। जिस प्रकार कि द्वीपायन और पार्श्वमुनिका संसर्ग धननाशके लिये कारण हुआ है ॥ १८ ॥

> यद्दासीहस्तपक्वान्न सती दत्ते न चापलं।
> शूद्रेण जातो ब्राह्मण्यां स्याच्चाण्डालो यथा स्मृत' ॥१९॥

अर्थ—दासीके हाथसे पका हुआ आहार यदि कुलस्त्री दान देवें तो वह योग्य नहीं है। जिस प्रकार ब्राह्मण स्त्रीमें शूद्रसे उत्पन्न संतान चाण्डालके समान है ॥ १९ ॥

गृहिणीहस्तपक्वान्नं दास्या दत्तं न दोषदं ।
धाव्या हि रक्षिते राजपुत्रे धात्रीसुता न च ॥ २० ॥

अर्थ—पत्नीके द्वारा पकाया हुआ आहार यदि दासी देवें तो वह उतना दोषकर नहीं है। जिसप्रकार कि धाईके द्वारा पाला गया राजपुत्र धाईका पुत्र नहीं है राजपुत्र ही है ॥ २० ॥

प्रशस्तदान

गृहभाण्डार्थयोगाङ्गसशुध्या दीयतेऽन्न यत् ।
तदेव दानं कल्याणं मंगलं भवनाशनम् ॥ २१ ॥

अर्थ—घर, बरतन, अन्नपानादिक, मन वचन काय संबंधी क्रिया, शरीरावयव इन सब बातोंकी शुद्धिसे जो दान दिया जाता है वही दान कल्याण करनेवाला है। मंगल है और संसारनाशके लिये कारण है ॥ २१ ॥

हितं मितं पक्वमवीक्षणप्रियं सुगंधि जिह्वाप्रियहृद्यमन्नम्।
अनंधकारे सुवितानरम्य-प्यधूमगेहे मुनये च दद्यात् ॥ २२ ॥

अर्थ—जीवजंतु आदि पतनका भय जहां न हो ऐसे सूर्यके प्रकाश युक्त, अंधकाररहित एवं धूमरहित प्रशस्त घरमें मुनियोंके शरीरको हित, मित, योग्य रीतिसे पका हुआ, देखनेमें भी अच्छा, सुगंध, स्वादिष्ट मनोहर आहार गृहस्थ मुनियोंको दानमें देवें। कुशल गृहस्थ स्वयं इन बातोंका ख्याल रखें ॥ २२ ॥

कृषीवलकृतक्रियाभिरभिवर्द्धते या कृतिः ।
स्वयैव सुकृतं प्रजागुरुरयाऽप सैनिकः ॥
मघापिकृतैर्गुणैर्नवविधोपचारैर्गुरोः ।
पृथक् सुकृतं प्रजागुरुरयोऽप सैनिकः ॥ २३ ॥

अर्थ—किसान जिसके उद्देशसे जिन २ क्रियाओंको करता

है उनसे कृषिकी वृद्धि होती है, उससे प्रजाओंके लिये उपयोग होता है। राजा उन धान्योंसे प्रजा व सैनिकोंका पालन करता है। इसी प्रकार धार्मिक सज्जन धर्मवृद्धिके लिये जिन नवविध उपचारों-सहित दानादिक क्रिया करते हैं उससे धर्मकी वृद्धि होती है। और उस धर्मसे गुरुजन, प्रजा, राजा, सैनिक आदि सबको सुख मिलता है ॥ २३ ॥

मत समस्तै ऋषिभिर्यदाहतै।
प्रभासुरात्मावनदानशासनम् ॥
मुद सर्वा पुण्यधन समर्जितु।
धनादि दद्यान्मुनय विचार्य तद् ॥२४॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २४ ॥

इति द्रव्यशोधनविधि

पात्रभेदाधिकार

श्रीमत्त्रिलोकभवनांतरसर्ववस्तु- ।
ग्राहिप्रबोधनिटिलाक्षिविराजमान ॥
ज्ञानैकगोचरमशेषमुनींद्रवंद्य- ।
मिंद्रार्चितांघ्रिमर्हतमहं नमामि ॥ १ ॥

अर्थ—तीन लोकरूपी मकानमें रखे हुए समस्त पदार्थोंको ग्रहण करने में समर्थ केवलज्ञानरूपी ललाटनेत्रको धारण करनेवाले, सम्यग्ज्ञान मात्र गोचर, सर्व गणधरादिकोंसे वंदनीय, देवेंद्रसे पूजित ऐसे अर्हत परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा

कर्महृद्धर्मकृत्पात्रं तस्य भेदानहं ब्रुवे ।
पात्रे देयं न चान्यत्र क्षेत्रे कृष्यपिपो यथा ॥ २ ॥

अर्थ—कर्मोंको नष्ट करनेमें उद्यत, धर्ममार्गमें प्रवृत्त व प्रवर्तक पात्रोंके भेद मैं इस प्रकरणमें कहूंगा, ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं। पात्रोंको ही दान देना चाहिये। अन्यत्र दान नहीं देना चाहिये। जिस प्रकार कि किसान निष्फल क्षेत्रमें बीज नहीं पेरा करता है ॥ २ ॥

धार्मिक लक्षण

रत्नत्रयात्मको धर्मस्तमाचरति धार्मिक ।
धर्माभिवृद्धये स्वस्य धार्मिके प्रीतिमाचरत् ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्म सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रयात्मक है। उनका आचरण करनेवाला धार्मिक कहलाता है। अपने धर्मकी वृद्धिकेलिये धार्मिकोंके प्रति प्रीति (आदर-भक्ति) बढाना धार्मिक मनुष्योंका कर्तव्य है ॥ ३ ॥

पात्रभेदकथादर्शे पात्रं पंचविधं मतम् ।
तद्यथेति कृते प्रश्न सूरिराह तदुत्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—पात्रों के भेदको जानने वाले महर्षियोंने पात्रोंको पांच प्रकारसे कहा है। वह कैसे? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होनेपर आचार्य उसका उत्तर देते हैं ॥ ४ ॥

पात्र भेद

सत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्य ।
मध्य व्रतेन रहित सुदृश जघन्य ॥
निर्दर्शन व्रतनिकाययुत कुपात्र
युग्मोज्झित नरमपात्रमिद तु विद्धि ॥ ५ ॥

अर्थ— महाव्रतधारी सकल सयमी मुनि उत्तम पात्र हैं, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। सम्यग्दर्शनरहित अपितु व्रतसहित वह कुपात्र है। सम्यग्दर्शन व व्रत इन दोनों से रहित अपात्र है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५ ॥

उत्तम पात्र

सगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः
शांता दांतास्तपोभूपास्ते पात्र दातुरुत्तम ॥ ६ ॥

अर्थ—परिग्रहोंसे रहित, परीषहोंको सहन करने में धीर, रागद्वेषादिविकाररहित, शांत, कषायोंको दमन करने वाले, तपसे विभूषित साधु वे उत्तम पात्र कहलाते हैं ॥ ६ ॥

नि सगिनोऽपि वृत्ताढ्या निस्नेहा सुगतिप्रिया ।
अभूपाश्च तपोभूपास्ते पात्र दातुरुत्तम ॥ ७ ॥

अर्थ—परिग्रह से रहित होनेपर भी चारित्रसे युक्त हैं, रागादियोंसे रहित होनेपर भी अच्छी गति (मोक्षगति) में प्रीति रखने वाले हैं, आभरणों से रहित होनेपर भी तपोभूषण से भूषित हैं, वे पात्र दाताके लिये उत्तम हैं ॥ ७ ॥

परीषहजये शक्ता शक्ता कर्मपरिक्षये ।
ज्ञानध्यानतपश्शक्तास्ते पात्र दातुरुत्तम ॥ ८ ॥

तयोर्मि'या योगिनश्चैकवासे
न स्यातव्य वाचनीय सदा न ॥ २० ॥

अर्थ—साधुयोंका उचित है कि य स्त्रियोंकी शय्यामें कभी सोन नहीं और उसे स्पर्श भी न करें । घोडाके साथ घोडेको बाधे तो उस घोडेको कामोद्दीपन होता है उसी प्रकार एकांतमें (एक जगह) अर्जिकाके साथ मुनि कभी न रहे न कोई पठन पाठन करें ॥ २० ॥

आर्यिकाके साथ मुनियोंका निवास निषेध

सहार्यिकाभिर्मुनिभिः स्वाध्यायोऽथ जपस्तव ।
न कर्तव्योऽत्र कर्तव्ये व्रतभगो भवेत्तदा ॥ २१ ॥

अर्थ—आर्यिकाओंके साथ मुनिगण स्वाध्याय, स्तोत्र, जप वगैरह कुछ भी नहीं करें । यदि इसकी परवाह न कर जो कोई करेंगे उन दोनोंका व्रतभग होता है ॥ २१ ॥

एकाकी विहारसे हानि

जारास्त्रीश्चुरिणा बलाद्धनवतो भूमिं ससस्यां मृगा ।
गावारीञ्जनपा शशाश्च शुनका व्याघ्रा मृगान्दर्दुरान् ॥
सर्पा गाश्च तरक्षवो भुवि यथा क्रामति बालान्मुनी-
नप्येकान्मदनादयो विहरत दोषादिदोषा इमे ॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें यह देखा जाता है। एकाकी विहरण करनेवाली पतिव्रताको जारलोग अपहरण करते हैं, धनवानोंके धनको बलात्कारसे चोर चुराते हैं, दुष्टमृग गायोंको खा डालते हैं, सस्य सहित भूमिको राजा ले लेता है । शत्रुओंको कुत्ता काटता है, शशोंको शिकारी मारता है । मृगोंको व्याघ्र खा डालता है, मेंडकोंको सर्प निगलता है, इस प्रकार स्वतन्त्र आक्रमण देखा जाता है । उसी प्रकार

अनुभवशून्य बालमुनि या अर्जिका एकाकी होकर विहरण करें तो काम क्रोधादिक विकार उनका चारों तरफसे आक्रमण करते हैं ॥२२॥

अभिमाननिषेध

राजानुग्रहतो भृत्यो जनान्पीड्य नश्यति ।
यथा जडात्मा शिष्योऽपि गुरोरनुग्रहमात्रत ॥२३॥

अर्थ—राजाके अनुग्रहको प्राप्त करनेवाला सेवक अभिमानी होकर लोगोंको पीडा देनेसे जिस प्रकार अपना नाश करता है, उसी प्रकार अज्ञानी शिष्य गुरुके अनुग्रहसे मदोन्मत्त होकर अपने आत्माका पतन कर लेता है ॥ २३ ॥

दीक्षोद्देश्य

दीक्षां गृह्णन्ति मनुजा स्वकर्मसंहरणाय च ।
स्वपुण्यवृद्धये केचित् कश्चित्संसृतिमुक्तये ॥२४॥

अर्थ—संसारमें कोई मनुष्य अपने कर्मोंको नाश करनेके लिए दीक्षा लेते हैं । कोई अपने पुण्यकी वृद्धिके लिए दीक्षा लेते हैं । कोई संसारसे छूटनेके लिए दीक्षा लेते हैं ॥ २४ ॥

विश्वजीवानुकंपावान धर्मप्रभावकारक ।
यथा श्रीगौतमस्वामी केचिदात्मविशुद्धये ॥२५॥

अर्थ—संसारके समस्त जीवोंके प्रति अनुकंपा रखनेवाले, धर्मकी प्रभावना करनेवाले श्रीगौतमस्वामीने जिस प्रकार आत्मशुद्धिके लिए दीक्षा ली है वैसे भी कोई २ दीक्षा लेते हैं ॥ २५ ॥

कश्चित्स्वकुलनाशाय दुष्कर्मोपार्जनाय वा ।
यदुवर्गविनाशाय द्वीपायनमुनिर्यथा ॥२६॥

अर्थ—कोई २ द्वीपायन मुनिके समान अपने कुलके नाशके लिए,

पापोंके उपार्जनके लिए एवं बंधुवर्गोंका संहार करनेके लिए दीक्षा लेते हैं ॥ २६ ॥

> कश्चिदात्मविनाशाय निजधर्मैकहानये ।
> दुष्टमिथ्याग्रहग्रस्त: पार्श्वनामामुनिर्यथा ॥२७॥

अर्थ—कोई २ पार्श्वमुनि के समान अपने नाशके लिये, अपने धर्मके नाशकेलिये, दुष्ट मिथ्यात्वरूपी भूतके वशीभूत होकर दीक्षा लेता है ॥ २७ ॥

> कश्चिदुच्चासनासक्त: कषायाकुलमानस ।
> काष्ठांगार इवाभाति प्रध्वस्तनिजसत्प्रभ ॥२८॥

अर्थ—कोई २ काष्ठांगारके समान उच्च आसनों (पद) के लोलुपी होकर, कषायकलुषित चित्तसे, अपने स्वामीके नाश करनेकी भावनासे दीक्षा लेता है ॥ २८ ॥

> देहक्लेशसहा केचित्परोत्कर्षासहिष्णव. ।
> नाशयन्ति जनान्धर्मं भूपा भूत्वाग्रजन्मनि ॥२९॥

अर्थ—कोई २ देहके क्लेशको सहन करनेवाले हैं और कोई दूसरोंके उत्कर्षको सहन करनेवाले नहीं हैं। वे आगेके जन्ममें राजा होकर प्रजा व धर्मको नाश करते हैं ॥ २० ॥

> तपांसि धृत्वा कायेन हृद्वाग्भ्यां घ्नन्ति तानि च ।
> क्षेत्रस्थानपन्त शाल्यानि मुक्त्वा श्यामार्जुनानि च ॥३०॥

अर्थ—कोई २ कायसे तप धारण कर वचन और मनसे उसका नाश करते हैं। वे उसीके समान मूर्ख हैं जो खेतमें व्यर्थके घासोंको काटना छोडकर सस्योंको ही काटकर नाश करता है ॥ ३० ॥

> अन्योन्यमत्सरा केचिन्मुनयो मुनिदूषका ॥
> स्वामिदत्तार्थे सुजाना इव स्वस्वामिदूषका: ॥ ३१ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि एक दूसरेके प्रति मत्सरयुक्त होकर परस्पर एक दूसरेकी निंदा किया करते हैं जिस प्रकार कि स्वामीके दिये हुए धनको खाते हुए भी नीच सेवक अपने स्वामीकी निंदा करते हैं ॥३१

केचिद्विरागिणो भूत्वा बिंबानीवातिरागिणः ।
कुलालामत्रनिक्षिप्तशिखिवत्कामविह्वलाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि विरागी होते (कहलाते) हुए भी बिंब फलके समान अत्यंत रागी होते हैं। कुंभकारके मटकोंको पक्व करनेवाली अग्निके समान कामपीडित रहते हैं ॥ ३२ ॥

लब्ध्वा राज्यमवंतीव भूपा बंधून्बलानि च ।
धृत्वा दीक्षां धनं लब्ध्वा केचिद्बान्धवपोषकाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा राज्यप्राप्ति करके अपने बंधुगण और सेनाका रक्षण करते हैं। उसी प्रकार कोई मुनि दीक्षा धारण कर धन कमाते हैं और बांधवोंका पोषण करते हैं ॥ ३३ ॥

स्वामिद्रोहान्निज देशं मुक्त्वारिविषयं गताः ।
स्वामिद्रोहपरा केचिदशक्ता निरयं गताः ॥३४॥

अर्थ—स्वामिद्रोहके कारण जो अपने देशको छोडकर शत्रु राज्यमें जाते तो वहां पीडित होते हैं, इसी प्रकार कितने ही अपने स्वामी व गुरूकी निंदा करनेसे नरक गये हैं ॥ ३४ ॥

निन्दन्ति निंदयन्त्येव सद्गोत्रान्साधुपुंगवान् ।
जिनरूपधराः केचित् वायुभूत्यादयो यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—कोई २ वायुभूति आदि मुनियोंके समान मुनि होते हुए भी उत्तम कुलगोत्रमें उत्पन्न साधुओंकी स्वयं निंदा करते हैं और दूसरोंसे निंदा कराते हैं ॥ ३५ ॥

मायया केचिदेवात्र देहसंस्कारकारकाः ।
आत्मघातकदुर्भावा वैदिकब्राह्मणा इव ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई २ मुनि वैदिक ब्राह्मणोंके समान मायाचारसे देह-संस्कारोंको करते हैं और आत्मघात करनेवाले दुर्विचारोंको सदा मनमें लाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

व्यवहृत्यान्यदेशेषु नष्ट्वा स्वैरार्जितं धनं ।
ये नरास्ते यथा केचित्स्वकायक्लेशतत्पराः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य परदेश में व्यापार कर कमाये हुए धनको खोकर आता है, उसी प्रकार कोई २ मुनि व्यर्थ कायक्लेश कर जन्म खोते हैं ॥ ३७ ॥

केचिदूषरतिक्षेत्रे नित्यार्चितकृषिक्रिया ।
अलब्धधान्या वर्तंते यथास्युर्निष्फलक्रिया ॥ ३८ ॥

अर्थ—कोई २ मूर्ख किसान जो कि सदा ऊसर भूमिमें ही कृषि करता रहता है परन्तु धान्यको पाता नहीं है । उसी प्रकार कोई २ मुनि अयथार्थ क्रियाओंको करनेसे यथार्थ फलको पाते नहीं ॥३८॥

सर्वारंभपरिभ्रष्टाः केचित्स्वोदरपूर्तये ।
केचित्स्वर्गसुखायैव केचिदैहिकभूतये ॥ ३९ ॥

अर्थ—समस्त आरंभोंसे भ्रष्ट होकर कोई २ मुनि अपने उदर पोषण के लिये दीक्षा लेते हैं । कोई स्वर्गसुखकी प्राप्तिके लिये और कोई ऐहिक संपत्तिकी प्राप्तिके लिये दीक्षा लेते हैं ॥ ३९ ॥

दत्तं स स्याद्यथा दीक्षां यो मुनिर्बहिरात्मने ।
काष्टांगारस्थापितश्रीर्जीवंधरपिता यथा ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मुनि एम बहिरात्माओंको बिना विचार किये ही दीक्षा दे देते हैं, वह उसी प्रकार की दाता है जैसे काष्टांगारको सत्यंधर राजाने राज्यश्री देदी ॥ ४० ॥

दीक्षा के लिए अयोग्य पुरुष

लोभिक्रोधिविरोधिनिर्दयशपन् मायाविनां मानिनां ।
केवल्यागमधर्मसंघाविबुधावर्णानुवादात्मनाम् ॥
मुक्तामो वदतां स्वधर्ममलं सद्धर्मविध्वंसिनां ।
चित्तक्लेशकृतां सतां च गुरुभिर्देया न दीक्षा क्वचित् ॥४१

अर्थ—जो लोभी हो, क्रोधी हो, धर्मविरोधी हो, निर्दयतासे दूसरोंका गाली देता हो, मायावी व मानी हो, केवली, आगम, धर्म, संघ और देव इनपर मिथ्या दोषारोपण करता हो, " मौका आनेपर मैं निर्मल धर्म छोड दूंगा " ऐसा कहता हो, सद्धर्मका नाशक हो, सज्जनोंके चित्तमें क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो उसे गुरुजन दीक्षा कभी नहीं दवें ॥ ४१ ॥

स्त्रीणां भक्तिर्न च निजपतौ सेवकानां च देव ।
भक्तानां सा न च गुरुजने सा न शिष्याधिकानां ॥
तास्ते ते वा विमलमुकुताच्छिन्नराचस्यधारा (?) ।
यांतीवायोंध्रुवमिह सदा दुर्गतिं तद्गमेषु ॥४२॥

अर्थ—लोकमें जिन स्त्रियोंकी भक्ति अपने पतिपर, सेवकोंकी भक्ति स्वामीपर, भक्तोंकी देवोंपर, शिष्योंकी गुरुजनोंमें यदि नहीं रहती है तो उनका जन्म व्यर्थ है। उनका पुण्यनाश होता है एवं वे नरकादि दुर्गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ४२ ॥

सक्रियं कंबलं नष्टं नष्टं वासोऽक्रियं यथा ।
सक्रियं पापवान् नष्टः पुमानप्यक्रियस्तथा ॥४३॥

अर्थ—हमेशा ओढना वगैरह कार्यमें लाया गया कंबल नष्ट होता है। तथा उपयोगमें नहीं लाया गया कपडा नष्ट होता है। उसी तरह सक्रिय आचरण करनेवाला अर्थात् पापक्रिया करनेवाला पुरुष नष्ट

होता है। तथा क्रिया नहीं करनेवाला अर्थात् पुण्यप्राप्ति नहीं करनेवाला अलसी आदमी भी नष्ट होता है अर्थात् संसारमें भ्रमण करता है।

> देह जिनगृहे गेह पत्तने गगने भुवि ।
> उद्भवति यथोत्पाता धर्ममार्गे तथा जडाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—देह, जिनमंदिर, घर, नगर, आकाश व भूमिमें जिस प्रकार उत्पात–अशुभ चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्ममार्गमें अज्ञानियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ४४ ॥

> तपोभङ्ग कुर्वते सर्वं यद्येसद्बहिरात्मभिः ।
> मिथ्यर्धिधर्मनाशाभ्यां मधुपिंगलपार्श्ववत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—बहिरात्मा मधुपिंगल, पार्श्वमुनिके समान मिथ्याऋद्धिको प्राप्त कर धर्मनाश करनेवाले एवं अपने सब तपको भंग करनेवाले बहिरात्मा मुनि भी होते हैं ॥ ४५ ॥

> पुण्यं पुण्यवतां वृष्टिर्वर्षत्यतिपापिनः ।
> सा न स्पृशति दृष्टिः स्याद्धानिर्न सदृशी तथा ॥ ४६ ॥

अर्थ—पुण्यवानोंको ही पुण्यकी वृष्टि होती है। अतिपापियोंको वह पुण्य वृष्टि स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी उन पापियोंको स्पर्श नहीं करता ॥ ४६ ॥

> सितार्जुनादीनि च शालिसस्यै
> मद्वृद्धिमायांति यथा तथैव ।
> कृतानि सर्वाणि तपांसि मर्त्यै–
> रभगवृत्तीनि भवत्यभव्ये ॥ ४७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार खेतमें सस्योंके साथ अनेक घास भी पैदा होकर बढते हैं उसी प्रकार मनुष्योंके द्वारा अभगवृत्तिसे किये जानेवाले तप अभव्योंके लिए भी वृद्धिके लिए होते हैं ॥ ४७ ॥

षट्टीः स्त्रियोऽपि गृह्णन्ति भूपालतनया यथा
सुखानुभवनासक्ता अज्ञातोमयलक्षणा ॥ ४८ ॥

अर्थ —सुखानुभवमें तल्लीन होनेवाले राजपुत्र मातृकुल तथा पितृकुल की शुद्धि रहित ऐसी भी स्त्रिया उपभोगनेके लिये अ त पुरमें रखते हैं। उसी तरह कितनेक पुरुष जिनदीक्षा हितकर है, और पारिमार्थिक दीक्षा अहित कर ऐसा विचार न कर मानिसुखकी आशा से कोई भी दीक्षा धारण करते हैं। यह उनका अविवेक योग्य नहीं है ॥ ४८ ॥

यथोदानोऽनिल क्रुद्धो भोज्यद्रव्याणि यस्तथा ।
उद्गारयति दुष्कर्म पुण्यकर्म निवारयेत् ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि उदान वात कुपित हो जाय तो भोजन द्रव्यको वमन कराता है उसी प्रकार पापकर्म पुण्यकर्मके फलको भोगने नहीं देता है ॥ ४९ ॥

कृतपुण्योदयात्पूर्वं दोषा प्रादुर्भवन्त्यर ।
उप्तबीजोदयात्सर्वा उद्भवन्त्यखिला फला ॥ ५० ॥

अर्थ—पुण्यके फलके उदय आनेके पहिले अनेक दोष प्रकट होते हैं। जैसे कि बोये हुए बीज उगनेके पहिले अ य तृण सस्यादि उत्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

मदाग्नेर्गुरुभोजनेन विगलत्तेजा अनल्पागसा ।
स्वल्पायुर्विषभोजनाद्धतधना नष्टाधिकाराश्रया ॥
निर्भाग्या नृपसेवया धृतधना स्वस्वाम्युदासीनत ।
क्रुद्धाया गुरुदीक्षयैव यतिविद्याश्च गता दुर्गतिं ॥ ५१ ॥

अर्थ—मदाग्निको धारण करनेवाले कितने ही लोग गरिष्ट भोजन करके कान्तिरहित होते हैं। महत्पाप करनेसे स्वल्पायु होते हैं। असमयमरणमें विषके भोजन करनेसे नष्ट होते

हैं। दरिद्री लोग नष्ट दशाधिपसे, भाग्यहीन लोग राजाकी सभासे आज्ञानिष्ठ लोग अपने स्वामीकी उदासीनतासे, नष्ट होगये औ दुर्गतिको गये। उसी प्रकार पार्श्वमुनिके समान कितने ही पाप पाटित दिगंबर साधु अनेक बार भी दुर्गतिको गये। अर्थात् भाग्य हीन व पापी पुरुषोंको अन्य आश्रय भी नाशके लिये भी हु करता है ॥ ५१ ॥

विभावसयुतैर्मिथ्यादर्शनादिमुनीश्वरैः ।
बभूवुर्धार्मिकैः धर्महानि स्यादविचारकैः ॥ ५२ ॥

अर्थ— मिथ्याज्ञानादि विभावोंसे युक्त धार्मिक कहलानेवाले अविचारी मुनियोंसे कितने ही बार धर्मका हानि हुई व होगी ॥५२॥

वैद्यान्विद्विषतां रुजामधिकता न स्याद्गुणो भेषजे ।
स्वस्वामिद्विषतो न जीवितमघाधिक्यं च साधुद्विषाम् ॥
स्वानीकद्विषतो न धावति रमा राज्यं च यत्पाद्विषां ।
छायास्तेर्न जलं विना फलति नो भक्तिं विना नो गुणः ५३

अर्थ—जो वैद्योंके साथ द्वेष रखते हैं ऐसे रोगी पुरुषोंके रोग बढते ही। चाहे जितने औषध लेनेपर भी गुण नहीं होगा। अर्थात् उनके रोग नष्ट नहीं होंगे। जो अपने मालिक के साथ द्वेष रखते हैं वे मूर्ख लोग अपनी उपजीविकाका नाश करते हैं। उसी तरह जो दुष्ट लोग साधुओंका द्वेष करते हैं उनको तीव्र पातकोंका नियम से बंध होता है। जो अपने सैन्यसे द्वेष करते हैं ऐसे राजाओंका लक्ष्मी और राज्य नष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि जो जिस हितकर वस्तुका द्वेष करता है उससे उसका फायदा नहीं होगा हानि ही होगी। जलके बिना वृक्ष न बढेगा न फल देगा। उसी प्रकार यदि हम साधुके गुणोंमें भक्ति न करेंगे तो हमारा कल्याण नहीं होगा ऐसा समझकर उनकी उपासना हमेशा करनी चाहिये। ऐसा इस श्लोकका अभिप्राय है ॥५३॥

भाज भोज यप्युपालम्भुकामा।
दाय दाय दानिन सानुतापा॥
तद्दोषै स्याद्दानपुण्यादिनाशो।
जिह्वालौल्य स्वान्यलाभ निहंति॥५४॥

अर्थ—जो साधु भोजन करते २ भावकको निंदा करते हैं तथा दाता उसकी पूर्ति करते २ संतप्त होता है तो इन दोषोंसे दान पुण्यका नाश होता है। वह साधु भी जिह्वालोलुपतासे अपने अन्य लाभोंको खो देता है॥५४॥

सत्कर्पूराळवालप्रसृतमृगमदासिक्तहेमापुपूर।
सनोम्राशेपर्कंदद्रुमतृणलतिका प्राग्गुणान्न त्यजंति॥
दुर्भावैर्दुष्कषायैः कृतनुतिजपसत्स्पवनतपोष्वृद्दयो या।
दुर्भावान्दुष्कषाया प्रकटतरवलान्वर्धयन्ति स्फुट ता॥५५

अर्थ—यदि खेतको कपूरका वाफ बनावें और कस्तूरिका व गुलाब-जलसे उसे छिडके तो भी उसमें उत्पन्न होनेवाले कंद, सर्व वे लतायें अपने पूर्व गुणोंको कभी नहीं छोड सकते। उसी प्रकार अच्छे साधुवोंके संसर्गमें रहनेपर भी जो दुर्भाव व दुष्कषायसे जप, स्तोत्र, ध्यान आदि करते हैं उनके वे भाव कभी छूट नहीं सकते अपितु दुर्भाव व कषायोंको बढाते ही हैं॥५५॥

मातुश्वश्र्वस्तवध्व प्रविमलचरिता स्तूयमानास्सतीभि।
स्वाचार्याभ्यस्तशिष्या प्रविमलचरिता स्तूयमाना मुनींद्रैः॥
स्युः पितृभ्यस्तपुत्राः प्रकटितमतयो धीरवीरा रमेशा।
स्वस्वाम्यभ्यस्तभृत्या प्रकटितमतयो धीरवीरा रमेशा॥५६॥

अर्थ—सासूके उपदेशको ठीक २ मनन करनेवाली सती निर्मल चारित्रवाली होती है। उसे दूसरे पतिव्रता स्त्रियां प्रशंसा करती हैं।

मात्रंभकांकुरा पश्चात् तत्र स्युर्बहवोऽङ्कुरा ।
तथैका रुचिराद्या सा जानीयाद्बहुधापरा ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार केलेका अङ्कुर पहिले एक रहनेपर भी उससे बादमें अनेक वृक्ष होते हैं, उसी प्रकार पहिले गुरूपदेश आदि निमित्तसे श्रद्धान होता है तदनंतर चारित्रादिक होते हैं ॥ ६३ ॥

रंभाकंदो जलाभावात् स्वयमेव विनश्यति ।
यथा तथैव केषां दृक् क्रोधादेव स्वयं क्षयेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्मीमें जलके अभाव होनेसे केलेका कंद अपने आप नष्ट होता है, इसी प्रकार क्रोधादिक कषायरूपी उष्णतामें किसी २ का सम्यग्दर्शन अपने आप नष्ट होता है ॥६४॥

मूलरंभादलच्छेदादग्रोद्भवफलक्षयः
व्यवहारदृगनस्य नाशे फलहतिस्तथा ॥ ६५ ॥

अर्थ—केलेके वृक्षके मूल पत्तेको काटनेसे आगे उत्पन्न होनेवाले फलका नाश होता है, उसी प्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शनके नाश होनेसे पारमार्थिक सम्यग्दर्शनरूपी फल नहीं मिल सकता है ॥ ६५ ॥

पुनरुत्पन्नतत्पत्रच्छेदात्फलहतिर्न वा ।
परमार्थदृगनस्य हानिर्न फलहानये ॥ ६६ ॥

अर्थ—उसके पुनः उत्पन्न पत्तोंको काटनेसे जिस प्रकार फलके लिए कोई हानि नहीं है, उसी प्रकार परमार्थ सम्यग्दर्शनकी न कोई हानि होती है और न उसके फलकी हानि होती है ॥ ६६ ॥

अधोमुखान्येव फलानि जातौ
तस्याः पुनश्चोर्ध्वमुखानि च स्युः ।
यथा सुदृक्पूर्वमयानुपाया- (?)
न्यधोपकर्माणि निहंति पश्चात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—जे केलेके फल उत्पन्न होनेके समयमें अधोमुखी होते हैं व बादमें ऊर्ध्वमुखी होते हैं उसी प्रकार कोई २ सम्यग्दृष्टियोंको पुण्य कमानेका कोई साधन नहीं रहनेपर भी बादमें वह अष्टकर्मोंको नाश करते हैं ॥ ६७ ॥

स्वयं फलानि पक्वानि तस्याः परिणतौ यथा ।
तथा च गौतमस्वामी भवेत्काश्चित्सुदृक्पुमान् ॥ ६८ ॥

अर्थ—समय आनेपर केलेके फल जिस प्रकार अपने आप पकते हैं उसी प्रकार कोई २ समय आनेपर गौतमस्वामीके समान सम्यग्दृष्टि बनते हैं ॥ ६८ ॥

रंभाफलगुलुच्छेऽस्मिन्नल्पान्यूर्ध्वमुखानि च ।
बहून्यधः पतन्तीव केचिज्जीवा व्रजन्त्यधः ॥ ६९ ॥

अर्थ—केलेके गुच्छमें जिस प्रकार कुछ केले तो ऊर्ध्वमुख और बहुतसे अधोमुखवाले होते हैं, इसी प्रकार बहुत संख्यामें सुदृष्टि सम्यग्दर्शनसे च्युत होते हैं ॥ ६९ ॥

पाटल्यद्रिपु यत्र यत्र बहवो भंगा भवन्त्यंकुराः ।
जायंते यदि तत्र तत्र बहवस्ते स्युर्महापादपाः ॥
कर्षा दृष्टच यथा तथैव बहुधा विघ्नान्विता चेत्तदा ।
सा दृक् नित्यसुखं ददात्यलमसंख्यातात्मिका स्याद्ध्रुवं ॥७०॥

अर्थ—जिस प्रकार पाटलीवृक्षमें किसी कारणसे भंग हो जाय, जहां २ भंग है वहां अंकुरोत्पादन होकर बहुतसे वृक्ष उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार किसी २ सम्यग्दृष्टिको यदि उनके भावोंको बिगाडनेवाले अनेक विघ्न उपस्थित हो जाय तो वह सम्यग्दर्शन उसके भावोंके भेदसे असंख्यात प्रकारसे विभक्त होता है ॥ ७० ॥

सर्वांगम्यशिलोच्चयोत्थतरवः सद्बुद्धिभाजा यथा ॥
निर्भेदा बहुनिर्झराईवरणा शुद्धाशया निर्मदा ॥

मप्रीवाशुचिराश्रिवाडव इव श्रीदग्गिरेर्वज्रवत् ।
वृत्तध्यानदवाग्निवल्लसति दुष्कर्माटवीमेघवत् ॥७६॥

अर्थ—जिस प्रकार अश्वत्थका लकडामें आग जल्दी लग जाती है इसी प्रकार क्रोध भी जल्दी कुपित होजाता है। वायु जिस प्रकार पित्तको नष्ट करता है उसी प्रकार क्रोध पुण्यको नष्ट करता है। नित्य धूआं उत्पन्न करनेवाले अग्निके समान सदा पापको उत्पन्न करता है। मिथ्यात्व भूतके द्वारा आक्रष्ट मनके समान मिथ्या यशको उत्पन्न करता है, समुद्रके बीचमें रहनेवाला बडवाग्निके समान है, दर्शनरूपी पर्वतको तोडनेके लिए वज्रके समान है। चारित्र व ध्यानको जलानेके लिए दवाग्निके समान है। दुष्कर्मरूपी जगलकी वृद्धिके लिए बरसात के समान है ॥ ७६ ॥

चित्रं क्रोधहुताशनो ननु स्य निश्शेषलोकाश्रया-।
नाविश्याखिलचित्तो जवादथ भवत्येकोऽप्यनेकात्मकः ॥
पीत्वा धर्मघृतं जिनार्जितमिदं पुष्णाति दृप्तः सतां।
चेतः क्लेशकरस्ततोऽभवदयं लोकेऽप्यपुण्यश्रिय ॥७७॥

अर्थ—यह आश्चर्यका बात है कि यह क्रोधरूपी अग्निकण संपूर्ण लोकमें प्राणियोंके मनमें प्रविष्ट होकर यह एक होनेपर भी अनेक विकाररूप होजाता है। तथा धर्मात्माओंके द्वारा कमाये हुए पुण्य घृतको पाकर और ज्यादा प्रज्वलित होता है और उन सज्जनोंके चित्तमें संक्लेश बढाता है। ऐसा जब संक्लेश बढता है तो लोकमें भी अन्याय, पाप आदि पापक्रियायें बढती हैं ॥ ७७ ॥

क्रुध्याम्र क्षुधितं यदातिकुपितं संस्थाप्य कुर्वीत य ।
ज्ञानक्षांतितपोजपानजुदिनं तस्यैव संपूर्तये ॥
सोऽयमश्च तप क्षुधामवदहो ज्ञानं स्तवोऽप्यामिषम्
तेषां नाग्रसमन्वितोचितपः क्लेशाय पापाय च ॥७८॥

अर्थ— क्रोधरूपी व्याघ्र जब क्षुभित व अत्यन्त क्षुभित होजाता है तब उस व्याघ्रके काममें मुनियोंका कमाया हुआ ज्ञान, क्षमा, तप, जप आदि आजाते हैं। क्रोधी मुनि इन बातोंकी कमाई उस व्याघ्रकी पुष्टिके लिये ही करते हैं। क्षमा पाना है। तप उसके लिये भूख है। ध्यान व स्तुति यह मान है। विशेष क्या? क्रोधी मुनियोंका तप क्लेश व पापकेलिये होता है ॥ ७८ ॥

> क्रोधोद्वेऽप्यपि कंपनं हृदि दृशा राग मनोविभ्रमं।
> सत्पुण्यापलसर्वनीतिपदवीनिष्णातबुद्धिक्षयं ॥
> तृष्णावृद्धिमधैर्यतामपघने पित्तज्वरात्युष्णतां।
> निंदामिंद्रियतापमेष न च भो धत्तो विपत्तिं सदा ॥७९॥

अर्थ–क्रोध शरीरमें व हृदयमें कंप उत्पन्न करता है, आंखोंको लाल करता है, मनमें विभ्रम होता है। शुभ पुण्यको कमानेमें व सर्वनीति मार्ग व अधिकारमें कुशल व्यक्तिकी बुद्धिको भी क्षीण करता है। लोभकी वृद्धि करता है। अधैर्यको बढाता है। जिस प्रकार कि गर्मियोंके दिनमें पित्तज्वर अत्यंत दाह उत्पन्न करता है। लोकमें क्रोधकी निंदा होती है। इंद्रियोंके विषयमें संताप रहता है। अनेक प्रकारकी विपत्ति को उत्पन्न करता है। इसलिए बुद्धिमानोंको यह क्रोध सदा वर्ज्य है ॥ ७९ ॥

> दृष्ट्वैकालयसंभवं हुतवहं मूढा हरंति क्षणात्।
> प्रज्ञा दुष्कृतभीरवोऽपि सहसा ग्रामं दहंति स्फुटं ॥
> दोषं कालभवं सुदुर्धरमिमं क्षंतु समर्थाश्च ये।
> सर्वे कालजदोषजालपतिता कुर्वंति किं मंगलं ॥८०॥

अर्थ—कोई अज्ञानी किसी घरमें अग्निको देखकर उसे अपहरण करते है, तो बुद्धिमान् पापभीरु होनेपर भी सहसा बदला लेनेके लिए उस ग्रामको ही जला डालते हैं। यह अत्यंत कठिन कालदोष है।

इसमें अवश्य क्षमा करनेवालोंका मिलना बहुत कठिन है। सबके सब जो कालदोषके जालमें फंसे हुए हैं उनका मगर कैसे [illegible] सकता है या वे क्या शुभ कर सकते हैं ?"॥ ८० ॥

क्रोधः स्वर्गगतिं हंति कुरुते नारकीं गतिं ।
सुदृग्वधुविभूत्यायुरभिमानादिकं क्षयेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—क्रोधकषाय मनुष्य को स्वर्ग नहीं जाने देता है, नरक गतिका बंध सरलतया करता है। वह सम्यग्दर्शन, बधु, ऐश्वर्य, आयु, अभिमान आदिका सर्व नाश करता है ॥ ८१ ॥

स्त्रीविलक्षणमाह

भूकांतप्रियधीरवीरनृपते धर्मार्जितश्रीपते ।
सम्यग्धर्मगुणच्युतं सपयति प्राणाश्च चित्रं शरः ॥
स्त्रीपुण्याप्यहमेव भीरुरवला धीरा दयालुश्च मे ।
सम्यग्धर्मगुणान्वितोक्षिकटाक्षस्त्वामेव चाकर्षति ॥८२॥

अर्थ—उत्तम धनुष्यकी डोरीसे छूटा हुआ बाण प्राणोंको नष्ट करता है इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, वैसे उत्तम क्षमादिधर्म और निःशंकादि गुणोंसे रहित ऐसा स्त्रीका रागद्वेष उत्पन्न करनेवाला कटाक्ष प्राणोंको हरता है। हे पृथ्वीपति, प्रिय धीर वीर राजन्! तुम अपने मनमें निश्चित समझो। वेश्या और व्यभिचारिणी स्त्रियोंके कटाक्ष पुरुषको धर्म और गुणोंसे भ्रष्ट करके प्राणरहित करते हैं। परंतु जो स्त्री धीर दयालु, अपनी भीरु और पवित्र विचारवाली है उसके नेत्र कटाक्ष उत्तम धर्म और गुणोंसे युक्त होनेसे धर्माचरणसे संपत्तिको प्राप्त करनेवाले हे राजन्! तुमको वे आकर्षण करते हैं। अर्थात् हे राजन्! पवित्र सती आर्यिका वगैरह व्रतिक स्त्रियां प्रसन्न नेत्रोंसे आपको देखती हैं। उनके नेत्रोंमें कामविकार तिलमात्र भी रहता नहीं

है। और ऐसे पवित्र नेत्रोंसे देखनेपर हे राजन् ! तुम्हारा हित ही होता है ॥ ८२ ॥

> षट्त्रिंशद्गुणवत्प्रफुल्लवदनाभाजक्षणाद्योपिता ।
> पङ्केजोपमसप्तविंशतिगुणोरोजद्वयप्रेक्षणात् ॥
> कामास्त्रोऽप्यमयोगिचित्तलयकृत्तौख्यमदर्शनात् ।
> पूर्वोपार्जितपुण्यसंततिरहो निर्मूलमुन्मूलित ॥ ८३ ॥

अर्थ—छत्तीस गुणोंसे युक्त ऐसे प्रसन्न मुखकमलवाली स्त्रीको क्षणमें देखनेसे, सत्ताईस गुणोंसे युक्त कमलसदृश दो स्तनोंको देखनेसे स्त्रियोंकी कामास्त्रसदृश भौंहे योगिजन के चित्तको विकृत कर देती हैं, तब आश्चर्य है कि पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मका समूह एकदम निर्मूल नष्ट होता है ॥ ८३ ॥

> स्त्रीरूपालोकशिख्यन्तरनिहिततनु मत्तयाविद्धचित्त ।
> लावण्याब्धौनिमग्न वचनभुजगदष्ट स्तनमोहपाशै ॥
> पदांग दुर्विकारस्मरणरचितसूच्याग्रविद्धाखिलांग ।
> लोक कामाग्निदग्ध रिपुरिव भुवने पीडयत्यन्वह स्त्री ॥

अर्थ—जो स्त्रीरूपी अग्निके मध्यमें अपने शरीर को रख चुका है और मत्त स्त्रीके विषयमें अपने चित्तमें सदा विचार करता रहता है, सुंदरतारूपी समुद्रके बीचमें डूबा है, स्त्रियोंके वचनरूपी सर्पसे काटा गया है, मोहरूपी पाशसे बांधा गया है, और अनेक प्रकार के दुर्विकारोंके स्मरणसे जिसे सारे शरीरमें सूईके समूहसे चुभनेके समान वेदना होती है, वह कामरूपी अग्निसे दग्ध है। यह स्त्री मनुष्य को शत्रुओंके समान दुःख देती है ॥ ८४ ॥

> स्वेद इत्यहिज यथाशु गरुडध्यान विधायात्मन—।
> स्त्रिताप हरतीव मग्नतरुणीध्यान सुपुण्य हरेत् ॥

उसके प्रति क्रोधित होकर तुमने अमुक दोष किया है, ऐसा कहकर फटकारना नहीं चाहिये और न उसके प्रति द्वेष करना चाहिये। प्रत्युत उसके लिए उचित द्रव्यादिक देकर और सतोषसे उसके अतरग और बहिरग दोषको दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे लोगों को मध्यमपात्र कहा है ॥ ९२ ॥

> सद्धर्मोद्धरणक्रियातिचतुरा योगींद्रविद्वज्जना।
> भूपा धार्मिकसद्विवेकिसुजना यत्रागतास्तद्वच' ॥
> श्रुत्वागत्य विनम्य साधुविनय कृत्वा स्वर्ण चिन्वते।
> बुद्धिश्रीसुकृतानि य बुधजना भव्यास्त उत्तमा' ॥९३॥

अर्थ— इस कल्याणकारक जिनधर्मके उद्धार करनेमें जो चतुर हैं ऐसे योगींद्र, विद्वान, राजा, धार्मिक, भेदविज्ञानी सज्जन आदि जहां आवे उस समय उनके वचनको सुनते ही अपने स्थानसे उठकर उन के पास जाकर जो उन्हें नमस्कार करते हैं और विनय सेवा आदि कर बुद्धि, संपत्ति, पुण्य आदि कमाते हैं वे ही उत्तम विद्वान् हैं और वे ही भव्य हैं ॥ ९३ ॥

> एवं यत्र वसंति तच्च विमलं तीर्थं [illegible] पुण्यापगा-।
> पूरोत्पत्तिकुलाचलोऽघतिमिरध्वंसार्कपूर्वाचल ॥
> पूतं पुण्यकरं भयापहरणं व्याध्यादिनिर्णाशनं।
> सर्वे जैनजनाश्च तत्तदखिलांस्तान्भावयेयुस्सदा ॥ ९४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त प्रकारके मुनींद्र जहांपर वास करते हैं वह निर्मल तीर्थ है। वह पुण्यरूपी नदीके उत्पन्न होनेके लिये कुलाचल पर्वत है, पापरूपी अंधकार नाश करनेवाले सूर्यकी उत्पत्तिकेलिये उदयाचलके समान है, पवित्र है, पुण्यकर है, सबभयको दूर करनेवाला है। आधिव्याधि को नाश करनेवाला है। इसलिये सर्व धर्मभक्त वैसे मुनींद्रोंकी उपासना व भावना करते हैं ॥ ९४

जघन्य पात्र

पचाणुव्रतरहित सप्तव्यसनप्रवृत्तिकरण चतुरं ।
सुनया वदंति पात्रं ललितांगमिव सुगामिन सुदृशं ॥९५

अर्थ—जो पचाणुव्रतसे रहित है, सप्तव्यसनमें प्रवृत्ति करनेमें चतुर है, परंतु सम्यग्दृष्टि है एस ललितांगके समान स्वर्ग जानेवाले मनुष्योंको मुनिवर जघन्यपात्र कहते हैं ॥ ९५ ॥

धर्मकदीप्राजनो वादी नैमित्तिको तपस्वी च ।
पचैते मुनिवृषभा जिनशासनदीपकाः प्रशस्ताश्च ॥९६॥

अर्थ—जिनधर्मी मुनिको धर्मक अथवा समयिक कहते हैं। निरतिचार महाव्रतोंका पालन करनेवाले आचार्य मुनिको दीप्राजनी कहते हैं। वादित्वगुणसे धर्मकी प्रभावना करनेवाले मुनिको वादी कहते हैं। ज्योतिःशास्त्र, मंत्रशास्त्र व निमित्तशास्त्रको जाननेवाले मुनियोंको नैमित्तिक कहते हैं। मूलोत्तर गुणोंको धारण करनेवाले दृढ मुनीश्वरको तपस्वी कहते हैं। ये पाच प्रकारके श्रेष्ठ मुनीश्वर जिन शासनकी प्रभावना करनेवाले और प्रशस्तनाम मुनि माने जाते हैं ॥९६॥

भार्या मातरमंतरेण तरुणीगेहं व्रती नो विशे- ।
दाविष्टे सति योषिता जगति भो निंदा भवेदन्यथा ॥
साकं हासविवादनर्मधनदानादानभाषादिकं- ।
दृष्ट्वा निंदति सज्जन स विबुधोऽन्यस्त्रीगृहं को विशत् ॥

अर्थ—जो शीलवान् पुरुष है वह अपनी पत्नी या माता जिस घरमें हो उसे छोडकर अन्य किसी घरमें कोई परस्त्री अकेली हो उस में कभी प्रवेश न करे। एसा प्रवेश करनेपर लोकमें उसकी निंदा होती है। और परस्त्रियोंके साथ हास्य, विवाद, धनका लेनदेन, बोलना आदि भी नहीं करना चाहिये। इसे भी देखकर लोग उसकी

निंदा करते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष पर स्त्रियोंके घर क्यों प्रवेश होगा? ॥ ९७ ॥

> ईदृग्दोषमनारतं न कुरुते निर्दोषदृग्वान्स यः ।
> पुण्यात्मा नमिताननोऽपि तरुणीवाचोऽप्यश्रृण्वन्क्षमी ॥
> विद्वान्स्वर्गसुखादिदं व्रतमिदं निर्दोषमेधावति ।
> पात्रं मध्यममित्युशन्ति मुनयस्ते कर्मविध्वंसिनः ॥ ९८ ॥

अर्थ—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह उपर्युक्त प्रकारके परस्त्रीजनित दोषोंको कभी नहीं करता है। उसे परस्त्रियोंके मुखका देखना भी पसंद नहीं है और न उनके वचन सुननेमें सहन होता है। वे सच मुचमें बुद्धिमान् हैं। पुण्यात्मा हैं। ऐसे लोग स्वर्गादि संपत्तिको देनेवाले व्रतोंका निर्दोषरूपसे पालन करते हैं। उनको सर्वकर्मको नष्ट करनेवाले जिन मुनींद्र मध्यम पात्रके नामसे कहते हैं। अर्थात् गृहस्थों के सर्वव्रतोंको निरतिचार पालन करानेके लिए शील बहुत प्रबल साधन है ॥ ९८ ॥

> धर्मं वर्द्धयति क्षमां रचयति क्रोधं विवादं नृणां ।
> शक्त्या [illegible] वचसा नयेन मृदुना यस्तभयत्यन्वहं ॥
> धर्मच्छिद्रमुपावृणोति सकलं संघं मुदा रक्षति ।
> पात्रं मध्यममाहुरुत्तमजनास्तं मर्त्यमुग्रत्वदृशम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—जो जिनधर्मकी प्रभावनाको बढाता है, क्षमा धारण करता है, क्रोध व विवादको अपनी शक्तिके द्वारा मिष्टवचनसे और चतुर नीतिसे रोक देता है। सदा धर्मके दोषको ढकनेके लिए उद्यत रहता है, सब जैनसंघकी संतोषसे रक्षा करता है, उस सम्यग्दृष्टिको मध्यम पात्र ऐसा उत्तम ऋषिगण कहते हैं ॥ ९९ ॥

जघन्यपात्र

> निर्दोषसुदृशः पुंसः सर्वजीवहितैषिणः ॥
> पश्यतः मातृवज्जैनं जघन्यं पात्रमुत्तमाः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो निर्दोष सम्यग्दृष्टि है, माताके समान सर्व जीवोंका हित चाहनेवाला है, ऐसे जैनको उत्तम ऋषिगण जघन्य पात्र कहते हैं ॥ १०० ॥

दृष्ट्वा जिनं गुरून् जनान्सतुष्ट स्तौति नौति च ॥
तमद्विषत भवत्येव जघन्य पात्रमीरित ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो जिनेंद्र, गुरुवोंको तथा जैनप्रभुओंको देखकर उनके प्रति द्वेष न करते हुए सतोषसे भक्तिसे उनकी स्तुति करता है व नमन करता है उसे जघन्य पात्र कहा है ॥ १०१ ॥

अपात्र वर्णन

देवगुरुधर्मधार्मिकशास्त्रव्रतविबुधदूषकास्तद्वाच ॥
ये शृण्वति दधते सतत समुशत्यपात्रमिति विबुधा ॥१०२॥

अर्थ—जो जिनदेव, जिनमुनि, धार्मिक, शास्त्र, जिनोपदिष्टव्रत, विद्वान् आदिका दूषण करते हैं, उनका एवं जो उनके वचनोंको बहुत सतोष से सुनते हैं व उन दूषकोंको अन्न वस्त्रादिक देकर पोषण करते हैं उनको अपात्र कहते हैं ॥ १०२ ॥

तपोधन चक्रमित सुवृत्त कषायिण दुर्गतिगामिन च ॥
वदत्यपात्र मुनयोऽघवृद्धि करोति यस्त मनसेव पार्श्व ॥१०३॥

अर्थ—जो मुनीश्वर पार्श्वमुनिके समान जानबूझकर अपने चारित्र को मलिन करते हैं, अत्यत कषायी हैं, नरकादि दुर्गतिको जानेवाले हैं, पापकी वृद्धि करते हैं उन्हें मुनिगण अपात्र कहते हैं ॥ १०३ ॥

धर्मापकारिणो धर्मद्रूषिणा धार्मिकद्विष ॥
कुतार्किणापि येऽन्योन्यमपात्र ते विदुर्बुधा ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मकार्यमें विघ्न डालनेवाले हैं। धर्मद्रोही हैं, व धार्मिकमनुष्योंके साथ द्वेष रखते हैं व परस्परमें कुतर्क करते हैं उनको अपात्र कहते हैं ॥ १०४ ॥

दूषकाणां विशुद्धिर्न श्रोतृणामेव शोधनं ॥
व्याघ्रध्वनिश्रुतिर्भव्यमृगाणामिव भीतिदा ॥ १०५ ॥

अर्थ—निंदा करनेवालोंकी शुद्धि या सुधारणा किसी तरह भी नहीं होसकता। केवल सुननेवाले अपने कानका शोधन कर सकते हैं अर्थात् हम निंदायुक्त वचनोंको नहीं सुनेंगे ऐसी प्रतिज्ञा सुननेवाले कर सकते हैं। जंगलमें रहनेवाले साधुजीवोंके लिये व्याघ्रके शद्बको सुननेकेलिये भी भय लगता है इसी प्रकार भव्यरूपी मृगोंको दुर्जन रूपी व्याघ्रोंका वचन भी भय उत्पन्न करते हैं ॥ १०५ ॥

कुपात्र लक्षण

धर्मे यस्यानुरागो न न शृणोति गुरोर्वचः ॥
परं नतीव वर्तेत तं कुपात्रं विदुर्बुधाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यका धर्ममें अनुराग नहीं और न गुरुओंके वचनको सुनता है परन्तु दंभसे अपनेको सबसे बड़ा व्रती व धर्मात्मा समझता है उसे मुनिगण कुपात्र कहते हैं ॥ १०६ ॥

स्वधर्माचरितं चान्यधर्मवृत्तसमं च यः ॥
मनुते वर्ततेऽसौ स्वकुपात्रं तं विदुर्बुधाः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने धर्मका आचरण व परधर्मके आचरणको बराबरीमें समझता है व तद्रूप आचरण करता है, उस मिथ्यादृष्टिको ऋषिगण कुपात्र कहते हैं। उसकी वृत्ति ठीक उसी प्रकारकी है जैसे कोई व्यभिचारिणी स्त्री पर-पुरुष व अपने पतिको पतिभावसे देख रही हो ॥ १०७ ॥

स्वकीयपात्राणि सुरक्षयतोऽन्यदीयपात्राण्यपि पालयन्त ॥
स एव सर्वेपि कुपात्रमुक्तम् पीडासुखं तेऽनुभवति शश्वत् ॥

अर्थ—जो अपने पात्रोंकी भी रक्षा करते हैं और मिथ्यापात्रोंका भी पोषण करते हैं उन सबको कुपात्र कहा है। वे सदा अत्यधिक दुःख भोगते हैं ॥ १०८ ॥

पुनः तीन प्रकारके पात्रोंका वर्णन

विचित्रभावैर्नयहेतुदर्शनैस्सुधर्ममार्गं प्रतिपादयन्ति ये ।
मातेव शिक्षामनुबंधकारिणस्तान्कार्यपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—अनेक प्रकारके परिणामोंसे एवं नयविवक्षाको बतलाते हुए जो धर्ममार्गका प्रतिपादन करते हैं, जो माताके समान योग्य हितोपदेश देते हैं उन्हें साधुगण कार्यपात्र कहते हैं ॥ १०९ ॥

कार्यपात्र

प्रगल्भभृत्या वरकार्यकोविदा प्रयोजिताः स्वाम्यनुकूलवर्तिनः ।
महत्सु कार्येष्वनुयायिनो नरास्तान्कार्यपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—जो सेवक अत्यंत कार्य कुशल हैं और स्वामीके अनुकूल वृत्ति रखनेवाले हैं एवं बड़े २ कार्यमें भी अनुसरण करनेवाले हैं या साथ देनेवाले हैं उनको भी कार्यपात्र कहते हैं। कार्यपात्रोंको भी दान देना चाहिये ॥ ११० ॥

कामपात्र

समागयोग्या ललना मनोज्ञा यदंगसंगाल्लभते मनस्सदा ॥
सुखं हृषीकोद्भवगौरवभाजा तां कामपात्रं प्रवदंति साधवः ॥

अर्थ—जो अपनी सुंदर स्त्री समागम करनेके लिये योग्य है जिसके अंगस्पर्श करनेसे एक विशिष्ट मानसिक सुख होता है उसे ऋषिगण कामपात्र कहते हैं ॥ १११ ॥

पुनः पंचविधमाह

जिने जिनगुरौ संघे यस्य साधु मनोऽस्वरुः ॥
वर्तते नेतरत्रासौ समर्थाऽपुच्यते बुधैः ॥ ११२ ॥

अर्थ—श्रीजिनेंद्र भगवत, जिनगुरु व जैनसघमें जिस भव्यकी भक्ति अचल है, सदा उनकी सेवा करता रहता है, अन्यत्र चित्त लगाता नहीं उसे महर्षि समयी कहते हैं ॥ ११२ ॥

साधक

जिनबिंबे जिनगहे जिनागमे जिनवत्ते च यो विद्वान् ॥
विधव्यय च कुरुते स साधको मुक्तिसाधकैरुक्त ॥११३

अर्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् जिनबिंब आदि निर्माण करानेमें, जिनचैत्यालय आदिके करानेमें, जैनशास्त्रोंके प्रचारमें, जैनसघको उपकार करानेमें, एव जिनप्रतिष्ठा आदि उत्सव करने में अपना न्यायोपार्जित वित्तका उपयोग करता है वह मोक्षको साधन करता है इसलिए मोक्षसाधक महर्षि उसे साधक कहते हैं ॥ ११३ ॥

जैनानां यो भिषग्व्याधिं निवारयति भेषजैः ॥
दद्यात्तस्येष्टवस्तूनि तत स्याद्धर्मवर्द्धनम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो वैद्य जैनसघके रोगियोंको औषधि देकर रोगनिवृत्ति करता है उसे उसके इष्ट पदार्थोंको देकर सत्कार करना चाहिए। उससे धर्मकी वृद्धि होती है। धर्मात्माओंका स्वास्थ्य सदा धर्मके स्वास्थ्य की भी वृद्धि करता है ॥ ११४ ॥

सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे सुलग्नेऽप्युत्सवद्वय ॥
य कारयति दैवज्ञस्तस्मै दद्यान्मनीषित ॥ ११५ ॥

अर्थ—जो योग्य मुहूर्त, नक्षत्र व लग्नमें धर्म व धर्मात्माओंका उत्सव निर्विघ्नतया कराते हैं ऐसे ज्योतिषियोंका भी योग्य सन्मान करना चाहिये ॥ ११५ ॥

भूतप्रेतपिशाचादिग्रहपीडानिवारक ॥
तस्येष्टवस्तुदानात् स्यादारोग्यसुखसपद् ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो भूत, प्रेत, पिशाच आदि ग्रहके उपद्रवोंको मन्त्रादिके द्वारा निवारण करते हैं ऐसे मन्त्रवादियोंको भी दान देनेवाले गृहस्थका सुख व संपत्ति बढती है ॥ ११६ ॥

ज्ञात्वा भूतभवद्भाविशुभाशुभफलानि च ॥
सत्यं वदति तस्यार्थं दातुः पुण्यफलं भवेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति नैमित्तिक शास्त्रके बलसे भूतभविष्यद्वर्तमानके ग्रहोंके उदयके शुभाशुभ फलको सत्यरूपसे कहता है उस दैवज्ञको जो द्रव्य दान करता है उसे पुण्यबंध होता है ॥ ११७ ॥

जिनान्यशास्त्राणि शान्त्यर्थं क्रमेणाराधयत्यपि ।
स एव पुण्यपात्रं स्यात्पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति लोकमें रोगादिक शांतिके लिए जिनधर्मसंबंधी यन्त्रोंको कर उसकी आराधना करता है, उसे भी पात्र समझें। भव्यात्माओंके द्वारा वह भी आदरणीय है ॥ ११८ ॥

द्वादशांगनिविष्टा ये सद्दृष्टिव्रतिकादयः ॥
ते पात्रं तारतम्येन प्रवदंति मुनीश्वराः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जो सद्दृष्टि व्रतिक आदि ग्यारह प्रतिमामें आचरण करनेवाले हैं और बारहवें अंगरूप मुनिधर्मको पालन करनेवाले हैं उन सब को मुनिगण तारतम्य रूपसे पात्र ही कहते हैं ॥ ११९ ॥

शीलेन रक्षितो जीवो न केनाप्यभिभूयते ।
महाह्रदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ॥ १२० ॥

अर्थ—जो अनेक प्रकारके उत्तम चारित्र शील आदिकसे अपनी रक्षा करते हैं उनको दबानेवाले लोकमें कोई भी नहीं है। जो व्यक्ति बडे भारी सरोवर में डूबा हुआ है उसे जंगलकी आग क्या कर सकती है? ॥ १२० ॥

मत समस्तं ऋषिभिर्यदार्हतैः
यथागुरु पावनदानशासनम् ।
मुदे सता पुण्यधन समर्जितु
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमानेकी इच्छा रखनेवाले श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके सयमोपयोगी धनादिक द्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ १२१ ॥

इति पात्रलक्षणविधि



दातृलक्षणविधिः

प्रणम्यादिजिनं भक्त्या करणत्रयलक्षितम् ।
पात्रदानफलं सम्यग्वक्ष्यऽहं दातृलक्षणं ॥ १ ॥

अर्थ—भगवान् आदिनाथ स्वामीको नमस्कार कर मनोवाक्कायके शुद्धरूप लक्षणको धारण करनेवाले दाता के लक्षण व पात्रदान के फलको अच्छीतरह कहेंगे ऐसी आचार्य प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १ ॥

दातृलक्षण

सदा मन खेदनिदानमानान्विनोपरोध गुणसप्तयुक्त ।
त्रिकालदातृप्रमुदैहिकार्थी न त च दातारमृषयति सत ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दानकार्यमें " बड़ा " जनमर कमाया हुआ धन मेरे हाथसे जाता है । इसप्रकार मनमें खेद नहीं करता है, जो दानके बदलेमें कुछ चाहता नहीं, अभिमान व परप्रेरणासे रहित हो कर दान देता है, और दाताके लिये सिद्धांतशास्त्रमें कहे हुए सात गुणोंसे युक्त है । जिसे भूत भविष्यद्वर्तमानकाल-संबंधी दातारोंके प्रति श्रद्धा है व ऐहिक सुखकी इच्छा नहीं, उसे ऋषिगण उत्तम दाता कहते हैं ॥ २ ॥

विनयवचनयुक्त शांतिकांतानुरक्तो ।
नियतकरणशुचिः सघजातप्रसत्ति ॥
शमितमदकषाय शांतसर्वांतराय ।
स विमलगुणसिंधो दातृलोक विशिष्ट ॥ ३ ॥

अर्थ—जो विनयवचनसे युक्त है शांतिरूपी स्त्रीसे अनुराग रखने वाला है, इंद्रियोंको जिसने वशमें कर लिया है, जिसे जैनसंघमें प्रसन्नता है, मद और कषायको जिसने शांत किया है एवं जिसके सर्व

अतराय दूर हो गए हैं और अनेक निर्मल गुणोंको धारण करनेवाला है उसे उत्तमदाता कहते हैं ॥ ३ ॥

> वैद्या नृपकृतिर्यथानलविधिं ज्ञात्वैव रक्षन्ति तान् ।
> सर्वेऽष्टादशधान्यलोभमतय क्षेत्र यथा कार्षिका ॥
> गां धारार्थजना अवति च यथा रक्षेयुरुर्वीश्वरा ।
> नित्य स्वस्वपदवर्तिना उपचितो धर्मं च धर्माश्रितान् ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य रोगियोंकी प्रकृति व उदराग्निको जानकर उनके योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते हैं, संपूर्ण अठारह प्रकारके धान्य के लोभसे जिस प्रकार किसान लोग खेतकी रक्षा करते हैं, ग्वाले लोग दूधके लिए गायकी रक्षा करते हैं, राजा लोग अपने राज्यकी स्थिति के लिए मनुष्योंकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार धर्मात्मा दाता धर्म व धर्मात्माओंकी सदा रक्षा करते हैं[1] । वे ही उत्तम दाता कहलाते हैं ॥ ४ ॥

सप्तगुण

> श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
> यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस दाताके हृदयमें श्रद्धान, भक्ति, संतोष, दानविधिका ज्ञान, लोभरहितत्व, क्रोधादिक कषायोपशमरूपी क्षमा, व शक्ति इस प्रकार सप्तगुण मौजूद हैं उसीको उत्तम दाताके रूपसे कहते हैं ॥५॥

सप्तगुणलक्षण

> श्रद्धास्तिक्यमतिस्संतुष्टिरमलानन्दस्तु भक्तिर्गुरा– ।
> रसेवालोलुपता विधौ कुशलता विज्ञानमर्थव्यये ।

[1] श्रद्धा भक्तिस्तोषश्च दया शक्तिः क्षमापरा । ।
विज्ञानं चेति सप्तैते गुणा दातुः प्रकीर्तिता ॥

निर्लोभत्वमलोभताप्युपशमोत्कर्षं क्षमा सर्वदा ॥
द्रव्यत्यागविधौ न नास्तिवचनं शक्तिस्तु सप्तोदिताः ॥६॥

अर्थ—अतिशय बुद्धीको श्रद्धा कहते हैं, गुरुके आगमनसे होनेवाले आनंदको संतोष कहते हैं, गुरुसेवाकी-अभिलाषाको भक्ति कहते हैं। दानविधिमें जो प्रवीणता है उसे विज्ञान कहते हैं। दानके लिये द्रव्यके व्यय करनेमें लोभ न करनेको अलोभत्व कहते हैं। कषायोंके उत्कर्षके उपशमको क्षमा कहते हैं, द्रव्यके त्याग करनेमें सदा उत्साह व उमंगको शक्ति कहते हैं। इस प्रकार दाताके ये सप्तगुण हैं ॥ ६ ॥

आस्तिक्यमति

पात्रेष्वाविकल्पेषु स्याद्दानेन फलमुत्तमम् ।
निश्चितास्तित्वसद्बुद्धिरास्तिक्यमतिरीरिता ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्तम पात्रोंको उत्तम दान देनेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है एवं स्वर्ग नरक, पुण्य पाप, बंध मोक्ष व इह पर लोक सब मौजूद है, इस प्रकारकी आस्तिक्यबुद्धिको आस्तिक्यमति या श्रद्धा कहते हैं ॥ ७ ॥

+ श्रद्धागुण

पापौघमय मम निवारयितुं समर्थं
हद्दु दरिद्रमिदमाशु समर्थमेव ।
दातुं सुपुण्यमजहद्रतिरद्वितीया
श्रद्धेति तत्र मुनयः खलु तां वदन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—यह पात्र मेरे पापसमूहको नाश करनेके लिए सर्वथा समर्थ है और मेरी दरिद्रताका नाश करनेके लिए भी समर्थ है, एवं मुझ

+ विरागो भवेद्यस्य पात्रं लब्धं मयाधुना ।
पुण्यवानहमेवेति स श्रद्धावानिहोच्यते ॥

अनेक प्रकारके पापोंसे छुडाकर पुण्यप्रदान करनेके लिए भी यही पात्र समर्थ है, इस प्रकार पात्रके आगमनमें अद्वितीय आनंदको प्राप्त करना इसे मुनिगण श्रद्धा नामक गुण कहते हैं ॥ ८ ॥

तुष्टिमाह

यथा चंद्रोदये जाते वृद्धिं याति पयोनिधिः ॥
सतां हृदयतोषाब्धिर्मुनिचंद्रोदये तथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चंद्रके उदय होनेपर समुद्र उमड आता है उसी प्रकार मुनिरूपी चंद्रके उदय होनेपर सज्जनोंके चित्तमें संतोष रूपी समुद्र उमड आता है। इसे तुष्टिगुण कहते हैं ॥ ९ ॥

१ भक्तिमाह

आभुक्तेर्मुनिसन्निधौ शुभमतिः स्थित्वा विशोध्याशनं।
चाहारान्परिहार्य वीक्ष्य सततं मार्जारकीटादिकान् ॥
भुक्त्यंते परिणम्य साधुहृदि सततो भवेद्यः पुमान्।
दाता तन्मुनिसेवनेषु मुदिता भक्तिश्च सा पुण्यदा ॥१०॥

अर्थ—पुण्यवान् श्रावक जबतक तपोधनमुनियोंका आहार हो तबतक बहुत विनयके साथ उनके पासमें खडे होकर आहारशोधन कर उनके हाथमें निर्मल भोजनको देवें। सदा मुनियोंके आहारमें विघ्न करनेवाले मार्जारक्रिमिकीटादिकको पासमें नहीं आने देता है। निरंतराय भोजन होनेके बाद संतुष्ट होकर तृप्त होता है। ऐसा जो निर्मल चित्तवाला श्रावक जब इस प्रकार की मुनिसेवा करता है उसे भक्ति कहते हैं, यही पुण्यप्रदान करनेवाला है। वही भक्त उत्तमदाता है ॥ १० ॥

---

१ जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे।
सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥

प्रातः प्रोत्थाय दाता शुचिरपि निजहस्तात्तपूजोचितार्थो।
गत्वा नुत्वा मुनीन्द्रान् व्रतदिननियमो देवपूजा गुरूणां ॥
भुक्तिं देहस्थितिं तत्तदुचितमुविधा तच्चिकित्सां विचार्य।
क्षिप्र बधूनिवार्यानुपचरतु जिनेंद्राकृतीन्साधुसाधून् ॥११॥

अर्थ—धर्मात्मा दाता प्रातःकाल उठकर शौचस्नानादि क्रिया ओंसे निवृत्त होकर अपने हाथमें पूजाकेलिये योग्य सामग्रियोंको लेकर मंदिर जावें। वहां देवपूजा व गुरुपूजा कर, मुनींद्रोंकी वंदना कर दिन नियमव्रतको ग्रहण करें एवं उन मुनियोंकी देहस्थिति आदिको विचार कर उनकी देहस्थितिके लिये उपयुक्त आहार व चिकित्सा आदिकी व्यवस्था कर बहुत शीघ्र अपने बंधुवोंके समान उन जिनेंद्राकारमें रहनेवाले उन सज्जन साधु आचार्योंका उपचार करें। यह उत्तम दाताका लक्षण है ॥ ११ ॥

यद्भोगाय निजं वपुर्गणिकया दत्तं स्वभर्तुस्तदा।
स्वादत्तं फलमेव नाचरफलं बाह्यक्रियास्तन्मनः ॥
स्वीकृत्याखिलमिष्टवस्तु च यथा सद्दापयत्य ह।
पात्रक्षेत्रकृषक्रियावद्बहुफलं दद्याद्विजन्मोचितं ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार वेश्या यह समझती है कि अमुक पुरुषके साथ भोग करनेसे उससे मुझे सच फलके सिवाय आगे कुछ नहीं मिलता, इसलिए उसे बाह्य क्रियाओंसे रंजन करना चाहिये। वैसा करनेपर वह पुरुष बार २ उसके पास आकर अनेक प्रकारके इष्ट पदार्थोंको देकर उसकी इच्छापूर्ति करता है, उसी प्रकार उत्तम अच्छे फलको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले किसानको भी खेतका बाह्य सत्कार करना पडता है। ठीक उसी प्रकार अंतरंग भक्तिके साथ बाह्य क्रियाओंसे युक्त होकर पात्रोंका दान देनेसे दोनों जन्मोंमें उसका फल मिलता है ॥ १२ ॥

मुद्दत परितो विचार्य सुदृश सद्वृत्तमेक बुध ।
वीथीगेहजिनालयर्षिनिलयद्वारस्थित चैकधा ॥
जैनो जमति य. क्रमाद्द्विगुणितान्दोषान्स याति क्षणात् ।
बुद्ध्वोदास्य स नित्यपुण्यधनतेभोमानहानिं क्रमात् ॥१३॥

अर्थ—जो धर्मात्मा जैनी भूखे सम्यग्दृष्टि, व्रती, विद्वान् आदिको रास्तेमें, घरके द्वारमें, जिनालयमें, मुनिवासमें देखकर भी उसको भोजनके लिए नहीं कहता है, उसको अनेक प्रकार के दोषसभव होते हैं। एव इस प्रकार उदासीन होकर जो स्वय जाकर भोजन करता है उसका पुण्य, धन व मान आदि क्रम २ से नष्ट होते हैं। साधर्मि भाइयोंका अतिथिसत्कार करना यह धर्मात्माओंका कर्तव्य है ॥ १३ ॥

विधान

सात्म्य सव्रतरक्षण यदमल सेव्य स्वसंव्योज्झित ।
यद्दोषहर यथामयहर यन्मानसस्थानकृत् ॥
यन्निद्रादिहर यदव्ययमनुस्वाध्यायसपत्तिकृत् ।
पूत यद्व्रतिहस्तदत्तमशन विज्ञाय दद्यात्तते. ॥ १४ ॥

अर्थ—उत्तम दाताको उचित है कि वह पात्रको ऐसे आहार देवें जो कि पात्रके शरीरके लिए अनुकूल हो, व्रतरक्षणके लिए साधक हो, पवित्र हो, भक्ष्य हो, अभक्ष्यपदार्थसे रहित हो, अनेक मिथ्यादोषोंको दूर करनेवाला हो, रोगोंका नाशक हो, मनको स्थिर करनेमें साधक हो, जो निद्रातन्द्रादिकको नष्ट करनेवाला हो, स्वाध्यायादि क्रियाओंमें सहायक हो, बालक आदि के द्वारा मुक्त व दुष्ट होनेसे अपवित्र न हो, इस प्रकार पात्रोंको आहार देते समय तत्संबधी पूर्ण ज्ञान रखते हुए पात्रोंके हाथमें आहार देना चाहिए ॥ १४ ॥

कजूस दाता

यद्दृश्नन्तमवेक्ष्य यो मनसि च स्मृत्वापि सन्निवारित ।
शक्तो नो भवितव्यमादव्रताहारोऽहमस्यान्वह ॥

संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए यह सेतु है । कर्मरूपी पर्वतके लिए वज्रदण्ड है। उस क्षमावान महापुरुषको अपने चित्तमें स्थापना कर मनुष्य सदा हर्षसे स्तुति करते हैं, प्रशंसा करते हैं ॥ १८ ॥

मृदुवचनमाह

एलापाद्धुरनगरक्रीविश्रुतिं गायति या वीणया ।
श्रुत्या गानविद सम नृपसदस्याक्षापपूर्वं शुधा ॥
सर्वेऽर्थान्नुवतेऽतिचाटुवचनैर्दत्त स चार्थान्यहृन् ।
श्रुत्वोक्त्वा स निराकरोति च विना यांत दुराक्षापिन ॥१९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग राजसभामें कामक्रीडाके विषयको वर्णन करते हैं तो उसे एला (?) नामक मध्यशब्दसे वर्णन करते हैं। और गायनको जाननेवाले उस [illegible] श्रुति आलाप पूर्वक वीणाके साथ गाते हैं जिसे सुनकर राजा प्रसन्न होकर उन्हें प्रशंसा करता है व उन्हें अनेक पदार्थोंको भेंटमें देता है। परन्तु जिनका स्वर अच्छा नहीं है वे यदि गावें तो उसे सुनकर राजा अप्रसन्न होता है। और उन्हें गानेसे रोकता है, और उनको कुछ भी नहीं मिलता। वे खाली हाथसे जाते हैं। इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि मृदुस्वर का भी बहुत उपयोग होता है ॥ १९ ॥

चापिलमाह

ये जीमति रुचेष्टवस्तु खलु यत्नाना च तद्दापय – ।
न्यद्वाञ्छति तदेव नास्ति च वचाऽवक्ता न वाचा हृदा ॥
कायेनापि मना मुदा दद ददद वस्त्विद सवदन् ।
यत्र सोऽपि महानवुधाऽतिसुकृती स्याद्दानशौण्डोऽनघ ॥

अर्थ—श्रावकको उचित है कि वह पात्राको आहार देते समय पात्रोंकी रुचि, प्रकृति आदि बातोंको जान लें। उसे जानकर उनकी रुचिके

अनुसार जो वे भोजन करते हों उन पदार्थोंको परोसनेमें मन, वचन, काय से असंतोष न करें। बराबर संतोषसे परोसनेवालोंको परोसो, परोसो ऐसा कहना चाहिए, वह बुद्धिमान है, शक्तिशाली है, पुण्यवान् है, और दानशूर है ॥ २० ॥

धर्मो न स्वयमेव भावरहितः पुष्पादि वाद्यादि वा।
दत्वा येन न तस्य दानकरणे मुख्यस्तु भावः शुभः ॥
भावोद्घाटननर्तकीव ललिता या प्रेक्षकाणां मना-
स्याहृत्यार्थचयं तु पूर्णसुकृतं दाता लभताक्षयं ॥२१॥

अर्थ—कषाय, ईर्ष्या व दिखावटके लिए किया गया भावरहित धर्माचरण धर्म ही नहीं है। दान करनेमें दाताका शुभभाव ही मुख्य है, उसमें अन्य पुष्पादिकोंकी मुख्यता नहीं है। जिस प्रकार राजसभामें नर्तन करनेवाली सुंदरी अपने भावोंके द्वारा प्रेक्षकोंके मनको आकर्षितकर धनसंचयको करती है उसी प्रकार दाता भी अपने शुभ भावोंके द्वारा पात्रोंकी सेवा कर अक्षय पुण्यको संचय करें ॥ २१ ॥

दातृपात्रफलमाह

क्षेत्रं जनाज्जनः क्षेत्राद्द्वाभ्यां धान्यं यथा भवेत्।
दात्रा पात्रं तेन दाता द्वाभ्यां सौख्यप्रदो वृषः ॥२२॥

अर्थ—खेतका सत्कार मनुष्योंसे व मनुष्योंका सत्कार खेतसे और दोनोंसे धान्यका सत्कार होता है, उसी प्रकार दातासे पात्रका व पात्रसे दाताका एवं दोनोंसे सौख्य देनेवाले धर्मका सत्कार होता है ॥ २२ ॥

सप्तगुणविवरणम्

हिताहितमजानाता च शिशुना ह तोऽयं वृषः ॥
समस्तजन्तुभिः दृष्टफलं भयत्तस्य च।
हिताहितविज्ञानता कपटिना हृताह फलं ॥
सदा कपटिमित्रसेवितनृपो यथा नश्यति ॥

यज्जिह्वारुचि याचितेपि न वच श्रुत्वा स्त्रियो येन स-।
क्रुध्यत्यस्ति नास्य सद्मनि सदा भुञ्ज त्यजस्तच्छपन् ॥
तस्माद्द्वितयापकीर्तिरघमेव स्यादुपालम्भन ।
लोके मौनमनारत सुकृतिनः कुर्युस्स पुण्यप्रदम् ॥ २९ ॥

अर्थ—आहार लेते समय सिद्धांतमें मौन धारण करनेका आदेश है। कारण कि भोजनमें कोई पदार्थ उनके रसनेंद्रियको स्वादिष्ट लगे तो उस मांगनेका भी संभावना रहता है। कदाचित् आहार देनेवाली स्त्रीने उस पदार्थको देनेसे नकार कर दिया या वहांपर न हो तो, उस अवस्थामें मुनिके मनमें क्रोध आकर वह प्रतिज्ञा कर सकता है कि मैं इसके घरमें अब भोजन करनेके लिए कभी नहीं आऊंगा, और उस घरके मालिकको क्रोधसे अनेक प्रकारसे शाप दे सकता है। इससे दाता और पात्र दोनोंका लोकमें अपकीर्ति, निंदा होगा एवं दोनोंको पापबंध होगा। इसलिए पुण्यवान् लोग सदा लोकमें पुण्यप्रदान करनेवाले मौनको धारण करते हैं जिससे उपर्युक्त किसी भी प्रकारके दोषोंका संभव हो न हो ॥ २९ ॥

मौनगुणमाह

मुन कर्म सुधर्मोपदेशनारचित वच ।
भाव स्वशुद्धात्मचिंता मौन मुनिभिरीरितम् ॥ ३० ॥
मौनमभिमानशरण चित्तकरण पुण्यकरणमघहरण।
देवादिवश्यकरण मुद्धरण चित्तशुद्धिसुखकरणम् ॥ ३१ ॥
आगमनविघ्नहरण मैत्रीकरण विवादसंहरण ।
रत्नत्रयसंरक्षणमज्ञानविनाशकरणमपि काले ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुनिकी क्रियाको मौन कहते हैं, धर्मोपदेशके लिए उपयोग किए वचनको भी मौन कहते है। अर्थात् धर्मोपदेशके लिए बोलनेपर भी उससे भी पाप नहीं होता है वह मौनके समान ही है। अपने शुद्ध आत्माके विचार करना भी मौन है। इस प्रकार महर्षियोंने

आदेश दिया है। भोजनके समय व अन्य योग्य कालमें मौन रहने से स्वाभिमानकी रक्षा होती है, ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, पुण्यका प्राप्ति व पापकी हानि होती है, देवादिक भी इससे वश होते हैं, क्रोधका नाश होता है, चित्तमें निर्मलता व आनदकी वृद्धि होती है। मौनसे ही आगे आनेवाले विघ्न दूर होते हैं, परस्पर मित्रता का वृद्धि होती है, कषायवश उत्पन्न विवाद नष्ट होते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का रक्षा होती है। इतना ही नहीं अज्ञानका भी नाश होता है। इस प्रकार मौनधारणसे अनेक गुणोंका प्राप्ति होती है ॥ ३० ३१ - ३२ ॥

\+ यद्वो वृष्टिजलप्रभावजनितः स्वच्छाभसा क्षीयते ।
तद्वद्दुर्वचसां भरेण जनितं दुर्ज्ञानमाहन्यते ॥
मौनेनैव समन्त्रकेण वलवत्कर्माद्रिवज्रेण वै ।
दुर्ज्ञानापहृतौ सकेसुकृतिभिर्मौनं सदा धार्यताम् ॥ ३३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार बरसातके पडनेसे उत्पन्न कीचड स्वच्छ पानीके प्रवाहसे धुल जाती है उसी प्रकार सद्गुणोंको नाश करनेवाले क्रोधादिक वचनोंसे उत्पन्न अविवेक मौनसे नष्ट होता है। अपराजितमंत्र से युक्त मौनरूपी वज्रदण्डसे ही बलवान् कर्मरूपी पर्वत भी नष्ट होता है। इसलिये अविवेकको दूर कर सम्यग्ज्ञानका प्राप्तिसे आत्माका प्रभावना करनेकी इच्छा रखनेवाले पुण्यात्मा सज्जन मौनको सदा धारण करें ॥ ३३ ॥

\+ संतोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन भाव्यते ।
संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥
वाक्संयमः पवित्राणां गुणानां सुखकारिणाम्
— — सर्वेषां जायते स्थानं गुणानामिव नीरधिः ॥
वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसदर्भगर्भिता
आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलं ॥

पत्ये या शयिता तदात्त्वसरसालापानुरक्तांगना-।
न्येषा वक्त्रमवीक्ष्य वाचमनिशम्यैवान्वह वर्तते ॥
तद्वत्साधुजनो वदेदयत्र यो देवताराधना-।
शेषस्तोत्रजपान्करोति सफल माप्नोति चेष्ट सम ॥३४॥

अर्थ—जो पतिव्रता स्त्री अपने पतिको सतुष्ट करनेकेलिये उसके साथ अनेक प्रकारसे सरस वार्तालाप करती है व प्रेम व्यवहार करती है वही दूसरे मनुष्य सामने आनेपर तो आख उठाकर भी नहीं देखती और दूसरोंके वचनको भी नहीं सुनती, इसप्रकार धर्मात्मा सज्जन पुरुष सदा अपने आत्माके हितके लिये पुण्यरूप वचनको ही बोलते हैं एव जप, स्तोत्र, जिनेंद्रपूजा आदि कार्य अत्यत तल्लीन होकर करते हैं, उनको सर्व प्रकारके इष्ट फल प्राप्त होते है ॥ ३४ ॥

जिनोक्तिरेव वक्तव्या वक्तव्या नेतरोक्तयः ।
तादृष्टवाक्स्मृतिर्मौन न मौन पशुवत्परम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—वीतराग परमात्मा जिनेंद्र भगवतके द्वारा प्रतिपादित वचन अर्थात् शास्त्र ही बोलने व सुनने योग्य है । मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा रचित शास्त्र न कथन करने योग्य है और न सुनने योग्य है । शिष्टोंके वचनको स्मरण करते रहना यह असली मौन है। बाकी नहीं बोलने पर भी चित्तमें दुर्ध्यान करना वह पशुमौन है ॥ ३५ ॥

× जिह्वालौल्यमृषेर्नास्य तृप्ताऽस्य दत्तवस्तुभि ।
तपश्चापि तपोज्ञान ज्ञान शमत्यय जन ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो साधु या कोई सयमी मौनपूर्वक भोजन करते हैं, उनके सबधमें श्रावकगण कहते हैं कि इस साधुको जिह्वाकी लोलु

× पदानि यानि विद्यते वदनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यते प्राणिना मौनकारिणा ॥

पता नहीं है, जो पदार्थ देवें उसीसे संतोषपूर्वक ये तृप्त होते हैं, इनका तप ही सचमुचमें तप है, ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है। इत्यादि प्रकारसे लोक उनकी प्रशंसा करते हैं ॥ ३६ ॥

पाठांतर

भुक्तौ येन यदिष्टवस्तुनि मुहुः संयाचिते नास्ति चे-
त्तस्येऽप्यच्छति दातरीह सभवेत्कोपोऽन्यथा शाश्वती
दत्त्वाप्र परमायोर्मनसि च क्लेशं च कर्ता वृथा
पुण्यद्रव्ययशः शुभक्षतिरिह दातुः स्वयं पात्रतः ॥३७॥

अर्थ—भोजनके समय यदि जिह्वालोल्यसे किसी मध्यम पात्रने अपनी इष्ट वस्तुकी याचना इशारा व अन्य प्रकारसे करें तो उस समय यदि वह पदार्थ घरमें नहीं हो तो गृहस्थको लाचार होकर नास्ति कहना पड़ता है। उस समय अपनी इच्छाकी पूर्ति नहीं होनेसे उस पात्रको भी क्रोध आता है। दाताको भी व्यर्थ दुःख होता है। दोनोंके हृदयमें मानसिक क्लेश होनेसे पुण्यके बजाय पापका बंध होता है, यशका नाश होता है, एवं शुभफलका भी अभाव होता है। इस प्रकार पात्रके कारणसे दाताको अनेक प्रकारके अनिष्ट परिणाम होते हैं ॥ ३७ ॥

भोजननिषिद्धस्थान

भांडागारिकतुन्नवायगणिकादासीत्वरीचित्रिक-।
व्याधश्राद्धिकगीतिमालिककुलालक्षौरिकाणां गृहे ॥
चर्मारादिकुविंदवादिनटचाहारादितद्वर्जिना ।
वर्णी तैलिकमृतकिट्टयतलाराद्यस्य नो भोजयेत् ॥३८॥

अर्थ—वर्णी अर्थात् तपस्वी, व्रतिक या श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न श्रावक को उचित है कि वह अपने आहारकी विशुद्धि के लिए भंडारी, दर्जी, वेश्या, दासी, व्यभिचारिणी, चित्रकार, माली मरणसत्कार करनेवाले,

गायक, माळी, कुंभार, नाई, कार+ कोली, स्तुतिपाठक, नट, वगैरा इनके घरमें या इन वृत्तियोंको धारण करनेवालोंके घरमें भोजन न करें। इसी प्रकार तेली, वृद्धि क्षय सूतकवाले और कोतवालके यहां भी भोजन न करें ॥ ३८ ॥

दाननिषेध

भूगोवाजीभकन्याधनकनकविभूषांशुकामप्रदानं ।
हिंसादानं च सर्वं भवसुखकरणं बुद्धितोयं यथा स्यात् ॥
पात्रप्रेक्षेतेषु तस्माद्विरचितममलं चान्नदानं प्रधानं ।
पात्रेभ्येतत्स्वदानं रचयति स नरः पंडितं खंडिताघ ॥३९

अर्थ—बुद्धिमान दाताको उचित है कि वह पात्रोंके लिए भूमि, गाय, घोडा, हाथी, कन्या, धन, कनक, आभरण, वस्त्र, शरीरोपभोगी पदार्थ, हिंसाके साधक उपकरण, आदि का दान न करें। क्यों कि इन पदार्थोंके दान करनेसे संसारकी ही वृद्धि होती है। जिस प्रकार कि बरसातके पानीसे एकेंद्रिय घास आदिकी उत्पत्ति, वृद्धि व संरक्षण होता है, उसी प्रकार इन पदार्थोंसे संसारकी ही वृद्धि होती है। इसलिए जो व्यक्ति इन बातोंको समझकर पात्रोंके लिए उपयोगी प्रधान अन्नदानको प्रदान करता है, वह सचमुच में पंडित है व पापोंको खंडित कर सकता है। क्यों कि अन्नदानके फलको शास्त्रकारोंने [illegible] ही अधिक बतलाया है ॥ ३९ ॥

+ शालिको मालिकश्चैव कुंभकारस्तिलंतुद
नापितश्चेति पंचते भवंति स्पृश्यकारुकाः ॥
रजकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः
स्वर्णकारश्च पंचते भवंत्यस्पृश्यकारुकाः ॥

कहा भी है—

* समस्तुप्तिकरं चान्नदानं सर्व फलप्रदम् ।
सर्वदानं मुद्दु फासावर्द्धनं भववर्धनम् ॥
य स्वामिशत्रुक्षयदत्तवृत्तस्सदापयन् रक्षति तद्बुध स ।
स्वामी भवेदुत्तरजन्मनीव कर्मघ्नपात्राय धनं च देयम् ॥४०

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें स्वामीके शत्रुओंको नाश करने में प्रवृत्त भट उस कार्य में प्रवृत्त अन्य सहायकों को भी धनादि देकर संतुष्ट करता है एवं उनका संरक्षण करता है और उत्तर जन्ममें वही सेवक स्वामी बनजाता है, इसलिए इस पवित्र भावनासे कि अपने कर्मोंको नाश करनेमें यह पात्र समर्थ है, उसे धनादिक प्रदानकर उपकार करना अपना कर्तव्य है, उपकार करें। दान देवें। शत्रुओंके नाशकेलिए धनादिकका दान आवश्यक है। उसी प्रकार कर्मशत्रुओंको नाश करनेकेलिए दान देना आवश्यक है ॥४०॥

भोजनांतराय

गृहरोधेऽखिलधान्यप्रशोषणे जंतुघातिपशुवधे ।
रोदनविवादनिष्ठुरवचने सावद्यकर्मयुजि गेहे ॥ ४१ ॥

---

* खनन्जीवाः प्रपन्नुर्वी गुर्विणीमिव संश्रिताम्
तस्माद्युज्यते विद्भिर्भूमिदानं कदाचन ॥
बंधनात्ताडनाद्दुःख नित्यं गोजायते यतः
तस्माद्युज्यते दातुं गोदानं भव्यदेहिभिः ॥
प्रमादतो यथात्पूरादाफ्लाते जवात्
स्वायवृद्धेरयोप्यसात्तस्य दानं न दीयते ॥
कन्याया जायते रागो रागाकर्मनिबंधनम् ।
कर्मणानंतसंसारी तस्मात्तद्दानवर्जनम् ॥
पात्रे हिरण्यवार्चितास्याद्गमनागमनादिषु
तन्निमित्तं भवेन्मृत्युस्तस्मात्तन्नैव दीयते ॥

भिक्षां कर्तुं न विशेत्सविशय तच्चत्वरं सुहुर्दातॄन् ।
ना वीक्षेत च योगी सप्तोच्छ्वासात्परं निवर्तेत ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस समय योगी आहारकेलिए श्रावकोंके घरपर जावे तो यदि उनके घरका दरवाजा बंद हो, बंद न होते हुए भी योगियोंके मार्गमें कोई रुकावट हो, घरके आंगनमें कोई धान्य वगैरह बिछाये गये हों, हिंसक कुत्ता बिल्ली आदि प्राणियोंको सामने बांधा हो, बच्चोंको छोडकर अन्य किसीका रोना सुननेमें आरहा हो, विवाद कठोर वचन सुननेमें आरहा हो, घरके लोग हिंसादिक पापोंमें लगे हों, ऐसे घरमें भोजनके लिए प्रवेश न करें। यदि किसी तरह प्रवेश कर गये तो दाता को बार २ नहीं देखें। सात उच्छ्वासके बाद वह लौटजावें ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

आहारगमनके समय दया

व्याध्यार्तं योगिनं वीक्ष्य नोपेक्षेत कदाचन ।
स्वकीयं परकीयं वा विदर्शनमथापि वा ॥ ४३ ॥

अर्थ—आहारको जाते समय यदि किसी रोगसे पीडित रोगी योगीको देखें, चाहे वह अपने संघका हो या अन्य संघका हो, चाहे अन्य दर्शनवाला ही हो तो भी ऐसे साधुवोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

बालवृद्धतपःक्षीणान्संश्रमान् व्याधितानपि ।
मुनीनुपचरेन्नित्यं ते भवयुस्तपःक्षमाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगियोंका कर्तव्य है कि वे बालयोगी, वृद्धयोगी, तपसे क्षीणयोगी, थके हुए योगी व रोगसे पीडित योगियोंकी अंतर्बाह्योपचारसे संरक्षण करें। ऐसे वात्सल्यको धारण करनेवाले योगी ही उत्कृष्ट तपको धारण कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

तप समर्थेषु सपाधनेषु ।
त एव कल्पावनिजा इवात्र ॥
फलति ताभि सुजना. सपुण्या– ।
रसमस्तलोका सुखिनश्च ते स्यु ॥ ४५ ॥

अर्थ—यदि इस लोकमें अनशनादि तपोंको निर्दोष रूपसे आच रण करनेवाले तपोधन हों तो वे ही भव्योंके इष्टार्थको पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षके समान हैं। उनके द्वारा सज्जनोंका सर्व इष्टार्थ पूर्ण होता है। समस्त लोकमें पुण्यमय कार्य होते हैं। एवं समस्त संसारके प्राणी सुखी होते हैं ॥ ४५ ॥

प्रतीवदानमाह

क्षीरं तक्रं दधिघृतजलं शाकपक्वं ददद्य ।
शुष्कं पात्रं स्वपुरलवणं सन्नधैर्याभ्वदर्शम् ॥
जंभं वालोदकगुडसिता चुक्रपलुग कपित्थम् ।
शीर्ष्णैकं द्वौ त्रिनरति समं यस्सदाता नरः स्यात् ॥४६॥

अर्थ—जो श्रावक त्यागियोंको (पात्रोंको) उनकी शरीर प्रकृति आदि ध्यान में रखते हुए दूध, छाछ, दही, घी, जल, शाक, मुद्गादिक अन्न, उचित पात्र, शुष्क पान वगैरे, लवण, घर व धैर्य, मार्गदर्शन निंबू, कच्चा नारियल का पानी, गुड, शक्कर, चिंच, माहलुंग, कैथ आदि पदार्थोंमें से एक दो तीन चीजों को जैसी आवश्यकता हो, प्रदान करें, वह उत्तम दाता कहलाता है। कारण इन पदार्थोंके प्रदान से शरीरमें स्वास्थ्य बना रहता है। स्वास्थ्यके रहने से संयम स्वाध्यायादिक में वह लग सकता है ॥ ४६ ॥

शास्त्रं तत्त्वं व्यवहृतिकृपां भोजनं स्वामिसेवां ।
स्नानं पानं द्रविणमगदं राज्यलक्ष्मीविचार ॥

राग राग स्वयुवतिसुख नित्यमिच्छति जैना ।
दान पूजां कुरु कुरु न भो नोऽद्य वारी वदेन्न ॥ ४७ ॥

अर्थ—आत्मकल्याणेच्छु भव्य हमेशा शास्त्रज्ञानकी अपेक्षा करते हैं । तत्वविचार करना चाहते हैं । लोकमें सुंदर व्यवहार चाहते हैं। इसी प्रकार कृषि, भोजन, स्वामिसेवा, स्नान, पान, धन, औषध निरातंक राज्यलक्ष्मी, रोगपरिहार, धर्मानुराग, स्वतरुणीसुख इत्यादि बातोंको चाहते रहते हैं । इसलिए हे भव्य ! पुण्य की सिद्धि के लिए दान व पूजा सदा करो। दान पूजाके लिए " आजका बार अच्छा नहीं कल करेंगे " इत्यादि प्रकार से टालने की कोशिस मत करो । कारण कि दान व पूजासे पुण्य का वृद्धि होता है जिससे उपर्युक्त सुखसामग्रियोंका प्राप्ति सरलतासे होता है ॥ ४७ ॥

यावत्तावद्ग्रंथ एकस्य वृद्धेः तावत्तावद्धनाशोऽघवृद्धिः ॥
तावत्तावद्दानपूजाभिवृद्धिं कुर्यात्तत्पुण्याभिवृद्धिं भजेव ॥४८॥

अर्थ—जबतक यह मनुष्य परिग्रहोंकी वृद्धि करता जाता है तबतक उन परिग्रहोंके बढानेके निमित्तसे धनका नाश व पापकी वृद्धि होता है । इसलिए बुद्धिमान सज्जनको उचित है कि वह परिग्रहोंके संग्रह के साथ २ दानपूजादिक सत्कार्योंको भी करें । क्यों कि दान पूजादिक कार्य संतानोत्पत्ति के समान पुण्यकी वृद्धि को करते हैं । पुण्य की वृद्धि होनेसे धन का प्राप्ति होती है। उससे इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होती है। ऐसा न कर जो व्यक्ति केवल परिग्रहोंका संग्रह करता है, उसका द्रव्य नष्ट होता है । पाप की वृद्धि होकर पुनः धनादिककी प्राप्ति नहीं हो पाता जिससे उसे कष्ट उठाना पडता है ॥ ४८ ॥

सत्कार्य [illegible]पि कार्य [illegible] भो ।
[illegible] ज्ञात्वा सविचार्यैव [illegible] ॥

कर्तव्य चेदीदृश यो न कुर्यात् ।
पश्चाच्छब्दो नास्तिपर्याय उक्तः ॥ ४९ ॥

अर्थ—हे जीव ! यह कार्य अभी करने योग्य है, यह कल करने योग्य है, इत्यादि प्रकारसे अच्छी तरह विचार करके ही समस्त कर्तव्योंका पालन करना चाहिये। इसप्रकार कार्य विभागोंको न कर "बादमें करेंगे" इस श्रेणामें जो कर्तव्योंको ढकेलता है वह आलसी है। उसके कोई कार्य नहीं होते हैं। क्यों कि बादमें करनेका अर्थ ही नास्ति है ॥ ४९ ॥

वित्तान्नांशुकवाग्भिः पटुभटान्पाता सुरक्षन्विदन् ।
जित्वा वैरिनिजवैरियुद्धमिव भो जीवत्यजस्र मुदा ॥
रोगे भूपतिविग्रहे रिपुभये तेज क्षय बधने ।
धर्मोद्योगकृतौ च दानमतुल देय युधैस्साधवे ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने आश्रितोंका सरक्षण, धन, अन्न, वस्त्र, मिष्टवचन आदिकसे करते हुए उनसे अपने वैरियोंको जीतता है उसी प्रकार साधुओंको रोगकी हालतमें, राजाओंकी ओरसे उत्पात के समयमें, शत्रुभयमें, तेजक्षयके समयमें, बधनके समयमें, धर्मप्रभावनाके समयमें दिल खोलकर दान देवें जिससे पुण्यकी वृद्धि होती है ॥५०॥

लोकरीति

दु ख दु खकराद्योग सुखे सुखकर सदा ।
लोकः करोति शास्त्रेऽस्मिन्युक्त तन्न जातुचित् ॥ ५१ ॥

अर्थ—लोकमें यह परिपाटी है कि ससारीजन दु खमें दु खको बढानेवाली क्रियाओंको ही अधिक करते हैं। सुखकी हालतमें सुखको बढानेवाली क्रियाओंको ही करते हैं। जैनागममें ऐसे समयमें जिन कर्तव्योंका पालन करनेके लिए आदेश दिया है उसका पालन कोई नहीं करते हैं यह खेदकी बात है ॥ ५१ ॥

राग राग स्वयुवनिसुख नित्यमिच्छति जैना ।
दान पूजां कुरु कुरु न भो नोऽद्य वारो वदेश्च ॥ ४७ ॥

अर्थ—आत्मकल्याणेच्छु भव्य हमेशा शास्त्रज्ञानकी अपेक्षा करते हैं। तत्वविचार करना चाहते हैं। लोकमें सुंदर व्यवहार चाहते हैं। इसी प्रकार कृषि, भोजन, स्वामिसेवा, स्नान, पान, धन, औषध निरातंक राज्यलक्ष्मी, रोगपरिहार, धर्मानुराग, स्वतरुणीसुख इत्यादि बातोंको चाहते रहते हैं। इसलिए हे भव्य! पुण्य की सिद्धि के लिए दान व पूजा सदा करो। दान पूजाके लिए " आजका वार ठीक नहीं कल करेंगे " इत्यादि प्रकार से टालने की कोशिश मत करो। कारण कि दान व पूजासे पुण्य की वृद्धि होती है जिससे उपर्युक्त सुखसामग्रियोंकी प्राप्ति सरलतासे होती है ॥ ४७ ॥

यावद्यावद्ग्रथ एकस्य वृद्धे तावत्तावद्द्रव्यनाशोऽघवृद्धिः ॥
तावत्तावद्दानपूजाभिवृद्धिं कुर्यात्तत्पुण्याभिवृद्धिं प्रजेव ॥४८॥

अर्थ—जबतक यह मनुष्य परिग्रहोंकी वृद्धि करता जाता है तबतक उन परिग्रहोंके बढानेके निमित्तसे धनका नाश व पापकी वृद्धि होती है। इसलिए बुद्धिमान सज्जनको उचित है कि वह परिग्रहोंके संग्रह के साथ २ दानपूजादिक सत्कार्योंको भी करें। क्यों कि दान पूजादिक कार्य संतानोत्पत्ति के समान पुण्यकी वृद्धि को करते हैं। पुण्य की वृद्धि होनेसे धन की प्राप्ति होती है। उससे इच्छित पदार्थकी प्राप्ति होती है। वैसा न कर जो व्यक्ति केवल परिग्रहोंका संग्रह करता है, उसका द्रव्य नष्ट होता है। पाप की वृद्धि होकर पुनः धनादिककी प्राप्ति नहीं हो पाती जिससे उसे कष्ट उठाना पडता है ॥ ४८ ॥

सद्य कार्यं श्वापि कार्यं त्विदं भो।
जीव ज्ञात्वा सविचार्यैव कृत्यम् ॥

कर्तव्य चेदीदृश-यो न कुर्यात् ।
पश्चाच्छब्दो नास्तिपर्याय उक्तः ॥ ४९ ॥

अर्थ—हे जीव ! यह कार्य अभी करने योग्य है, यह कल करने योग्य है, इत्यादि प्रकारसे अच्छी तरह विचार करके ही समस्त कर्तव्योंका पालन करना चाहिये । इसप्रकार कार्य विभागोंको न कर " बादमें करेंगे " इस श्रेणमें जो कर्तव्योंको टकराता है वह आलसी है । उसके कोई कार्य नहीं होते हैं । क्यों कि बादमें करनेका अर्थ ही नास्ति है ॥ ४९ ॥

वित्ताम्राशुकचाटुभि पटुभटान्पाता सुरसन्निदन् ।
जित्वा सर्वनिजवैरियुद्धमिव भो जीवत्यजस्त्र मुदा ॥
रोगे भूपतिविग्रहे रिपुभये सम क्षय बधनं ।
धर्मोद्योगकृतौ च दानमतुल देय सुधीस्साधवे ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा अपने आश्रितोंका सरक्षण, धन, अन्न, वस्त्र, मिष्टवचन आदिकसे करते हुए उनसे अपने वैरियोंको जीतता है उसी प्रकार साधुओंको रोगकी हालतमें, राजाओंकी ओरसे उत्पात के समयमें, शत्रुभयमें, तेजक्षयके समयमें, बधनके समयमें, धर्मप्रभावनाके समयमें दिल खोलकर दान देवें जिससे पुण्यकी वृद्धि होती है ॥५०॥

लोकरीति

दुःख दुःखकरोद्योग सुखे सुखकर सदा ।
लोकः करोति शास्त्रेऽस्मिन्युक्त तन्न जातुचित् ॥ ५१ ॥

अर्थ—लोकमें यह परिपाटी है कि ससारीजन दुःखमें दुःखको बढानेवाली क्रियाओंको ही अधिक करते हैं । सुखकी हालतमें सुखको बढानेवाली क्रियाओंको ही करते हैं । जैनागममें ऐसे समयमें जिन कर्तव्योंका पालन करनेके लिए आदेश दिया है उसका पालन कोई नहीं करते हैं यह खेदकी बात है ॥ ५१ ॥

साधुसतर्पणमें बहाना

यद्वो रोगादिबाधास्ति गेहे नो घटतेऽद्य न ।
इत्युक्तिं वद मा जीव ! साधून् सतर्पये सदा ॥ ५२ ॥

अर्थ—किसी उत्तम पात्र साधुके अपने नगरमें आनेके बाद यदि आहारदान देना नहीं हो तो लोग बहाना करते हैं कि आज हमारे घरमें कोई बीमार है, आज आहार नहीं बनाया जा सकता है इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि पात्रदानमें इस प्रकार बहानाबाजी करना ठीक नहीं है। साधुवोंका सतर्पण सदा करना चाहिये। यही सत्पुरुषों का कर्तव्य है ॥ ५२ ॥

आहारमें वर्जनविषय

शाठ्यं गर्वमवज्ञामधौतचरणप्रवेशवाक्पारुष्यम् ।
भिक्षोर्भोजनसमये जीव चासयम त्यजेत्परिप्लावम् ॥५३॥

अर्थ—जिस समय साधु आहारके लिए अपने घरमें आवें, उस समय दुष्टताका परित्याग करना चाहिये, गर्वको छोडना चाहिये, साधुका अनादर न करें, पैर न धोकर अंदर प्रवेश न करें, कठोर वचन न बोलें, हिंसानिरत कुत्ते बिल्ली आदि प्राणियोंको सामने न रक्खें, चचलता का परित्याग करें। इन बातोंसे साधुवोंके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होनेकी संभावना है। इसलिए इन बातोंको अवश्य छोडना चाहिये ॥ ५३ ॥

कठोरवचनका त्याग

यत्र कर्कशवचास्ति त नर नाश्रयति सुगुणा यशास्त्वया ।
धर्मसेवरसुधारसुता स्त्रियो व्याघ्रगेहमिव गोमृगादिक ॥५४॥

अर्थ— जिस प्रकार व्याघ्रके गुफाका आश्रय गाय, हरिण आदि नहीं करते, उसी प्रकार जो मनुष्य कठोर वचनको बोलता है उसका आश्रय रत्नत्रयात्मक गुण, कीर्ति व पुण्य नहीं करते हैं। इतना ही

नहीं, बधु बांधव, सवक, विद्वान्, पुत्र, स्त्रिया आदि काई उसके आश्रयमें जाते नहीं। वह सदा दु खी रहता है ॥ ५४ ॥

आहारके समय वर्ज्य मनुष्य

मिथ्यादृग्वृषनाशको गुणहर क्षुद्रान्नवणी दूषक ।
कुष्ठी क्रूरमना विरोधकरण' फलादन सामय ॥
श्विघ्नी मृतकवान्मतश्च्युतजनो दासी निषिद्धांबर ।
स्निग्धांगोऽसिविपथ भुक्तिसमय वर्ज्या गुणहर्गुरैः ॥५५

अर्थ—गुणवान् पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे साधुओंके आहार के समय में मिथ्यादृष्टि, धर्मद्रोही, गुणापहारी, पातिव्रत्यादि गुणोंस रहित स्त्री, भूखा, व्रणी, धर्मनिंदक, कोढी, क्रूरपरिणामी, विरोधी, उच्छिष्ट खानेवाले, रोगी, श्वेतकुष्ठ, मृतकी, मतभ्रष्ट, समाज-बहिष्कृत, मैले कपडेके धारक, तेलसे स्निग्ध शरीरवाले, नेत्रदासा, आदिको वर्जन करें अर्थात् साधुवोंको आहारके समय उपर्युक्त प्रकारके मनुष्य दृष्टिगोचर न हों इसका ध्यान रखें ॥ ५५ ॥

और भी वर्ज्य विषय

विण्मूत्राद्यशुचौ जिनालयगते येनान्नदाने कृते ।
साधुभ्यश्च ■ सप्तजन्मनि भवेन्नित्यमादिकुष्ठी स च ॥
जैन गेहमृषिर्विशेश्च मलिनी भाण्डादिक न स्पृशेत् ।
स्पृष्टे तत्र गृह गतेऽधिकरुजो गच्छेदसौ दुर्गतिम् ॥५६॥

अर्थ—मलमूत्र विसर्जनादिसे उत्पन्न अशुचिकी अवस्थामें जिनालयमें प्रवेश नहीं करना चाहिए। एव उस हालतमें साधुओंको आहार दान भी नहीं देना चाहिए। यदि उस अशौचावस्थामें जिनालयमें प्रवेश करे एव साधुओंको आहारदान देवें तो वह सात जन्मतक कनकुमादि भयंकर रोगसे पीडित होता है। कोढोको सूनकीक

समान जिनमंदिर, व मुनिवासमें प्रवेश करनेके लिए निषेध किया गया है एवं च वह जिनमंदिरके उपकरणोंका बरतन वगैरहको अथ। मुनिदानके उपकरण व बरतनोंको स्पर्श नहीं कर सकता है। यदि वह इस आदेशका आवहेलना कर जिनमंदिर व मुनिवासमें प्रवेश करें एवं उन उपकरण व बरतनों का स्पर्श करें तो वह गाढ सवाग व्याप्त होता है और बादमें वह नरकादि दुर्गतिको+ चला जाता है। इसलिए मुनिदान, जिनपूजादिकार्यमें बहुत ही पवित्रताका व्यवहार करना चाहिये ॥ ५६ ॥

उत्तमदातृयुगलक्षण

पात्रं स्वागतमुक्तमुत्तमवचः पत्युर्निशम्यांगना ।
वन्ध्या पुत्रमदृग्दृशं निधिमरा राज्यं यथा राजसुः ॥
लब्ध्वा धत्त इति प्रमादमतुलं सा तस्य धेनुर्निधिः ।
कल्पद्रुः सदयानघा गुणवती पुण्यात्मिका देवता ॥५७॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पति के, साधुवोंको प्रतिग्रहण कर स्वागत करने के उत्तम वचनोंको सुनकर, वंध्या स्त्री पुत्रके पानेपर, अंधा आखोंके पानेपर, दरिद्री निधिके मिलनेपर, राजपुत्र राज्यके मिलनेपर जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रसन्न होती है वह स्त्री सामान्य स्त्री नहीं है। कामधेनु है। निधि है, कल्पवृक्ष है, दयालु है, पापरहित है, गुणवती है, इतना ही क्यों? वह साक्षात् पुण्यदेवता है ॥ ५७ ॥

प्रशस्तदात्री

वीक्ष्यास्यं श्रमणगणा च यतिनो वाचावलेनांबुना ।
ज्ञात्वा तत्प्रकृति प्रसूरिव शिशोः कालोचितामाहृतिम् ॥

+ दत्तेऽन्ने म्लिच्छिणा येन तद्यावद्धिकामयं ।
स्पर्शं कुर्वति च तं सर्वे पश्चाद्गच्छति दुर्गतिम् ॥

दत्वा तच्छ्रमदोषशांतिकरणीं रसेर्यावं त तया ।
सा लक्ष्मीः सुकृतप्रदा गुणकरी लोकं पवित्रीकृतं ॥५८॥

अर्थ—जिस प्रकार माता बालककी शरीरप्रकृतिको अच्छी तरह जानती है, उसी प्रकार साधुवोंके मुखको या आवाजके बलावलको देखकर उनके शरीरके श्रम व प्रकृतिको जानलेना चाहिये। फिर उस की प्रकृतिके लिए अनुकूल, श्रमदोषोपशमनमें सहायक, संयमवर्धक हलाचित आहारको बुद्धिमत्तासे प्रदान करना चाहिये एवं उस साधु का सरक्षण करना चाहिये। वह स्त्री सचमुचमें लक्ष्मी है, पुण्यदा यिनी है। गुणोंको बढानेवाली है। एवं उसके द्वारा लोक भी पवित्र किया जाता है ॥ ५८ ॥

दृष्ट्वैका मुनिमागतं निधिरसंसर्वार्थपोतागता नौरिव ।
साक्षात्सिद्धरस करागत इव स्वर्धेनुरागगता ॥
इत्यात्माश्रयजाततुष्टिललिता सा स्त्री विना तत्तपः ।
स्वाकृतस्मृतिमात्रतो द्विगुणितो लभ्यस्तपायो गुरोः ॥५९॥

अर्थ—जो स्त्री अपने घरमें मुनियोंके आगमन होने पर ऐसा समझती है कि सर्व संपत्तिसे भरा हुआ जहाज ही आगया है, साक्षा सिद्धरस ही हाथमें आगया है, स्वर्गकी कामधेनु ही आगई है, वह स्त्री अपने पुण्यमय अभिप्रायसे संतुष्ट होती हुई, ऋषिराजके तपश्चर्याके प्रभावके बिना ही अपनी शुभ भावनासे ही उन मुनिराजके तपसे भी द्विगुणित पुण्यको प्राप्त करलेती है। भावनाका फल अचिंत्य है ॥५९॥

पात्रशासन

माता पुत्रमवेक्ष्य लोचनसुधापूर्णं समभ्युत्थिता ।
राजा वा कुलभोऽग्रजो मम पितानदेत्यागत ॥
पुण्यं पुण्यकरं सुखं सुखकरं पात्रं नरा श्राविका—।
रसधो निजदरं सतां हितकरं शसन्ति सदर्शनात्॥६०॥

अर्थ—जिस प्रकार माता अपने प्रिय पुत्रके आनेपर उस [illegible] भरकर देखलेती है व हृदयसे उठकर उसे लेती हुई, " मेरा राजा [illegible]गया, हाथीका बच्चा आगया, भाई आया, बाप आया " इत्यादि [illegible]द्रोंको कहकर अपने हृदयके सातिशय आनंदको व्यक्त करती है, [illegible]सी प्रकार जिनभक्त श्रावक श्राविकायें पुण्यस्वरूप व पुण्यकारक, [illegible]सुखस्वरूप व सुखकारक, सब दुःख विघ्नको दूर करनेवाले, सर्व [illegible]लोकके हितकारी साधु पात्रोंको देखकर भक्तिसे प्रशंसा करते हैं ॥६०॥

> या प्रक्षाल्य पदद्वय निजपतेः समार्च्य गंधादिभि- ।
> रसा विक्षिप्य शुभ नयोर्नमति सा पुण्यानुरक्तांगना ॥
> सा साध्वी च पतिव्रता निजगुणद्वेषे न रागे समा ।
> तस्मान्मर्त्यसुरोद्भव सुखमळं निर्वाणमेति क्रमात् ॥६१॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पतिके चरणकमलोंको धोकर गंधादियोंसे पूजा करती है व वंदना करती है वह स्त्री पुण्यवती है, साध्वी है, पतिव्रता है, उसके गुणके प्रति कोई द्वेष करें या अनुराग करें, दोनोंमें उसके हृदय में समान भावना है। ऐसी साध्वीमणिको पानेवाला पुरुष धन्य है। वह स्वर्गकी देवताओंके द्वारा भोगने योग्य सुखको यथेष्ट पाता है। एवं क्रमसे उसे मुक्तिलक्ष्मी भी प्राप्त होती है ॥ ६१ ॥

दानकार्यमें वर्ज्य

> क्षुदितो मुखवारि गिरन्नशुची रोगी जुगुप्सकोऽसितिविषः ॥
> मुनिरस्तकवळदाने लुब्धो नाभीष्टवस्तुदानाज्ञ ॥ ६२ ॥

अर्थ—मुनियोंको आहारदान देते समय भूखेको, मुंहसे पानी गिरनेवालेको, अशुचीको, रोगीको, ग्लानीको, , नजरदोषीको, लोभीको, व निर्दोष व प्रकृतिके अनुकूल पदार्थ देनेके विषयमें मूर्खको वर्ज्य करना चाहिये अर्थात् ऐसे व्यक्तियोंको आहारदानके कार्यमें, नहीं देना चाहिये ॥ ६२ ॥

दानमें प्रशस्त

शुचि पटु साधुमनोनुकूलपथ्याम्नदान निपुणोऽनुरागी ॥
सुग्व्रती तृप्तमनाः श्रमघ्नो मुक्तिप्रदाने यतिनां प्रशस्त ॥६३॥

अर्थ—मन, वचन, कायसे शुद्ध दानकार्यमें निपुण साधुवोंके मनके अनुकूल संयमवर्धक पथ्य आहारको देनेमें समर्थ, धर्मानुरागी, सम्यग्दृष्टि, व्रती, संतृप्त मनवाला, साधुवोंके श्रमको दूर करनेवाला, यतियोंके आहारदानमें प्रशस्त है ॥ ६३ ॥

सूतका व आहारदान

स्नाता चतुर्थदिवसे पचतु योग्या तु दानयोग्या न ॥
दत्तेऽन्ने तु तथा सा उत्तरजन्मनि च पुत्ररहिता स्यात् ॥

अर्थ—रजस्वला स्त्री चौथे दिनमें स्नानसे शुद्ध होकर घरमें रसोई बना सकती है। वह रसोई घरवालोंके ही काम में आसकती है। वह चौथे दिन मुनिदान नहीं दे सकती। यदि इस आज्ञाको उल्लंघन कर वह दान देवे तो उत्तरभवमें संतानविहीन होती है अर्थात् वंध्या होकर उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

दत्तेऽन्न सूतकी या स्यादवीरा साग्रजन्मनि ॥
न कुर्यात्सूतकी दान पूजा दुर्गतिदु खकृत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—सूतका स्त्री यदि मुनियोंका दान देवें तो वह आगेके जन्म पुत्रसंतानसे रहित होकर उत्पन्न होती है। इसलिए सूतका दान व देवगुरुपूजाको न करें। अन्यथा वह नरकादिदुर्गतिको प्राप्त करती है ॥ ६५ ॥

स्वहस्त कर्तव्य

धर्मेषु स्वामिसेवायां पुत्रोत्पत्तौ श्रुतोधमे ॥
भैषज्ये भोजने दाने प्रतिहस्त न कारयेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—धर्मकार्यमें, स्वामिसेवामें, पुत्रोत्पत्ति में, शास्त्रस्वाध्यायमें, औषधग्रहणमें, भोजनमें व दानमें प्रतिहस्त व्यवहार नहीं करना चाहिये अर्थात् इन कार्योंमें अपने बदले दूसरों से कार्य चलानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। ये कार्य स्वतः ही करने योग्य हैं ॥६६॥

दानफल

श्रीमज्जैनमुनीश्वरेण रचिता भिक्षा हि यस्यालये ।
पञ्चाश्चर्यमिहाभवत्सवचनं तत्तच्छ्रुतं विश्रुतम् ॥
मुख्यं चाहृतिदानमेव मुनयो नित्यं वदत्युत्तमा ।
दातारो महदन्नदानममलं कुर्वंतु सततस्सदा ॥ ६७ ॥

अर्थ—जिस परम निर्मल चारित्रधारी जैनमुनियोंने आहार ग्रहण किया उस घरमें पंचाश्चर्यादि हुए यह बात शास्त्रोंमें सुनी जाती है। सब दानोंमें मुख्य *आहार दान है। इसलिए सज्जनदानियों को उचित है कि वे सदा सर्व दानों में श्रेष्ठ व पवित्र अन्नदान का सदा करें ॥ ६७ ॥

आहार और आदर

सद्यो जीर्यति सादरातिमधुरा दत्ताहृतिर्या तया— ।
नैश्चल्यादृचणो यथा जजंति न ध्रौव्यायुवद्यादरः ॥
अंतर्बाह्यपरार्थदा च सकला भावेन भावार्पिता ।
तद्भावाश्रितपुण्यराशिमतुलं प्रोद्भावयत्यन्वहम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—पुण्यार्जन करनेमें तत्पर श्रावकोंको उचित है कि परम आदरके साथ उत्तम पात्रोंको आहारदान देवें। उन दोनों [आहार व आदर] में आहार तो उसी समय जीर्ण होता है। परंतु आदर

* मुखऽक्षि मुख्य द्रविणे च धान्यं शाखे च मुख्यो विमलागमश्च दानेषु सद्य फलमन्नदानं लोकेषु सर्वेषु मनुष्यलोकः ॥

चिरकाल तक रहता है । जिस प्रकार गाला चना मामें पकर एकदम नष्ट होता है, उसी प्रकार आहार जीर्णताको प्राप्त होता है । परंतु उत्पन्न अंकुर नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार आदर तो नष्ट नहीं हो सकता है । भावशुद्धिके द्वारा दिया हुआ आहार अपने आत्माके लिए हितकर अंतरंग रत्नत्रयादिकको उत्पन्न करनेमें सहायक होता है व बहिरंग ऐश्वर्यादि विभूति को उत्पन्न करनेमें साधक होता है । इसलिए बहुत आदरके साथ प्रतिदिन आहारदान देते हैं वे अनुपम पुण्यराशिका संचित करते हैं ॥ ६८ ॥

> आधारं त्वमृतं वदंति सुधियः पीतरस सद्धर्मवं–
> दोषान्हंति सुखं करोति दहने क्षिप्तं समस्तं दहेत् ॥
> धर्मस्तद्वदयं त्वनेन मनसा पुण्येऽर्पितं पुण्यदं ।
> पापे पापमुपैति नाविकमनो वार्द्धौ यथा वर्तते ॥६९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग घृतको अमृतके नामसे कहते हैं । यदि उस कोई पावें तो सद्धर्मके समान शरीरके समस्त दोषोंका नाश करता है । यदि अग्निमें डाल दिया तो सबको जला भी देता है । इसीप्रकार इस धर्मको भी इस मनके द्वारा पुण्यकार्यमें उपयोग लगाया तो पुण्यार्जन होता है, पापकार्यमें उपयोग किया तो पापार्जन होता है, जिसप्रकार समुद्रमें जहाजको डुबाना या तारना यह नाविकके मनके आधीन है अर्थात् वह अपने मनोविचारके अनुसार कर सकता है इसप्रकार यह मनुष्य अपने मनकी भावनाके अनुसार पुण्य व पापका अर्जन करता है ॥ ६९ ॥

दानमाहात्म्य

> दानं ख्यातिकरं सदा हितकरं संसारसौख्याकरं ।
> नृणां प्रीतिकरं कलसद्गुणकरं लक्ष्मीकरं किंकरं ॥
> स्वर्गावासकरं गतिक्षयकरं निर्वाणसंपत्करं ।
> वर्णायुर्बलबुद्धिवर्धनकरं दानं प्रदेयं बुधैः ॥ ७० ॥

अर्थ—दानकी महिमा अचिंत्य है, वह त्रिलोकमें कीर्ति करनेवाला है, देहात्महितको करनेवाला है, संसारमें सुखको प्रदान करनेवाला है, सबके प्रेमको संपादन कर देनेवाला है, अनेक गुणोंका प्राप्त करा देनेवाला है, संपत्तिको प्रदान करानेवाला है, इच्छित कार्यकी पूर्ति कर देनेवाला है। स्वर्गगतिको प्राप्त करानेवाला व नीच गतिका नाश करनेवाला दान है, विशेष क्या? मोक्षलक्ष्मीको भी प्राप्त करा देता है, देहकांति, आयु, बल, बुद्धि आदिको बढाता है। इस प्रकारकी विशेषताओंसे युक्त दानको बुद्धिमान् लोग सदा करें ॥ ७० ॥

सद्रूपान्वयवृत्तशीलगुणसच्चित्तक्षमातिलक्षणम् ।
धान्यं वाहनवस्तुवित्तपितृमातृभ्रातृभार्यात्मज ॥
चक्रित्वं सकलं शुभं भवसुखं भुक्त्वाष्टजन्मांतरे ।
निर्वाणं कृतिनां भवेत्तदखिलं सत्पात्रदानादिदम् ॥७१॥

अर्थ—सत्पात्रदानके फलसे यह जीव सुंदररूप, विशुद्धवंश, उत्तम चारित्र, पवित्र शील, श्रेष्ठ गुण, विशाल ज्ञान, सुशांतबुद्धि व शुभलक्षणोंको प्राप्त करता है। एवं धान्य, वाहन, वस्तु, धन, पिता, माता, भ्राता व पुत्र आदि सभी इष्टपरिकरोंसे सुसंपन्न रहता है। सकल चक्रित्वपदको प्राप्त करता है। इसप्रकार आठ भवतक संसारके उत्तम सुखोंको भोगकर वह मोक्ष साम्राज्यका अधिपति बनता है॥७१॥

\+ सौधर्मादिषु कल्पेषु जायते पात्रदानिनः ।
सार्धं रमंते निःक्लेशा देवस्त्रीभिस्सदा नराः ॥ ७२ ॥

अर्थ—सत्पात्रदानी जीव सौधर्मादि स्वर्गीय कल्पोंमें जाकर जन्म

\+ अपात्रदानिनः केचि मृत्वा षण्णवतिष्वपि ।
अंतद्वीपेषु जायंते लांगूलाद्यभिमानराः ॥
सुपात्राय प्रदत्तेऽन्ने स्वशक्त्या भक्तिपूर्वकम् ।
कुदानिमानरा केचिज्जायते भोगभूमिजाः ॥

रत है और वहां देवांगनाओंके साथ क्लेशरहित होकर सदा सुख भोगते हैं ॥ ७२ ॥

आयव्ययविवेक

आयो वस्तु कियान्व्ययो मम विभज्यालान्य देवाय य ।
दानायापि गृहाय चेतसि सदा कुर्यान्निजार्थव्यय ॥
यो वर्तते भवेद्व्रती स लभते पुण्य धन कापिका ।
भृत्यायेव परिग्रहाय च करायापसयायात्मन ॥ ७३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् किसान सदा इस बातका विचार किया करता है कि मेरे खेतमें उत्पन्न कितना होगा, और व्यय कितना होगा। उसमें खेती करनेवाले नौकरोंको मुझे कितना देना होगा। घर कुटुम्बजनोंको कितना देना होगा। सरकारी कर कितना भरना होगा एवं बाकी आदिका खर्चा व अन्य खर्चा कितना होगा। इत्यादि प्रकारसे आय व्ययको विचार कर खेती करनेसे उसे लाभ होता है। इसी प्रकार पुण्यधनको अर्जन करनेवाला श्रावक इस बातका विचार करें कि मुझे आय कितना है और व्यय कितना है। मेरी संपत्तिसे देवपूजाके लिए कितना लगाना है। दानके लिए कितना लगाना है। कुटुंबियोंके पोषणके लिए कितना लगाना है। मुझे उसे किस प्रकार उपयोग करना चाहिये। इत्यादि विषयको विवेकपूर्वक समझकर धनका उपयोग करे तो बाह्यसंपत्तिके साथ अंतरंग संपत्ति (पुण्य) भी बढती है ॥७३॥

आयव्ययमनालोच्य यो व्ययत्यनिशं स ना ।
विनश्यत्सर्वदा तस्य सुखं स्वप्नेऽपि दुर्लभम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने आयव्ययको विचार न कर व्यय करता जाता है वह अवश्य ही एक दिन नष्ट होता है अर्थात् उसे दिवाला निकालना पडता है। उसे स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता है ॥७४॥

गुरुसेवा

दहति दुरितकक्षं जन्मबंधं लुनीते ।
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ॥
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७५ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनभक्तों के द्वारा की हुई वृद्धसेवा अर्थात् गुरुजनसेवा वनाग्निके समान पापारण्यको जला देता है, दातृजनोंके जन्मबंधको नाश करती है। आज मव्रत धारण करनेका सामर्थ्य प्रदान करती है, भावशुद्धिको प्राप्त कराता है, विशेष क्या ? इस संसारके तीरपर इस आत्माको ले जाकर ज्ञानराज्यमें अधिष्ठित करता है ॥७५॥

असहमिह दरिद्रं मारयत्याशुलक्ष्मी- ।
रगद इव विशिष्टो दुष्टरोगानशेषान् ॥
गिरिमिव पविरात्मा शेषपापं निहन्ति ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७६ ॥

अर्थ—गुरुजनोंकी सेवाके फलसे ही असहनीय दरिद्रता भी दूर होकर लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। अमृतौषध जिसप्रकार समस्त रोगोंको दूर करता है, वज्रायुध जिसप्रकार पर्वतको तोड देता है इसी प्रकार यह गुरुसेवा आत्माके समस्त पापोंको नष्ट करती है ॥ ७६ ॥

रविरिव दुरितान्ध्यं नाशयत्यधकारं ।
पटुतरजठराग्निः क्षिप्रमाहारदोषान् ॥
भवभवकृतकर्मव्यापदुग्रामयादीन् ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७७ ॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा सूर्यके समान पापरूपी अंधकारको नष्ट करती है। तीव्र जठराग्नि जिस प्रकार आहारके समस्त दोषोंका नाश

करती है उसी प्रकार भवभवमें अर्जित कर्मसमूह व तत्फलरूप दुष्ट रोगादिकोंको शीघ्र नष्ट करती है ॥ ७७ ॥

निजपतिवदनाग्रे येन सेवा कृताता ।
हृदि जनितमहोऽसौ तस्य भाग्यं ददाति ॥
अविलयमिह राजा नित्यसौख्यं च दत्ते ।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥ ७८ ॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि किसी सेवकने स्वामीकी सेवा निष्ठापूर्वक की तो स्वामी उससे प्रसन्न होता है, और उस प्रसन्नता व उत्साहसे उस सेवकको अनेक संपत्तियां प्रदान करता है । उसकी संपत्ति बढती हुई, क्रमसे वह नित्य सुखको प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार यदि गुरुजनोंकी सेवा की तो यदि वे प्रसन्न हो जाय तो उस प्रसन्नताके उत्साहमें वे भक्तोंको पुण्यधन प्रदान करते हैं, उसके द्वारा उस सेवककी संपत्ति बढकर क्रमशः वह नित्यसुखको प्राप्त करता है । इसलिए आत्महितैषी भव्योंको उचित है कि वे सदा गुरुसेवामें तत्पर रहें ॥ ७८ ॥

वृद्ध कौन है ?

चपस्तपोज्ञानकुलैर्विशुद्धैरखंडितैश्चारुचरित्रवर्गैः ।
विशुद्धपुण्यैरभिवृद्धिमेति स एव वृद्धो वयसा न वृद्धः ॥७९॥

अर्थ—विशुद्ध आचाम्ल अनशनादि तप, ज्ञान, कुल, अखंडित चारित्र व विशुद्ध पुण्यके द्वारा जो बढे हैं व बढते हैं उनको वृद्ध कहते हैं, उमरसे जो बूढे हैं उनको वृद्ध नहीं कहते हैं । परंतु इन बातोंसे जो बढे हैं उनको वृद्ध या गुरु कहते हैं ॥ ७९ ॥

यो गुरुसेवां साध्वीं करोति तस्यालयेऽत्र पद्माश्रयं ।
शास्त्रसिद्धं कर्तव्या सर्वदा हि गुरुसेवा ॥८०

३

अर्थ—जो त्रिकरण शुद्धिपूर्वक उत्तम पात्रोंकी सेवा करता है उसके घरमें पंचाश्चर्य वृष्टि होती है यह शास्त्रसिद्ध विषय है। अतएव सदा गुरुसेवा करनी चाहिये ॥ ८० ॥

धर्मेऽम्बुधौ भ समये चतुर्थ रत्नाश्रिते शुक्तिपुटे सुपात्रे।
दत्ता सुवार्जा इव सांत मुक्तास्ते दातृलोकास्तु किमत्र चित्र॥

अर्थ—जिसप्रकार रत्नके आश्रयभूत समुद्रमें स्वातिनक्षत्रमें शरद् ऋतुमें सीपके पुटमें पडे हुए जलबिंदु मुक्ता (मोती) होते हैं, उसी प्रकार रत्नत्रयके आश्रयभूत धर्मरूपी समुद्रमें चतुर्थकालमें उत्तम पात्रमें उत्तम दाताओंके द्वारा दिये गये आहारोंसे वे दाता मुक्त होते हैं इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥ ८१ ॥

पुण्यवान्दाता

वित्तं नास्ति तदस्ति चेदपि मनो नो तत्तदस्तीति चे-।
त्कारस्तीपरमुसहायता तदपि तत्सा चास्ति चेन्नास्ति यद्॥
पात्र तत्तदपीह सा तदपि चत्सतीति यस्यानिश॥
स्तिम भावसमुद्रपारगतवानाहुस्तमेक बुधाः॥ ८२ ॥

अर्थ—लोकमें दाताके लिए उपयुक्त सभी परिस्थितियोंका मिलना बडा कठिन है। दाताको यदि दान देनेकी उत्कट भावना हो तो उसकी पूर्तिकेलिए कहीं धनका अभाव है, कदाचित् धन हो तो मनका अभाव रहता है। मन और धन दोना रहनेपर उसे दूसरोंकी सहायता नहीं मिलती। कदाचित् धन हो, मन हो, दूसरोंकी सहायता भी हो तो उत्तमपात्र नहीं मिलते हैं। इसप्रकार कुछ न कुछ न्यूनता रहती है ये सभी बातें जिस दाताको एक साथ मिलती हैं वह सचमुचमें ध[illegible] है। उसे बुद्धिमान् लोग संसारसागरके बिल्कुल तीरमें पहुंचा हुआ कहते हैं ॥ ८२ ॥

आहारदानमें सर्वदान

समस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो यमः ।
सर्वे तेन वितीर्यंते येनाहारो वितीर्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—जिस दाताके द्वारा आहारदान दिया जाता है उसके द्वारा समता, तप, दया, धर्म, नियम व यमरूपी संयम आदि सभी गुण दिये जाते हैं ऐसा समझना चाहिये । आहार ग्रहण करनेसे इन गुणोंकी वृद्धि होती है ॥ ८३ ॥

गुरुभक्तिफल

गुरुपदनतेस्सुगोत्रं तदुपास्तेस्सर्वसभ्यता दानात् ।
भोगकरी श्रीः पूता कीर्तिर्भक्तिर्भवद्गुरून् भजताम् ॥८४॥

अर्थ—गुरुओंके चरणमें भक्तिसे नमस्कार करनेसे उच्च गोत्रका बंध होता है । उनकी उपासना करनेसे स्वतः सबके द्वारा उपास्य होता है । दानसे भोगने योग्य अटूट संपत्ति मिलती है । गुरुओंकी पूजा करनेसे पवित्र कीर्ति, व यथार्थ भक्ति प्राप्त होती है ॥ ८४ ॥

सम्यग्दृष्टिज्ञानचारित्रवद्भ्यो ।
योगिभ्यो यैर्दत्तमाहारदानम् ॥
ते सद्दृष्टिज्ञानचारित्रवन्त-
स्तेषामात्मा स्यात् च्युताब्दो यथार्कः ॥ ८५ ॥

अर्थ—जो दाता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे अलंकृत योगियोंको आहारदान देते हैं वह स्वयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रको धारण करते हैं । उन दाताओंकी आत्मा मेघके आच्छादनसे रहित सूर्यबिंबके समान निर्मल होती है ॥ ८५ ॥

उत्तमदाता

अपत्यफलिन पक्काहूतानलासत्फला ।
नूनं क्वचिदुत्तमाः पनसा यथा ॥ ८६ ॥

अर्थ—कोई उत्तमदानी पनसके फलके समान रहते हैं। पनसक फलमें यह विशेषता है कि वह फल पहिलेसे पुष्प नहीं छोडा करता, एकदम फल होता है और फलके बाहरका भाग एकदम कांटोंसे भरा हुआ रहता है। परंतु अंदर फल बहुत व मिष्ट रहता है। एवं खानेवालोंको तृप्त कर देता है। इसी प्रकार उत्तम दाता भी रहते हैं। पनस जिस प्रकार पहिलेसे फूल छोडकर लोगोंको फल होनेकी बात प्रकट नहीं होने देता है, उसी प्रकार उत्तमदाता भी 'मैं दाता हूं' इस प्रकार लोगोंको ढिंडोरा पीटकर नहीं बतलाया करते हैं। अनेक कंटक व आपत्तियोंसे घिरे रहनेपर भी दूसरोंको सत्फल ही देनेवाले, उपकार करनेवाले एवं पात्रोंको तृप्ति करनेवाले ये दानी रहते हैं ॥ ८६ ॥

सत्कुसुमफलवन्त आम्राः फलानि यावच्च संति तावदिमे।
तरतमफलानि ददते यथा तथा दानिनो विराजते ॥८७॥

अर्थ—जैसे आम्रका वृक्ष पहिले फूल छोडकर बादमें फलको छोडता है अतएव उसमें अनेक प्रकारके तरतम फल होते हैं। इसी प्रकारके भी दाता लोकमें होते हैं ॥ ८७ ॥

सत्पात्रदान फल

राजेवामलसौख्यदार्थमनिशं दत्ते च दोषान्यथा।
मंत्रीवाशु तिरस्करोति सुगुणान्व्यक्तीकरोतीव सन् ॥
क्षुद्रान्यक्कुरुतेऽर्कवद्विपगिवाशेषामयान्मोचय-।
त्येना भेदयतीति धर्मगुरुवन्मातेव रक्षत्ययं ॥८८॥

अर्थ—सत्पात्रदानसे उपार्जित पुण्य इस मनुष्यको राजाके समान अनेक उत्तम पदार्थोंको सदा प्रदान करता है। मंत्राके समान दोष व चिंताको दूर करता है। सज्जनोंके समान सुगुणोंको व्यक्त करता है। सूर्यके समान क्षुद्रोंका तिरस्कार करता है। वैद्यके समान समस्त

रोगोंको दूर करता है। धर्मगुरुके समान पापको दूर करता है, विशेष क्या ? साक्षात् माताके समान संरक्षण करता है ॥ ८८ ॥

> भूताद्यावपि वज्रपंजरवदंभ्यादौ तरंडो यथा ।
> शीते वह्निवदौष्णिके हिमशुवद्रोगेऽपि पीयूषवत् ॥
> ज्ञाने वागिव दर्शने तरणिवद्युद्धे जय दुर्जये ।
> कुर्यादघावति वारि वाघविपिनं भस्मीकरोत्यग्निवत् ॥८९॥

अर्थ—स पात्रदानसे उपार्जित पुण्यफल भूतप्रेतादिक की बाधामें वज्रपंजरके समान रक्षण करता है, समुद्रमें तरणसाधनके समान बचाता है, कडक शीतमें अग्निके समान, उष्णकालमें चंद्रके समान, रोगमें अमृतके समान, ज्ञानमें सरस्वतीके समान, दर्शनमें सूर्यके समान, दुर्जय युद्धमें जयलक्ष्मीके समान संरक्षण करता है । जलके समान पापोंको धो टालता है । पापरूपी जंगलको अग्निके समान जला देता है ॥ ८९ ॥

पुण्यस्वरूप

> शुक्तिस्थित स्थितमुक्तव । करंडस्थितरत्नवत् ॥
> अब्दावृतार्कवत्पुण्य । कुंभांतस्थितदीपवत् ॥ ९० ॥

अर्थ– यह पुण्य सीपके अंदर छिपी हुई मोतीके समान, करण्डमें स्थित रत्नके समान, बादलसे छिपे हुए सूर्यके समान, कुंभके अंदर रखे हुए दीपकके समान इस आत्मप्रदेशमें अंतर्धान होकर रहता है ॥ ९० ॥

पुण्यकी प्रशस्तता

> न हन्यते यथा पुण्यं दुष्कृतेन मनागपि ।
> गाधभूमिगतैरंडबीजवत्कणिको यथा ॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि इस जीवने विपुल पुण्यका संचय किया तो उस पुण्य

को पापकर्म नाश नहीं कर सकता है। जिस प्रकार जमीनमें थोडा खोल गया हुआ एरड का बीज नष्ट नहीं होता है। जैसे श्रेणिक राजाने मुनियोंको उपसर्ग किया तो भी उसका पुण्य उसके पूर्वसंचित विपुल पुण्यके होनेसे उसका अधिक घात नहीं कर सका, उस पुण्यके बलपर आगे उसने तीर्थकर प्रकृतिका बंध किया ॥ ९१ ॥

भक्तिविशेष

यापयति यापयिष्यति, साधून्स्वयमेव य पुमाननिशं ॥
पूर्णाक्षयाकलङ्काविघ्नाभयदानवान्स सुखी ॥ ९२ ॥
स्तभयति सर्वविघ्नान् प्रजादिपीडाश्च यत्प्रसादेन ॥
इहपरसुखयुगयमनुभूत्वा सुखपनतमपि लभते ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो श्रावक साधुओंको पात्रदान देकर स्वतः उनको भजता है या अनेक सज्जनोंके साथ भक्तिसे पहुंचाता है वह पूर्ण अक्षय, अकलंक व विघ्नरहित अभयदानको प्राप्त करता है व सुखी होता है। जो श्रावक साधुओंके मार्गमें आये हुए सर्व विघ्नोंको दूर करता है, प्रजा आदिसे उत्पन्न पीडाओंको दूर करता है, वह उस पुण्यके प्रसादसे इहपरसुखको प्राप्तकर अनंतसुखात्मक मोक्षको भी प्राप्त करता है ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

स्वक्षेत्रं कृषिको यथा त्वभयदानत्युक्तिभक्त्यन्वितः ।
स्वां भार्यामिह यापयन्निव सदा तत्तातगेहं प्रभुः ॥
राजा वा निजनीवृत स्वभयदानत्युक्तिभक्तिविना ।
दत्त्वान्नं स परं सुखं च लभते पात्राय दाता कथं ॥९४॥

अर्थ—जिसप्रकार किसान अपने क्षेत्रमें अत्यधिक श्रद्धा व भक्तिसे युक्त होकर उसके संरक्षण करनेके लिए प्रयत्न करता है। एवं जिस प्रकार कोई सज्जन अपनी भार्याको उसके पिताके घर बहुत सुख श्रद्धा के साथ पहुंचाता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने प्रजावर्गको

बहुत ही आदरके साथ पालन करता है तब वे सुखी होते हैं। उसी प्रकार बहुत आदर व भक्तिके साथ जो श्रावक दान देते हैं वे सुखी होते हैं। बिनाभक्तिके आहारदान देनेसे सुखी कैसे होसकते हैं? कभी नहीं ॥ ९४ ॥

अंतरायफल

भिक्षाकालेन्तरायांस्त्रिकरणजनितान्येऽत्र कुर्वंति सपा।
चतस्थां योग्यलक्ष्मीं क्षपयति स च यां बाह्यलक्ष्मीं बलाख्या॥
वाक्पस्थो देहिवाच स्थगयति सकलं जाड्यगाद्गद्यमोक्य।
शारीरा देहसाताकरयुवतिधनाहारभूषादिनाशम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—साधुवोंके आहारके समयमें जो व्यक्ति मन वचन कायसे उनको मानसिक, वाचिक व कायिक आघात पहुचाते हुए विघ्न करते हैं उनको उस पापके फलसे अनेक प्रकारसे हानि उठाना पडती है। यदि मानसिक क्षोभ साधुवोंको पहुचाया हो तो उस पापीका मानसिक सामर्थ्य व बल कम होता है। एवं बाह्यलक्ष्मी भी कम जाती है। यदि वाचनिक अतराय हो तो उस पापीके लिए वाचनिक शक्तिकी हीनता होता है। वचनमें जाड्यता (अज्ञान) बढता है, गद्गदता अर्थात् तोतलापना आता है। विशेष क्या? क्रमश मूकता ही आती है। यदि देह सबंधी विघ्न किया हो तो देहका सुख, सासुख, धन, आहार, आभरण आदि का नाश हो जाता है ॥ ९५ ॥

सुकृती व पापीका जीवन

उप्त धन्वत्या इव कल्पयुग्म
सम्यक् क्रियायां फलति द्रुत तत्।
दत्तन किंचित् फलमक्रियायां
चिरायु सुकृती गतायु ॥ ९६ ॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि पापियोंका जीवन दीर्घ हुआ करता है, पुण्यात्मा लोग अल्पजीवी होते हैं। इसका क्या कारण है प्रकृति ही ऐसी है। लोकमें केलेका वृक्ष व एक जामिकद इस प्रका दोनोंका बीज बोनेपर करके वृक्षको देशकालोचित अनेक क्रियाओं करनेपर भी फल कम देता है। परंतु थोडासा क्रिया करनेपर भी फ अधिक फल देता है। इसी प्रकार पापियोंका जीवन अधिक होता है पुण्यात्माओंका जीवन अल्प होता है ॥ ९६ ॥

उपकार्यपात्र

स्वस्वामिविरुद्धलोपकारविधिना भृत्यांगनानां भय।
सद्यस्तत्पतिना भवेदिव सदा तत्कर्म सवर्जयेत् ॥
पुण्यात्पात्रसुबंधुसेवकसतीपुत्रादिकान्पोषितो।
नित्यं नान्यजनाय धर्मनिपुणैर्दानं च देयं बुधात् ॥९७॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि अपने स्वामीके शत्रुओंको किसी सेवकने उपकार किया तो उससे स्वामी क्रोधित होकर अनेक प्रकारसे हानि कर सकता है। इस प्रकार का भय उन सेवकोंको व उनकी स्त्रियोंको सदा रहता है। इसलिए ऐसे कार्यको कभी नहीं करना चाहिए। बुद्धिमानोंका उचित है कि सत्पात्र, अपने उत्तम बंधु, सेवक, अनाथ स्त्रिया, बालक आदिका अपने धनसे पोषण करें। अन्य जनोंको देनेकी जरूरत नहीं ॥ ९७ ॥

भक्तिफल

किं दुष्टा पुरि सावधौ तलवरे दोषान्यथा कुर्वते।
पुष्टिर्येन बले यदीयमहसा लोकेषु नो वैरिण ॥
क्रूराश्चौतरिता' मण्डयति तव गूयं निरभ्रे यथा।
भक्तिर्येऽधवल जने गुरुजने यस्यास्त्यद्य तस्य न ॥९८॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि पापियोंका जीवन दीर्घ हुआ करता है, पुण्यात्मा लोग अल्पजीवी होते हैं। इसका क्या कारण है। प्रकृति ही ऐसा है। लोकमें केलेका वृक्ष व एक जमीकंद इस प्रकार दानोंका बीज बोनेपर केलेके वृक्षको देशकालोचित अनेक क्रियाओंके करनेपर भी फल कम देता है। परंतु थोडासी क्रिया करनेपर भी कंद अधिक फल देता है। इसी प्रकार पापियोंका जीवन अधिक होता है, पुण्यात्माओंका जीवन अल्प होता है ॥ ९६ ॥

उपकार्यपात्र

स्वशत्रुमित्रकृतोपकारविधिना भृत्यांगनानां भय।
सद्यस्तत्पतिना भवेदिह सदा तत्कर्म संवर्जयेत् ॥
पुत्र्यात्पात्रसुबंधुसेवकसतीपुत्रादिकान्प्रीतितो ।
नित्यं नान्यजनाय धर्मनिपुणैर्दानं च देयं बुधात् ॥९७॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि अपने स्वामीके शत्रुओंको किसी सेवकने उपकार किया तो उससे स्वामी क्रोधित होकर अनेक प्रकारसे हानि कर सकता है। इस प्रकार का भय उन सेवकोंको व उनकी स्त्रियोंको सदा रहता है। इसलिए ऐसे कार्यको कभी नहीं करना चाहिए। बुद्धिमानोंको उचित है कि सत्पात्र, अपने उत्तम बंधु, सेवक, अनाथ स्त्रियां, बालक आदिका अपने धनसे पोषण करें। अन्य जनोंको देनेकी जरूरत नहीं ॥ ९७ ॥

भक्तिफल

किं दुष्टा पुरि सावधो तलवरं दोषान्यथा कुर्वते।
पुष्टिर्यन्न बलं यदीयमहमा लोकेषु नो वैरिणं ॥
क्रूराश्चांतरिता प्रणश्यति तमः सूर्यं निरभ्रे यथा।
भक्तिर्धर्मफलं जने गुरुजने यस्यास्त्यघं तस्य न ॥९८॥

उपदिष्ट तत्वोंके अनुकूल प्रवर्तन करने को तैयारी उसमें होना चाहिये, प्रस्थानको लेकर पुरप्रवेश तक सावधिक दीक्षासे दीक्षित होना चाहिये ।

कहा भी है—

रोगे विदेशगमने जिनोत्सवे धर्मकार्यकरणेषु ।
रणराजगणगमने सुजनोऽवधिदीक्षितोऽत्र भवितव्य ॥

रोगकी हालतमें, विदेशप्रयाणमें, जिनोत्सवके प्रारंभमें, धर्म कार्यके प्रारंभमें, युद्धको जाते समय, राजमहलको जाते समय, सज्जन को उचित है कि वह उस कार्यकी पूर्ति होने तक कुछ न कुछ नियम व्रत आदि लेवें । अपने स्वामी, गुरु, विद्वान् धार्मिकजनोंकी सेवा करने योग्य एवं पुण्यसाधक परिग्रहोंके संरक्षण करने योग्य अर्थका उपार्जन करनेके लिए मनुष्यको उद्योग करना चाहिये । व्यापारादिक कार्यमें जाते समय दुर्धर उपसर्ग करनेवाले चोर दुष्ट मृग सर्पादिकके द्वारा कोई आपत्ति आवें तो उसे निराकरण करनेके लिए सज्ज रहना चाहिये । आवश्यकता पडे तो राजा व उनके भृत्योंको धनादि दानसे परितुष्ट करें और लोगोंको संतुष्ट करनेवाले वचनोंको बोले, अपने लिए व्यापार करने योग्य नगरमें प्रविष्ट होकर अपने हृदयमें अपने दयारसप्लावित भावनाओंको रखते हुए सर्व व्यवहारिक जनोंके साथ अनुकूल प्रवृत्ति से व्यवहार करें । विविध विषयोंको ध्यानमें लेकर द्रव्योपार्जनकी वृत्तिमें दूरदर्शितासे काम लेवें । जिस पदार्थके उनसे कोई प्रकारकी हानि नहीं हो एसे पदार्थोंका संग्रह करें । अपने वचन को दृढता से साधन करें । लोकव्यवहारको देखें । ऐसे निर्दोष व्यवहारसे जो व्यापार करता है उसका धन पात्रोंको दान देने योग्य है । क्यों कि वह वैश्य स्वतः साधुजनोंके समान वृत्ति रखकर धनार्जन करता है, वही हितकर है । वही उत्तमपात्र कहलाता है ॥ १९ ॥

धर्मात्मासत्कार

धर्मप्रभावनायै ये वाकायार्थैस्सहायिनः ।
तेषां प्रियोक्तिभिश्चित्तं तर्पयेदुचितैर्धनैः ॥ १०० ॥

अर्थ—धर्मप्रभावना करनेके लिए जो मन वचन कायसे व धनसे सहायता करते हैं उनका प्रियवचन व उचित द्रव्योंसे सत्कार करना चाहिये ॥ १०० ॥

यत्नं कृत्वा च यत्नेन धर्मकार्यं प्रवर्द्धते ।
कर्तव्या सत्कृतिस्तस्य चित्तक्षोभं न कारयेत् ॥१०१

अर्थ—जो व्यक्ति धर्मकार्यकी वृद्धि करता है, उसका सत्कार करना चाहिये उसके चित्तको क्षुब्ध नहीं करना चाहिये ॥१०१॥

दानफल

दत्तं दानमयाचिते सुविभवं पात्रे ददात्यद्भुतं ।
दैवाद्याचितदत्तमल्पविभवं सप्रार्थनाज्जायते ॥
नीत्वा तत्समयं मनः कलुषयन्दत्तेऽपि दत्तं सतां ।
निःस्वं क्लेशकरं शपतमनुजं भूपं भजत्यत्र तं ॥ १०२ ॥

अर्थ—अयाचित पात्रमें दान देनेपर उसके फलसे चक्रवर्ति देवेंद्रादिकके विभव प्राप्त होते हैं। याचितपात्रमें दान देनेसे अल्प विभव प्राप्त होता है। यदि पात्रने अधिक प्रार्थना की, दाताने दानके समयको टालकर मनको संक्लिष्टकर दान दिया तो वह दरिद्री होता है, धन मिले तो भी उस धनसे कष्ट ही होता है। उस मनुष्यका धन दुष्ट राजाको सेवन करनेवालेके समान है ॥ १०२ ॥

दातृवात्सल्य

माता पुत्रीसौख्यसंरक्षणार्थ्या ।
प्रीत्या तं जामातरं रक्षतीव ॥
दाता सद्धर्मोपकर्तारमेनं ।
स्वेनार्थेनानारतं सर्वजीवम् ॥ १०३ ॥

उपदिष्ट तत्वोंके अनुकूल प्रवर्तन करने की तैयारी उसमें होनी चाहिये, प्रस्थानको लेकर पुरप्रवेश तक सावधिक दीक्षासे दीक्षित होना चाहिये।

कहा भी है—

रोगे विदेशगमने जिनोत्सवे धर्मकार्यकरणेषु ।
रणराजगणगमने सुजनोऽवधिदीक्षितोऽत्र भवितव्य ॥

रोगकी हालतमें, विदेशप्रयाणमें, जिनोत्सवके प्रारंभमें, धर्म कार्यके प्रारंभमें, युद्धको जाते समय, राजमहलको जाते समय, सज्जन को उचित है कि वह उस कार्यकी पूर्ति होने तक कुछ न कुछ नियम व्रत आदि लेवें। अपने स्वामी, गुरु, विद्वान् धार्मिकजनोंकी सेवा करने योग्य एवं पुण्यसाधक परिग्रहोंके सरक्षण करने योग्य अर्थका उपार्जन करनेके लिए मनुष्यको उद्योग करना चाहिये। व्यापारादिक कार्यमें जाते समय दुर्धर उपसर्ग करनेवाले चोर दुष्ट मृग सर्पादिकके द्वारा कोई आपत्ति आने तो उस निराकरण करनेके लिए उसे समर्थ रहना चाहिये। आवश्यकता पड़े तो राजा व उनके भृत्योंको धनादि दानसे परितुष्ट करें और लोगोंको संतुष्ट करनेवाले वचनोंको बोले, अपने लिए व्यापार करने योग्य नगरमें प्रविष्ट होकर अपने हृदयमें अत्यंत दयारसपूरित भावनाओंको रखते हुए सर्व व्यवहारिक जनोंके साथ अनुकूल प्रवृत्ति से व्यवहार करें। विविध विषयोंको ध्यानमें लेकर द्रव्योपार्जनकी वृत्तिमें दूरदर्शितासे काम लेवें। जिस पदार्थके लेनेसे कोई प्रकारका हानि नहीं हो ऐसे पदार्थोंका संग्रह करें। अपने वचन को दृढता से साधन करें। लोक व्यवहारको देखें। ऐसे निर्दोष व्यवहारसे जो व्यापार करता है उसका धन पात्रोंको दान देने योग्य है। क्यों कि वह वैश्य स्वतः साधुजनोंके समान वृत्ति रखकर धनार्जन करता है, वही हितकर है। वही उत्तमदाता कहलाता है ॥ ९९ ॥

धर्मात्मासत्कार

धर्मप्रभावनार्थं ये वाक्कायार्थैस्सहायिनः ।
तेषां प्रियोक्तिभिश्चित्तं तर्पयद्दुचितैर्धनैः ॥ १०० ॥

अर्थ—धर्मप्रभावना करनेके लिए जो मन वचन कायसे व धनसे सहायता करते हैं उनका प्रियवचन व उचित द्रव्योंसे सत्कार करना चाहिये ॥ १०० ॥

यत्न धनं च सर्वथा धर्मकार्ये प्रवर्द्धते ।
कर्तव्या सत्कृतिस्तस्य चित्तक्षोभं न कारयेत् ॥१०१

अर्थ—जो व्यक्ति धर्मकार्यकी वृद्धि करता है, उसका सत्कार करना चाहिये उसके चित्तको क्षुब्ध नहीं करना चाहिये ॥१०१॥

दानफल

दत्तं दानमयाचिते सविभवं पात्रे ददात्यद्भुतं ।
दैवाद्याचितदत्तमल्पविभवं समार्थनाज्जायते ॥
नीत्वा तत्समयं मनः कलुषयन्कल्पेऽपि दत्तं सता ।
निःस्वं क्लेशकरं शपतमनूतं भूपं भजत्यत्र ते ॥ १०२ ॥

अर्थ—अयाचित पात्रमें दान देनेपर उसके फलसे चक्रवर्ति देवेन्द्रादिकके विभव प्राप्त होते हैं । याचितपात्रमें दान देनेसे अल्प विभव प्राप्त होता है । यदि पात्रने अधिक प्रार्थना की, दाताने दानके समयको टालकर मनको संक्लिष्टकर दान दिया तो वह दरिद्री होता है, धन मिले तो भी उस धनसे कष्ट ही होता है । उस मनुष्यका धन दुष्ट राजाको सेवन करनेवालेके समान है ॥ १०२ ॥

दातृवात्सल्य

माता पुत्रीसौख्यसंरक्षणाभ्यां ।
प्रीत्या तं जामातरं रक्षतीह ॥
दाता सद्धर्मोपकर्तारमेनं ।
स्वेनार्थेनानारतं सर्वजीवम् ॥ १०३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार माता अपना पुत्रीका सुखके साथ संरक्षण करनेके उद्देश्यसे जमाईका रक्षण करता है, उसीप्रकार सद्धर्मको उपकार करनेवाले समस्त सार्वोको अपने द्रव्यसे उपकार करना चाहिये ॥ १०३ ॥

मिथ्यादृष्टि होनेपर भी सहकार

धान्यानि लब्धु कृषिको ददाति ।
क्षेत्रक्रियाकारिजनाय वित्तम् ॥
यथा तथैवात्मवृषक्रिया ये ।
कुर्वंति तेभ्यो द्रविणो विदध्यात् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अष्टादश प्रकार के धान्योंको प्राप्त करनेके लिए किसान खेत करनेवाले मनुष्योंको धनादिकको देता है, इसी प्रकार अपने धर्मकार्योंको करनवाले जो सज्जन हैं, उनको धनादिक देकर उपकार करना चाहिये ॥ १०४ ॥

भद्रफल

निर्दोषसदृग्वृत्तचरित विदत ग्रामीणदेवाश्च नरा दधते ।
सम्यक्त्ववाधा परिहार्य तस्मान्निर्दोषभक्ति कुरु जैनधर्मे ॥१०५

अर्थ—निर्दोष सम्यग्दर्शन व चारित्रका धारण करनेवाले भव्यकी अनेक बाधाओंको भी दूर कर ग्रामीणदेवतायें, जलदेवतायें व वनदेवतायें एव मनुष्यगण रक्षण करते हैं । इसलिए हे भव्य ! जिनधर्म में विशिष्ट भक्तिको करो ॥ १०५ ॥

स्वग्रामागतसैनिकं च नृपति शप्यत्यसौ किं नृपो ।
योद्धार शपतीह किं रिपुचमू दृष्ट्वा समाश्वसति ॥
चित्रं मूढजनं शपत्यनुदिनं निष्कारणं तिष्ठ भो !
दुष्टेषु स्वसु भिक्षुकोऽपि विहरन्वीथीषु मौनी यथा ॥१०६॥

अर्थ—जिस प्रकार वीर राजा अपने नगरको घेरे हुए शत्रुराजा व उसकी सेनाके योद्धाओंको गाली नहीं दिया करता है, उलटा उनकी वीरताको देखकर प्रशंसा करता है, उसी प्रकार सबको अपने आत्माको न्यायवृत्तिकी ओर लेजाना चाहिये। परंतु आश्चर्य है कि मूर्ख लोग रात्रिदिन दूसरे बंधुओंको गाली वगैरह देकर दुर्वचन कहते हैं। परंतु बुद्धिमानोंको उचित है कि जिस प्रकार मुनिराजके मार्गमें जाते समय दोनों ओरसे मोटे ताजे कुत्तोंके भोंकने पर भी वे मौन धारण करते हुए जाते हैं, उसी प्रकार बडे पुरुषोंको ऐसी गालियों की उपेक्षा करनी चाहिये ॥ १०६ ॥

कुत्तेके समान कृतज्ञ रहो

जीवासीत स * रात्रिजागर इव स्वस्वामिसम्प्राप्यथ-
स्वस्मिन्कुप्यति मौनवानिह भवान् स्वस्वामिभक्तो यथा।
घाते तेन भपन्न तत्र न दशन् कुप्यन् कृतज्ञो यथा
भक्तः स्वामिनि जागरोऽघतिमिरे भूत्वा कृतज्ञो भुवे ॥ १०७

अर्थ—हे सुखार्थी जीव! तू कुत्तेके समान कृतज्ञ बनना सीख। जिस प्रकार यह कुत्ता अपने स्वामीके सुखसे निद्रित होनेके बाद स्वयं जागरण करते हुए अपने मालिकके ही नहीं अडोस-पडोसके घरको भी संरक्षण करता है। स्वामी यदि उसपर क्रुद्ध हुआ तो वह मौनधारण कर लेता है, इतना ही नहीं यदि स्वामीने उसे मारा तो भी अपने स्वामीको काटता नहीं, भोंकता भी नहीं, सदा स्वामिभक्त ही बना रहता है। इसी प्रकार पापांधकाररूपी रात्रिके होते हुए धर्म व धर्मगुरुरूपी स्वामीके प्रति हे जीव! तू कृतज्ञ बनना सीखो। तभी तुम्हारा कल्याण होगा ॥ १०७॥

---

* जागर्ति स्वामिवर्गेऽस्मिन् निद्रितो मौनवान्भवेत्
निद्रिते तत्र जागर्ति रात्रिजागर उच्यते ॥

करणत्रयलक्षण

मनो राजवदाभाति यद्वचःसत्कलत्रवत् । ×
काय सेवकवत्साहुस्त्रिविध दातृलक्षणम् ॥ १०८ ॥

अर्थ—दाताका मन राजाके समान उदार रहना चाहिये। वचनमें सच्चाध्व सतीके समान मितभाषण रहना चाहिए। और कायमें सेवक के समान विनयवृत्ति होना चाहिये। यही प्रशस्त दाताका लक्षण है॥१०८

राजलक्षण या दातृहृदय

अस्मरन्नवदञ्जातु नास्ति शब्दममूचयन् ।
ददामि भाति वाग्वक्ता सदा राजेव दातृहृत् ॥ १०९ ॥

अर्थ—राजाका धर्म है कि यदि कोई याचक आवे तो नास्ति शब्दका स्मरण कभी हृदयमें भी न करें, वचनसे न बोले, कायसे नास्तिकी सूचना न देवें। परंतु ज मभर "ददामि" देता हू, इसी प्रकारकी वृत्ति रक्खें। प्रशस्त–दाताका भी हृदय वैसा ही होना चाहिये॥१०९॥

दातृवचन

स्वामी ददेति किं किंतु तदिदमनुशन् ददत् ।
साध्वीजन इवाभाति सर्वदा दातृभाषणम् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री यदि परोसने के लिए बैठी, तो उसके लिए अमुक पदार्थ चाहिये ऐसा कहकर मागनेकी आवश्यकता नहीं है। किंतु वही सब कुछ समझकर पतिको जो चीज चाहिये परोसती है, इसी प्रकार दाताओंका वचन अत्यंत सयत होना चाहिए ॥ ११० ॥

दातृकाय

या या नियुक्ता सत्सेवा वा ता कुर्वन्मुदा सदा ।
भासते दातृकायोऽयं सेवको भक्तिमानिह ॥ १११ ॥

* 'भाण्डागारिकवद्वच' ऐसा भी पाठ है। कोषाधिकारीके समान जिसका वचन है। अर्थात् कोषाधिकारी जैसे याचकको अल्पधन देता है वैसे उत्तम दाता मितभाषी रहता है।

अर्थ—जिस प्रकार भक्तिमान् सेवक अपने स्वामीके द्वारा नियुक्त सभी सेवाओंको बहुत भक्ति व संतोषसे करता है उसी प्रकार दाताका शरीर भी हो, वह सदा गुरुसेवामें प्रवृत्त हो ॥ १११ ॥

तामसदान

\+ पात्रापात्रसमक्षतोऽज्ञ इह हेमादे परीक्षाविधा-
वाहूयानुचरैरसंस्तुतमसत्कार स पात्र च यः ।
दास्या पाचितदापित भृत्यवरैर्यद्दापित चाहृत
तद्दान न फलं तु भाटकचित तत्तामसाख्य विदु ॥ ११२॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णकी परीक्षा न जाननेवाला अज्ञानी परीक्षा करनेमें असमर्थ रहता है, उसी प्रकार पात्रापात्रके भेदको न समझनेवाला अज्ञानी अपने नौकरोंके द्वारा उन पात्रोंको अपने घरपर बुलाकर स्तुतिस्तोत्र व नवधाभक्ति आदिसे रहित होकर, दासी के द्वारा तैयार किये गए आहार को अपने नौकरोंके द्वारा दिलाता है, उस दानका कोई फल नहीं है । वह तो भाडोत्री मनुष्योंको रखकर कमाये हुए धनके समान भाडोत्री दान है, उसे महर्षिगण तामसदान कहते हैं ॥ ११२ ॥

य क्षमानी न सातिष्ठेत्तोत्तिष्ठन्सस्थितोऽपि न ।
अनुत्थित पात्रमीक्षन्स दाता गर्वितो यथा ॥ ११३ ॥

अर्थ—तामस दानी दाता गर्विष्ठ मनुष्यके समान पात्रोंके आग

\+ सुखी दुःख न सहते दुःखी दुःख सुख सदा,
यथा नाऽन्नमुष्णाय सहते कष्टकायाम ॥
धार्मिका यदि वर्तन्ते धर्मविषु यथाका ॥
तथाप्यधार्मिका धर्म बहुध्याजाद्धयति च ॥
पात्रापात्रासमावेक्ष्यमसत्कारमसस्तुत ॥
दासभृत्यकृतोद्योगं दान तामसमूचिरे ।

मनके समय सोता हो तो उठता नहीं, बैठा होतो उठकर खडा नहीं होता है, खडा हुआ हो तो नमस्कार भी नहीं करता है ॥ ११३ ॥

मनुष्य कपि होता है।

कृतगर्वोऽनमन्धर्मेऽनादरी यो भवान्तरे।
स पुमान्कुजशाखासु भ्रमचैव कपिर्भवेत् ॥ ११४ ॥

अर्थ—जो दानकार्यमें बहुतपर गर्व करता है, एवं धर्मकार्यमें व धार्मिक सज्जनोंमें अनादर करता है, वह आगेके भवमें जाकर वृक्षोंका शाखामें जानेवाला बंदर होकर पैदा होता है ॥ ११४ ॥

मानी दातासे हानि

दाता च गर्वितो नष्टोऽगर्वस्तुवच्चरन्मुनि ॥
नष्टस्वनोभयोर्लोको बहुनष्टो भवेत्सदा ॥ ११५ ॥

अर्थ—गर्ववान् दाता अपने गर्वके कारणसे नष्ट होता है। मुनि गर्वरहित होनेपर भी बच्चे के समान इधर उधर स्वच्छाचार पूर्वक फिर तो वह भी नष्ट होता है। इन दोनोंके नष्ट होनेसे लोक और राजा नष्ट होता है। लोक, राजा, दाता और पात्रोंके नष्ट होनेसे असंख्यात प्राणियोंकी हानि होती है, धर्मका हानि होती है ॥ ११५ ॥

राजसदान

+ साधुमरणजातमेकघटिकाहार्याश्रयोत्थभ्रमम् ॥
सत्पात्राचितभूरिवर्णनरसविलभ्रान्तरगोद्भवम् ॥
पात्राकृतदयारसमशमितकोपोत्थलोभोदयम् ।
यत्तद्राजसदानमुक्तमृषिभिः कारुण्यपण्यापणे ॥ ११६ ॥

+ यदात्मवर्णनप्राय क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ॥
परप्रत्ययसंभूत दान तद्राजस मतम् ॥
अनिधेय स्वय यत्र यत्र पात्रपरीक्षण ॥
गुणाः श्रद्धादयो यत्र दान तत्सात्त्विक विदुः ॥

अर्थ—जो दान साधुवोंका प्रेरणासे किया गया है, एक घटिका तक ठिर साधुवोंक उपदेशसे जिसका भ्रम दूर होकर दिया गया है। स्तोत्रोंके द्वारा अनेक प्रकारसे वर्णन करनेपर, उस वर्णनरूपी रसम जिसका अंतरंग आर्द्र होकर दिया गया है, पात्रोंक द्वारा उपदिष्ट दयारसके कारणसे जिसका क्रोध व लोभ प्रशमित होकर दिया गया है उसे करुणाके व्यापार करनेवाले साधुजन राजसदान कहते हैं ॥ ११६ ॥

सात्विकदान

स्वेच्छाभ्युत्थाय गत्वा मुनिपमपि परीक्ष्याशु नत्वा यदंघ्री।
दत्वा मसारय पीठं स्तुतिनतिगुणसर्कीर्णनैः श्रांतिशांतिं ॥
कृत्वैवोल्लोल्य सतर्प्य च शुभहृदय दत्तमक्त्या मुनींद्र-
स्तम स्याद्येन यत्तद्रचितमभिहितं सात्विकं दाननार्य ॥११७॥

अर्थ—मुनिराजके आते ही उनको देखकर भक्तिसे उठ, उनको देखकर उनके चरणोंमें नमस्कार कर प्रतिग्रहण कर अंदर ले जावें, बादमें उच्चासन देकर पादप्रक्षालन करें एवं अनेक प्रकार की स्तुति, भक्ति, पूजा आदि करके उनके मार्गश्रमको निवारण करें, तदनंतर उनको बहुत भक्तिसे, त्रिकरण शुद्धिसे आहारदान देकर संतुष्ट करें। ऋषिगण उसे सात्विकदान के नामसे कहते हैं ॥ ११७ ॥

उत्तमादि भेद

सात्विकमुत्तमदानं मध्यमदानं तु राजसारय च।
सर्वेषां दानानां जघन्यदानं तु तामसाख्यं स्यात् ॥११८॥

अर्थ—सर्व दानोंमें उत्तम दान सात्विक दान है, राजसदान मध्यम है, और सबसे जघन्य दान तामस दान है ॥ ११८ ॥

सात्विकराजसतामसमुत्तममध्यमजघन्यदानमिदम् ॥
द्रव्यत्रय एकोऽत्र त्रिकरणभेदेन सद्रवेन्निविधम् ॥११९॥

अर्थ—सात्विक, राजस व तामस जो उत्तम, मध्यम व जघन्य दानके भेदस कहे गये हैं, उन तीनोंमें द्रव्यव्ययमें तो समानता है, अर्थात् द्रव्यव्यय तीनोंमें होता है। परंतु तीन प्रकारके परिणामोंके भेदसे उसके तीन भेद होते हैं ॥ ११९ ॥

असीमव्यवहारका फल

देशयोगनृपादीनां वर्तन्ते येऽवधिं विना ॥
स एव नाशं गच्छति सगरस्य सुता इव ॥ १२० ॥

अर्थ—देश, मन वचन, काय योग, धर्म, स्वामी, अधुमित्र आदि के साथ जो नीति की मर्यादाको उल्लघन कर व्यवहार करते हैं, वे सगर चक्रवर्ति के पुत्रोंके समान नष्ट होते हैं। अर्थात् उनको अनेक प्रकार से हानि उठानी पडती है ॥ १२० ॥

मदसे हानि

मनुते तृणवल्लोकं सगर्वो निस्पृहो यथा ॥
स्वयं मुंचति भाग्यं च सगरस्य सुता इव ॥ १२१ ॥

अर्थ—अहंकारी मनुष्य निस्पृह मनुष्य के समान लोकको तृणवत् समझता है, उसकी करतूतोंसे वह स्वयं अपने भाग्यको खो देता है। जिस प्रकार सगर चक्रवर्तिके पुत्रोंकी हालत हुई ॥ १२१ ॥

यद्वत्ते निस्पृहोऽसौ तृणमिव भुवनं बोधते पदस गर्वी।
धर्मं देवं गुरुं च स्वजनपुरजनान्भूपमहो न पुण्यम् ॥
कुप्यः क्षप्यः स सद्यः फलति परिभवं सर्वमुर्वीश्वरार्थे-
स्त्यक्त्वा गर्वं च तस्मात्कुरु मम मनुजत्व धर्ममार्गे स्वभावात्॥

अर्थ—जिस जिसप्रकार कषायेंद्रियादिको वर्धन करनेवाले लोकको एक निस्पृहव्यक्ति तृणके समान समझता है। उसी प्रकार गर्वीपुरुष

भी स्वर्गापवर्ग सुखसाधनसमर्थ इस लोकको तृणके समान समझकर, उस मानकषायके कारणसे रत्नत्रयात्मक, धर्म, निर्दोषदेव, गुरु, स्वजन, पुरजन, राजा, स्वयका पाप, पुण्य, आदि किसीकी भी परवाह नहीं करता है, वह अनेक लोगोंका कोपभाजन बनता है, लोग उसे शाप देते हैं। राजा आदिकेद्वारा भी वह दण्डित होता है। इसलिए आत्मकल्याणको चाहनेवाले हे भव्य! इस दुर्गुणका परित्याग कर स्वभावसे सद्धमार्गका आश्रय करो। तभी तुम्हारा हित होसकता है ॥ १२२ ॥

मनरहित दान

मनोऽन्तरेण यो दानं करोति स जडो जनः।
भोगाशक्तो महाभाग्य पण्डोऽन्यस्त्रीजनो यथा ॥ १२३ ॥

अर्थ—मनकी भावनाके विना जो दान करता है वह सचमुचमें मनुष्य नहीं है, जड है। उसको ज्ञात महान् भाग्यशाली होनेपर भी भागनेमें असमर्थ श्रीमंतके समान व भोगनेकी इच्छा होनेपर भी नपुंसक वाके समान है ॥ १२३ ॥

मनो विनैव कुरुते दानं पात्राय यः पुमान्।
शिलास्थानमिवाभाति सुवर्णकलशो यथा ॥ १२४ ॥

अर्थ—मनकी भावनाके विना जो पात्रके लिए दान देता है वह दाता सुवर्णकलशके समान है, अर्थात् सुवर्णकलश होनेपर भी रस सुवर्णकलशके लिए उसकी उपयोगिता नहीं है और वह जड ही है। एक शिलास्तंभके समान उस दाताका दान निरुपयोग है ॥ १२४ ॥

मन वचनरहितदान

यद्दत्त कारितं दानं भाति वचटुकादिवत्।
यथा तुकारकवस्थो मनसा वचसा विना ॥ १२५ ॥

अर्थ—मन व वचनके बिना केवल दूसरोंके कहने से काय से ही जो दान करता है वह दाता उस चमचेके समान है जो परोसे जानेवाले रसायनके स्वादको नहीं जानता है। जिस प्रकार तोल, मापके सेर वगैरे तुलनेवाली चीजोंके मोल को नहीं जानते उसी प्रकार उस दाताकी हालत है ॥ १२५ ॥

उपरोधादुपालंभाद्रोसेव कायदानिनः ॥
सक्लेशाः पशवो भारवाहाः केचिद्यथा तथा ॥ १२६ ॥

अर्थ—दूसरोंके अनुरोध से व दूसरे निंदा करेंगे इस भयसे, जो केवल काय से दान देते हैं वे सदा क्लेशको सहन करनेवाले, भारवहन करनेवाले बैल घोडे आदि पशुओंके समान हैं ॥ १२६ ॥

पात्रे शंपेव या भक्तिर्यया दानं कृतं च तैः ॥
राजयोग्यगजा अश्वास्त एव स्युर्भवांतरे ॥ १२७ ॥

अर्थ—पात्रोंके प्रति बिजलीके समान क्षणिक भक्ति को रखकर जो दान देते हैं वे उत्तरभवमें राजाके लिए बैठने योग्य हाथी, घोडा आदि होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२७ ॥

भिन्नभावदृष्टांत

भिन्नभावः क्षणे भूत्वा दानेऽनेन कृतं फलम् ।
स्त्रीभावे तुग्मनो भिन्ने यथान्याप्रसुतो भवेत् ॥ १२८ ॥

अर्थ—यदि दान देते समय दाताने मनमें भिन्न भाव रखकर केवल कायसे दान दिया तो उसकी हालत ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि पुत्रोत्पत्ति के समयमें स्त्रीने यदि मनमें परपुरुष की भावना की तो वह पुत्र भी दूसरोंके समान ही होता है ॥ १२८ ॥

मनोवचोविना केचिद्रासते कायदानिनः ।
सक्लेशाद्रोगजोऽश्वोपुर केचिद्भारवहा यथा ॥

त्रिकरणशुद्धिकी आवश्यकता

चित्ते भाग्यसमिच्छयापि चरितैर्व्याघयत्युक्तिभि-
र्वृत्तं के मनसा वचोभिरिह के वाचैव हृद्वर्तने ।
हृद्वृत्ते कतिचिद्वचोभिरपि के वाग्वर्तनैश्चेतसा ॥
वाग्वृत्तैर्मनसापि भाग्यमपि यत् पुण्य सुपुण्यच्छव ॥१२९॥

अर्थ—ससारमें प्रत्येक मनुष्य भाग्यका अभिलाषा करते हैं। परतु कोई मनमें भाग्यकी इच्छा करते हुए भी अपने आचरणोंसे उस भाग्य को बिगाडते हैं। कोई अपने आचरणसे उसका इच्छा करते हुए भी वचनोंसे उसकी बिगाड करते हैं। कोई वचनसे उसे चाहते हुए भी मनसे उस भाग्यको बिगाडते हैं। कोई हृदय व चारित्र इन दोनोंसे उसका अपेक्षा करते हुए भी वचनसे उसको बिगाडते हैं। कोई वचनसे उसकी अपेक्षा करें तो भी मन व वर्तनसे उसका बिगाड करते हैं। इसी प्रकार पुण्यकी अपेक्षा करनेवाले सज्जन पुण्यको चित्तसे चाहने पर भी अपने आचरणोंसे उसका तिरस्कार करते हैं। अर्थात पापमय वृत्तिको धारण करते हैं। कोई अपने आचरणसे पुण्यकी आकाक्षा करते हुए भी वचनसे उसका घात करते हैं। कोई वचनसे पुण्यकी अपेक्षा करें तो भी व मनसे उस पुण्यकी हानि करते हैं। कोई मन व आचरणसे पुण्यकी अपेक्षा करते हुए भी वचनसे उस पुण्यका नाश करते हैं। कोई वचनसे उस पुण्यकी अपेक्षा करें तो भी मन व आचरण से उसको बिगाडते हैं। कोई वचन व आचरणसे उसकी अपेक्षा करते हुए भी मनसे उसका बिगाडते हैं। कोई मनमें उसकी अपेक्षा करते हुए भी वचन व आचरणसे उसका नाश करते हैं। और कोई मन, वचन व कायसे पुण्यका अर्जन करें तो वे मन, वचन व कायसे ही उसका नाश भी करते हैं। त्रिकरणशुद्धिसे विकल होकर जो भी पुण्यार्जन करें वह व्यर्थ है। त्रिकरणशुद्धिपूर्वक किए गए कार्योंसे ही यथार्थ पुण्यबंध व उससे सौभाग्य प्राप्त होता है॥१२९

\+ त्रिकरणशुद्धिपूर्वकदत्तदान

करणत्रयसंशुध्द्या कृतं दानं फलं भवेत् ।
तद्वैकल्यात्कृतं दानं विधवाप्रसवो यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—मन, वचन व काय इन तीनोंकी शुद्धिसे जो दान दिया जाता है वह सचमुचमें फलकारी होता है । उसकी विकलतासे दिया हुआ दान व्यर्थ है । वह विधवाओंकी प्रसूतिके समान है ॥१३०॥

\+ त्रिकरणशुद्धिदत्तदानफलम् वैभवम् ।

सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् ।
फलाय यद्यपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्पते ॥ १ ॥
यग्रोधस्य यथा बीजं स्तोकं सुक्षेत्रभूमिगं ।
बहुविस्तीर्णतां याति तद्वद्दानं सुपात्रगम् ॥ २ ॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु भुंजते स्वर्गितं सुखम् ।
मानवाः पात्रदानेन मनोवाक्कायशुद्धितः ॥ ३ ॥
ये तस्मादेव जायते चक्रिणो वासुचक्रिणः ।
इक्ष्वाकुवादिषु गोत्रेषु पात्रदानभवा नराः ॥ ४ ॥
कलानां यावती वृद्धिस्तावतीं कौमुदीं विदुः ।
लोकस्यापयते त्यागः सतामिव निदर्शयत् ॥ ५ ॥
संपदस्तीर्थकर्तॄणां चक्रिणामर्धचक्रिणाम् ।
भजते दानिनं सर्वाः पयोधिमिव निम्नगाः ॥ ६ ॥
केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् ।
आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥ ७ ॥
तुरगशतसहस्रं गोकुलं भूमिदानं,
कनकरजतपात्रं मेदिनी सागरान्ता ॥
सुरयुवतिसमानं कोटिकन्याप्रदानं ॥
न भवति च समानं चान्नदानं प्रधानम् ॥ ८ ॥
कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम् ॥ ९ ॥
सद्भाजनेषु मुनिभुक्तशेषं स शुद्धिमान्यो न करोति पापम्
तत्सौहृदं यत्क्रियते परोक्षे दम्भैर्विना यः क्रियते स धर्मः ॥

दाता वेश्याके समान हो

दत्वा द्रव्याय करणत्रय प्रीतिं प्रकुर्वते ।
वारस्त्री यथा लोके सतः पुण्याय चार्हते ॥ १२१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें वेश्या स्त्री द्रव्यकेलिए अपने मन, वचन, व कायको अपने विटपुरुषको समर्पण कर प्रेम करता है, उसीप्रकार पुण्यार्जके लिए सज्जन दाता अपने त्रिकरणोंको पात्रको अर्पण कर भक्ति करें ॥ १२१ ॥

पात्रानुसार द्रव्यपरिणमन

किंपाके विफला सदा कटुकता कोलेऽपि माधुर्यता– ।
मिसाचम्लकुजेऽम्लता लवणताम्भोनिधौ तिक्तता ॥

कृपाणां भुक्तिशेषस्य भोजने स नरो भवन्
तुष्टिपुष्टिबलारोग्यदीर्घायु श्रीसमन्वित ॥ ११ ॥
सद्य प्रीतिकर दान महापातकनाशन ।
अन्नतोयसम दान न भूत न भविष्यति ॥ १२ ॥
पृथिव्या त्रीणि रत्नानि ह्यन्नमाप सुभाषित ।
मूढै पाषाणखण्डेषु रत्नशब्दो निरर्थक ॥ १३ ॥
श्रुतमसाक्षिकमफलं श्रुतमफल दुर्विनीतस्य ।
कृपणस्य च धनमफल यौवनमफल दरिद्रस्य ॥ १४ ॥
बालेषु जीर्णातुरदुर्बलेषु अनाधिकारेषु निराश्रयेषु ।
राजाभियुक्तेष्वपरायणेषु येषा कृपा नास्ति न ते मनुष्या ॥
योऽन्तरनप्तपरव्यथाविघटन जानात्यसौ पडित ।
ससारोत्तरणे विवेकपटुता यस्यास्त्यसौ पडित ॥
तत्त्व शाश्वतनिर्मल च सनय जानात्यसौ पडित ।
शेषा कामविडम्बिता विषयिण सर्वे जना खडिता ॥१६
य सत्पात्रसुभुक्तिशेषममृत भुजान तस्यानिशम् ।
तुष्टि पुष्टिररोगतातियत्नता दीर्घायुरद्य क्षय ॥
सपत्पूरितता गुणैरधिकता रत्नत्रयोजृम्भता ।
स्यात्साख्य शुभभावता निपुणता निर्वाणमप्यक्रमात्॥१७॥

तिक्तद्रौ च कषायके तुवरशा यद्गुणं तद्गुणा- ।
नप्येकाबुजल प्रयाति च यथा पात्रेषु दत्तं धनम् ॥१२२॥

अर्थ—जिसप्रकार एक ही कुएका मिष्टजल किंपाकवृक्षमें जाकर विषरूप, निंबके वृक्षमें कडुआ, ईखमें माधुर्य, इमलीके वृक्षमें खट्टा, लहुनमें खारा, तीखे वृक्षमें तीखा, कषायले वृक्षमें कषाय आदि जो जिसका जो गुण हो धारण कर लेता है। इसीप्रकार दाताके द्वारा दिये गये द्रव्य जैसा पात्र हो उस प्रकार के गुणोंको धारण करता है। इसलिए विवेकी दाताको चाहिये, कि वह पात्रभेदोंको अच्छीतरह जानकर दान देवें ॥ १२२ ॥

ग्रीष्मार्कतीव्रसंतापाद्यथा पद्माकरक्षयः ।
लोभोऽल्पोऽथ व्ययो भूरिर्दानं कुर्यात्ततो बहु ॥ १२३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गर्मीके दिनोंमें सूर्यके उष्ण किरणोंसे सरोवर वगैरे सूख जाते हैं, उसीप्रकार सातिशय पुण्यके किरणोंसे लोभरूपी सरोवर सूख जाता है। इसलिए अधिक दान देकर पुण्यकी अर्जना करना चाहिये ॥ १२३ ॥

नग्नाशत्याग

शूद्रान्नं कुलनाशकं बहुवदन्निर्मोऽपकृत्पुण्यहृ-
द्वेश्यावक्त्रमथापलोक्यशणिकासार्द्रस्वभार्डोपमं ।
सेन्नग्रामगलाग्रयोपममिदं स्पृष्टं स्वनर्चिर्दृढम्
नो सेव्यं यदि सेव्यसेवकजनो विप्रः कथं जायते ॥१२४॥

अर्थ—संपूर्ण लोकको धर्माचरणमें स्थिर रहनेके लिए उपदेश देनेवाला ब्राह्मण कभी शूद्रान्न, जल, तैल, घृत, नवनीतादिकका भक्षण न करें। वह कुलनाशक है। पापका संचय करनेवाला है, पुण्यको नष्ट करनेवाला है, वेश्याके मुखके समान अपवित्र है, उच्छिष्ट पात्रके

समान है, गामके पासमें रहनेवाले शौचोपयोगी जलाशयके समान है, उनके द्वारा स्पृष्ट गृह भी ब्राह्मणके लिए प्रवेश करने योग्य नहीं है। यदि उपर्युक्त बातोंका वह ब्राह्मण सेवन करे तो वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है? ॥ १३४ ॥

> ब्राह्मण्यस्य क्षयं विचारयसि जीवाय क्षयं न्यग्गतिं ।
> किं नाशाय धनाय सचरसि सत्यार्या च सवर्तस ॥
> किं कर्मास्ति न तस्य नीचनृपते सेवा करोष्यस्ति किं ।
> नाय शूद्रगृहान्नभुक्तिरघदा पुण्याय किं योगिनाम् ॥१३५

अर्थ—सच्छूद्रके घरमें आहार लेनेसे ब्राह्मणत्वका नाश होता है और जीवको अक्षय नीचगतिकी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना भूल है। हे द्विज! तू नीच राजाकी सेवा करके शरीरपोषण करता है, धन कमाता है, ऐसे कर्म करनेसे अशुभ कर्म बंधनेसे क्या तुझ दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होगी? अवश्य होगी। अतः सच्छूद्र का आहार लेनेमें दोष नहीं है। क्यों कि वे सच्छूद्र त्रिवर्णमेंसे ही उत्पन्न हैं। अतः आहारदान योग्य समझ कर मुनिजन उनके घरमें शुद्ध आहारको लेते हैं। और वह आहार लेनेवाले मुनिवर्यको और देनेवाले सच्छूद्र को पुण्यके लिए कारण होता है। पापकारण नहीं होता है ऐसा समझना चाहिए ॥ १३५ ॥

> विप्र दुर्गतिगामिनं बुधजना नीचं ब्रुवति ध्रुवम् ।
> नीचं सद्गतिगामिनं द्विजवरं पुण्याधिकं भूमिप ॥
> पापाचाररतं द्विजं परिहरन्त्यत्रैव तत्सगतिं ।
> कर्माण्येव विनाशयन्ति मुनयः शूद्रैस्सुपुण्यार्थिभिः ॥१३६॥

अर्थ—अनेक दुराचरणोंसे युक्त ब्राह्मणको बुद्धिमान् लोग नीच कहते हैं, वह इसी भवमें नीच होता है एवं आगेके भवमें भी नीच गतिको ही जाता है। इसी प्रकार सदाचरण, धर्माभ्यास आदिमें रत

ऐसे शूद्रको लोग प्रशंसाकी दृष्टिसे देखते हैं । इतना ही नहीं वह आगामी भवमें ब्राह्मण होगा । या सातिशय पुण्य के धारक राजा होगा । पापाचरण मग्न ब्राह्मण को इसी भवमें गुरुजन, बधुजन बहिष्कृत करते हैं जिससे उसे सत्सगति से वञ्चित होना पडता है । पुण्यकी अपेक्षा करनवाले व्रतादि शुभ आचरणमें मग्न स द्र मुनिगणोंको आहार देकर अपने कर्मो-को नष्ट करते हैं ॥ १२६ ॥

> विप्रा धर्मविदोऽधना नृपतयश्चारा भवन्ति स्म ते ।
> वैश्यास्तत्र पृथग्न्याय ददते वित्तानि यत्रासते ॥
> शूद्रा दानपरा जिनोत्सवकरास्सद्धर्मवीरयका- ।
> स्तेषा सद्मसु भुजतेऽत्र मुनयो निर्मुक्तवस्त्रास्सदा ॥१२७॥

अर्थ—कालके परिवर्तन से ब्राह्मण लोग दरिद्री होगये, क्षत्रिय दुष्टनिग्रह शिष्टपरिपालनके बजाय दूसरोंके धनको अन्यायसे अपहरण करने लगे, अतएव चोर बन गये । वैश्यजन जहा रहते हैं वहा अपने न्यायोपार्जित वित्तसे देव धर्मके लिए द्रव्य खर्च करते हैं, परतु सच्छूद्र सदा दानतत्पर रहते हैं । अतएव उनके घरमें मुनिगण आ-हार लेते हैं ॥ १२७ ॥

चातुर्वर्ण्यमहत्त्व

> निधिदशरुद्रदिवाकरवर्णान्वितकनकसन्निभाश्चत्वार ॥
> शूद्रोर्व्यक्षत्रियविप्रा स्युर्जिनमुनींद्ररक्षणयोग्या ॥ १२८ ॥

अर्थ—नवनिधि, दश, एकादशरुद्र, बारह सूर्य इन वर्णोंसे युक्त सुवर्णके समान तेज पुज रहनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व सच्छूद्र जिनमुनियोंकी रक्षा करनमें समर्थ हैं । इतर नहीं ॥ १२८ ॥

> यो विप्र स सुदृग्सुधी सुचरितो ज्ञानी पुमान्ब्राह्मण ।
> ससारार्णववाडवाऽऽग्नुपहतसैरत्नसपत्तिमान् ॥

भूदेवः सुतपोऽन्वितोऽप्यघहरः स्यादग्रजन्मा ततः ।
त्रैलोक्याधिपपूजितांत्रिकमलो देवोऽद्वितीयोऽनघः ॥१३९॥

अर्थ—जो निर्दोष सम्यक्त्वको धारण करता है वह विप्र कहलाता है, और जो बुद्धिमान् सम्यक्त्वके साथ व्रताचरण भी करता है वह ब्राह्मण कहलाता है। जो संसाररूपी समुद्रके लिए बडवाग्निके समान है, निर्दोष रत्नत्रयको धारण करता है वह भूदेव है। उत्तम तपोंको धारण करनेवाला जो पापोंको नाश करता है, आगेके जन्ममें वह तीनलोकके द्वारा पूजितचरणकमलवाला पूज्य देव होता है ॥१३९॥

स्वर्गच्युतोंका लक्षण

निःशङ्कता निर्भयतातिवाग्मिता ।
\+ निर्भंगता वादिजनास्यमूकता ॥
संघे नतिः साधुपदेषु सेवना ।
रागो गुणेष्वेव दयाङ्गिषूत्तमा ॥ १४० ॥

सत्सङ्गो जिनपूजनं गुरुनतिर्दानप्रसङ्गः क्षमा ।
भूतिर्धार्मिकतर्पणं स्वजनसत्पूजातिमेधामतिः ॥
आरोग्यं कविता वचो मधुरता स्वप्नेषु तथ्यं रमा—।
हार्दं लक्ष्म भवेत्कलानिपुणता स्वर्गच्युतानामिदम्॥१४१॥

अर्थ—शङ्कारहितता, निर्भयता, जनमनोहर भाषण, भगरहितवृत्ति, वादिजनोंको मूक बनानेका सामर्थ्य, जैनसंघमें विनय, साधुजनोंके चरण कमलोंकी सेवा, गुणोंमें अनुराग, प्राणियोंके प्रति दया, सत्संगति, जिनेंद्रकी पूजा, मातापिता गुरु आदिका विनय, दानविधानका रमण, क्षमा, संपत्तिप्राप्ति, धार्मिकजनोंका सत्कार, स्वजनोंका आदर, कुशाग्रबुद्धि, आरोग्य, कवितागुण, वचनका माधुर्य, स्वप्न

\+ निर्भंगता वादिजनोक्तिभंगिता इति पाठांतरम् ॥

दुखनेवर फलका निश्चिंति, सातिशय सम्पत्ति, *ज्ञानीपुण्य आदि बातें जिन व्यक्तियों में पाई जाय वे स्वर्गसे च्युत होकर आये हैं ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् स्वर्ग युत जीवोंके ये लक्षण हैं ॥ ॥ १४० ॥ १४१ ॥ *

दातायोंका परिणाम

दाक्षिण्यादपवादत शत्रुनतो यन्नात्सुमन्त्रौषधा–
च्चाटूक्त परिचर्यतोऽनुतपना मानादुदासीनत ।
आलस्यात्पुरोप्रवर्णनयशात्पुप्पक्षपातान्मनाः
खेदात्पक्षनिमित्ततश्च ददत पात्राय दानानि वै ॥१४२॥

अर्थ—लोकमें अनेक प्रकारके दाता रहते हैं । परिणाम शुद्ध रखकर केवल पुण्यार्जन करनेके लिए दान देनवाले बहुत दुर्लभ हैं। कोई पात्रोंके बचन उल्लंघन न कर सकनेका लिहाजसे दान देते हैं। कोई दूसरोंके अपवादके भयसे दान देते हैं, कोई शत्रुके निमित्तसे तो कोई मत्र यत्राराधनाके निमित्त, कोई प्रियवचनके निमित्तसे, कोई सेवाकी अपेक्षासे, कोई मानसे, कोई औदासीन्यभावसे, कोई आलस्यसे, कोई दूसरोंके दबावसे, कोई मिथ्यापक्षपातसे, कोई बड़े दानियोंकी श्रेणीमें नाम लिखानेके लिए अर्थात् ख्यातिकी अपेक्षासे और कोई मनमें दु खी होते हुए दान देते हैं । इस प्रकार अनेक प्रकारके अभिप्रायोंको रखकर दान देते हैं ॥ १४२ ॥

---

* अनुलोमो विनीतश्च दयादानरुचिमृदु ।
प्रहसो मध्यमो यस्स मानुष्यादागतो नर ॥
बह्वाशी नर सतृष्णो मायावी च क्षुधाधिक ।
स्वप्नमूढोऽलसश्चैव तिर्यग्भ्यागता नर ॥
विरुद्धता बधुजनेषु नित्य सरोगता मूर्खजनेषु सग ॥
अतीव रोष कटुका च वाणी नरस्य चिन्ह नरकागतस्य ॥

विष्ठत्यङ्गस्तरसो मविशति हृदि किं धर्मगौस्तत्प्रविष्टे ।
तस्मिन्मृत्युमेवैतस्य च बलवदघद्वीपिनो धर्मगाश्च ॥
हत्वा न त्वा दयते किमिव निजसुतान्सर्वथा भक्षयति ।
ज्ञात्वा से धर्मगावस्तदुपजनसमा वीक्ष्य धावति दूरात् ॥१४३॥

अर्थ—पापरूपी व्याघ्रके हृदयमें निवास करते हुए धर्मरूपी गाय उस स्थानमें प्रवेश कर सकती है? कभी नहीं। यदि वह प्रवेश करे तो उसकी मृत्यु अवश्यमेव हो जायगी। गाय यदि व्याघ्रोंकी गुफामें प्रवेश करे तो क्या वे उस गायको न खाकर अपने बच्चोंके समान संरक्षण करते हैं? कभी नहीं। वे खायेंगे ही, इस बातको जानकर ये गाय उन व्याघ्रोंकी गुफाओंको देखकर दूरसे जिस प्रकार भागती है उसी प्रकार पापी हृदयको देखकर धर्मरूपी गाय दूरसे ही भागती है ॥ १४३ ॥

द्वारं संश्रित्य दातुः प्रतिदिनमवशा स्वस्थितिं संविहाय ।
म्लानास्या कुंचिताङ्गा विकृततनुवचोगद्गदध्वानकण्ठा ॥
दीनोक्ती संवदन्त कुलिशनिनदवच्चण्डवाचो निशम्य ।
व्यामारमानो भवन्त प्रतिफलितफला कुर्वते किं किमाशा ॥

अर्थ—कोई कोई याचकजन दातारोंके घरके पास पहुंच कर अनेक प्रकारसे याचना करते हैं। उस समय अपने मुखको म्लान कर, शरीरको सिकुडाकर, अपने वचनमें दीनता व्यक्त करते हुए, गद्गदकंठसे तोतले शब्दोंसे याचना करते हैं। दाताने यदि मेघगर्जना के समान क्रोधभरे वचनोंसे फटकारा तो भी सुन लेते हैं। आशा बड़ी बुरी चीज है, उससे मनुष्य क्या क्या नहीं करता है ॥१४४॥

याचकत्व महत्कष्ट है

कष्टं देहि ददामि दातृवचनं कष्टं न कष्टं ददे।
कष्टं प्राञ्चितशाये बहुतर क्रोधाग्निरुज्जृम्भते

स्निग्धापत्र शिखीव दातृहृदये नीतिस्त्वमोधेत्यहो (?)
येनैकपुर क्षयेप्र कुरुते पापस्य किं किं फलम् ॥१४५॥

अर्थ—लोकमें दूसरोंके पास आकर "देहि" ऐसा कहना कष्ट है। देता हू यह कहना भी कष्ट है, नहीं देता हू कहना भी कष्ट है। दाता यदि देनेके लिए संकोच करें तो याचक अनेक प्रकारके आशयोंको प्रकट करते हुए याचना करता है, तब दाताकी क्रोधाग्नि बढती है। जिस प्रकार अग्निपर तेल पडनेपर वह प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार दाताका क्रोध बढता है। एक ■ व्यक्तिसे एक नगर नष्ट होता है, इस प्रकारकी कहावत है वह सत्य है, पापका फल क्या क्या नहीं होता है? ॥ १४५ ॥

पूर्णं पूरितमानस, स्थितधृतिश्रीन्हीयशोबुद्धयो।
दृव्य पच वसति यस्य स नरो दातैव ना याचिता॥
शुष्क तच्च यदाभवद्यदि सदा निर्याति ता देहि वा-।
ग्द्वारेऽरयति दानरीह कुटवत्पाप शिखी स्यात्तयो ॥१४६॥

अर्थ—जिसप्रकार मानससरोवरमें श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि इस प्रकार पाच देवियोंका निवास है, उसी प्रकार दातासे मनरूपी मानस-सरोवरमें धृति (धैर्य) श्री (संपत्ति) ह्री (लज्जा) यश (कीर्ति) बुद्धि (ज्ञान) नामक पाच देविया निवास करती हैं। वह दाता हमेशा दाता ही बना रहता है, याचक नहीं रहता है। जब वह मानस सरोवर किसी कारणसे शुष्क होजाता है तो ये देविया निकल जाती हैं, इसी प्रकार दाताके हृदयमें दानबुद्धि न रहे तो उपर्युक्त पच देवियां भी निकल जाती हैं। यदि उस समय दात ने उनको रोक नेका प्रयत्न नहीं किया तो अग्नि जिस प्रकार मकानको जलाती है उस प्रकार दाता व पात्रको पापरूपी अग्नि जलाती है। साराश यह है कि दाताको सदा अपने हृदयमें धृति आदि गुणोंको धारण करना चाहिये ॥ १४६ ॥

दान मौनसे देवें

के कुप्यति शपति वैरमनिशं कुर्वंति चास्यालयम् ।
प्लोषाम प्रभुणापि मंदिरमिदं निर्णाशयाम श्रियम् ॥
केनोपायशतेन के चयमिव मार्गे कपामस्ततो ॥
मोक्त्वा मा वद मा मनोगतधनं मौनेन देयं सदा ॥१४७॥

अर्थ—दुनियामें दान देनेके वचनको देकर फिर उस वचनका भंग करना यह महान् कठिन कार्य है। उस व्यक्तिका कोई विश्वास नहीं करते हैं। कोई उसके प्रति क्रोधित होते हैं, कोई गाली देते हैं, कोई सदा उसके साथ वैर बांधते हैं, कोई उसके घर को जलानेकी बात कहते हैं, कोई राजाके द्वारा उसके घरको नष्ट करानेकी बात कहते हैं। इतना ही क्यों ? हजारों उपायोंसे उस व्यक्तिको कष्ट देनेके लिए प्रयत्न करते हैं। इसलिए दान देनके धन को एकदम अविचारित होकर नहीं बोलना चाहिये। बोलनेके बाद नकार नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान् दाताको उचित है कि वह जो कुछ भी दान देना चाहें मौनसे ही देवें ॥ १४७ ॥

दानरहितसंपत्तिकी निरर्थकता

पुण्यपुत्ररहितस्य जीवितं, ज्ञानदृष्टिरहितस्य संयमः ।
दानमानरहितस्य संपदोऽरण्यपुष्पमिव निष्फला स्युराः ॥

अर्थ—पुण्यवान्, धर्मात्मापुत्रसे रहित मनुष्यजीवन, ज्ञानदृष्टि अर्थात् विवेकसे रहित संयम* और दान व सन्मानसे रहित संपत्ति, ये सब अरण्यपुष्पके समान व्यर्थ हैं। हा ! मनुष्य विवेकसे काम नहीं लेता है, और अपना संपत्तिका योग्य स्थानमें उपयोग नहीं करता है ! आश्चर्य है ! ॥ १४८ ॥

---

* अनित्यममतादित्व सदयत्व सुतृप्तता ।
अनवेच्छासुवीरत्व सत प्राहुस्सुसंयम ॥

मानवायमनोवृत्ति

देहसुखान्यनुभवितुं स्वीकृतदुर्ग्रथमवितुमर्थमशेषं ।
दातुं ताम्यति नपत्त्यागो दण्डाय परिणयाय निजादेः ॥१४९॥

ऋणानुबंधात्परवित्तभुक्तिर्बलागतग्रंथसुरक्षणाय ।
व्ययत्यजस्रं सकलं धनं च विलश्यति पुण्याय अहो जनोऽयम् ॥

अर्थ—अज्ञानी मनुष्योंकी मनोवृत्ति इस प्रकार रहती है कि वे अपने देहसुखको अनुभव करनेके लिए, अपने पासमें स्थित स्त्री, पुत्र, घर, वाहन आदि परिग्रहोंके संरक्षणके लिए चाहे जितना धन खर्च करते हैं, उनको उसमें जरा भी दुःख नहीं होता है, अपने लिए किसी अपराधमें दण्ड हुआ तो लाखों रुपये देनेके लिए तैयार रहते हैं। अपने व अपने पुत्रोंके विवाहमें लाखों रुपये फूंक देते हैं। ऋणानुबंधसे दूसरोंके द्रव्य आनेपर भी उसे बलात्कारसे प्राप्त परिग्रहोंके संरक्षणके लिए ही लगाते हैं। इस प्रकार संसारवृद्धि के कार्यमें व्यय करते हुए उनको जरा भी खेद नहीं होता। अपितु धर्मकार्यके लिए, पुण्यार्जनके लिए, दान देना पडे तो बडा दुःख होता है। ॥ १४९ ॥ १५० ॥

दूसरोंको कर्ज देनेवाला

यावत्पत्रं वसति निलये यस्य तस्याधमर्ण-
स्तावत्पुत्रा वृषहयखराभृत्यदासीः स्त्रियः स्युः ॥
तस्मिन्भिन्ने सपदि मरणं यांति ते मृत्युकाले ।
पत्रं दद्यान्मुक्तिपुरपरस्तानि पत्राणि भिद्यात् ॥ १५१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंको कर्ज देता है, उस कर्ज लेनेवालेसे जो पत्र वगैरह लिखाता है, वह पत्र जबतक अपने घरपर मौजूद हो तब अपनेलिए पुत्र, कलत्र, दासी, दास, बैल घोडा, आदि हरतरहकी

समृद्धि होती है। अर्थात् वह आनंदसे रहता है। परंतु जब वह पत्र फट जाय या छिन्न भिन्न होजाय तो उसका मरण ही होजाता है। कर्ज लेनेवाला पुरुष मरण सन्मुख हो तो धर्मात्मा सज्जन उसे उस ऋण पत्रको वापिस दे, नहीं तो फाड डाले॥ १५१॥

परार्थापहरणफल

येऽर्थान्यस्य हरंति तस्य सकला अत्रा भवे वाग्रिमे।
भृत्यास्तेस्यु ऋणागता नियतयः सेवांसदा कुर्वते॥
सत्पुण्यागमजातयः सुकृतिनां पूतं वृषं स्वं कुलम्।
रक्षंतीदृशभेदवेदि विबुधोऽन्यार्थं त्रिधा वर्जयेत्॥१५२॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके धनको अपहरण करते हैं वे इस भवमें या अग्रिम भवमें उस धनके स्वामीके यहां भृत्य होकर पैदा होते हैं, चेतन परिग्रह होकर उत्पन्न होते हैं। उनको तबतक उनकी सेवा करनी पडती है जबतक कि वे ऋणमुक्त हो जांय। पूर्वजन्मके पुण्यसे संपत्तिको पाकर जो उत्पन्न होते हैं वे अपनी संपत्तिसे सज्जनोंकी, अपने पवित्र कुलकी व धर्मकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार पुण्य व पापोंके विभागको समझकर विवेकी पुरुष परधन अपहरण करनेके कार्यको मन, वचन व कायसे वर्जन करें॥ १५२॥

नीचव्यवहारत्याग

नीचस्यार्थं न गृह्णीयाद्दद्यान्नीचाय नोत्तमः।
गृह्णीयान्नीचान्नीच उत्तमस्यार्थमुत्तमः॥ १५३॥

अर्थ—चांडालादि नीचोंसे उत्तम पुरुष कर्ज न लेवें एवं उन नीचोंसे कर्ज देवें भी नहीं। वे चांडालादि अपने समान जातियोंसे ही इस प्रकारका व्यवहार करे, एवं उत्तम पुरुष उत्तम जातिके लोगोंसे ही व्यवहार करें॥ १५३॥

ऋणनीति

तीव्रे गदेऽधमर्णस्य पत्र भित्वा ददसुजा ।
गृह्णीयाल्लिखित साधु सर्वनाशो विपर्ययात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—जिसने कर्ज लिया है वह मनुष्य तीव्र व असाध्य रोगसे पीडित हो तो उसके ऋणपत्रको फाडकर उसके पुत्रसे दूसरा पत्र लिखा लेना चाहिये । ऐसा न करें तो सर्व नाश होता है ॥ १५४ ॥

ऋणदोष

श्रुत्वोत्तमर्णवचन मनुजस्त्वरस्तो
शृण्वन् वनि मृग इवाविरत स्वलद्वाक् ।
मूर्च्छन्ससन्निपतनोत्थितलक्षण स्या-
द्विद्वान्विमुक्तपरवस्तुरिहापि पूज्य ॥ १५५ ॥

अर्थ—जिसने किसीसे कर्ज लिया हो तो कर्ज देनेवालेके वचन को सुनकर वह भयभीत होता है, जिस प्रकार कि व्याघ्रकी ध्वनिको सुनकर हरिण भयभीत होता है, उसी प्रकार वह भी भयभीत होता है । उसके सामने बोलते समय स्खलित वाणीसे बोलता है । मूर्च्छित होता है, विशेष क्या ? सन्निपात ज्वरोंके लक्षण ही प्रकट होते हैं । ऐसा अवस्थामें दूसरोंसे कर्जा लेनेका जो त्याग करता है वही सचमुचमें विद्वान् है और पूज्य है ॥ १५५ ॥

मायाचारदोष

यत्रास्ति वचना तस्य न रत्नायार्थलाभता ।
विश्वसंति न सर्वे त, पापवृद्धि परा भवेत् ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिसके हृदयमें मायाचार या वचकत्वभाव मौजूद है उसे कभी रत्नत्रय, पुण्य व अर्थलाभ नहीं होसकता है । उसे दुनियामें कोई भी विश्वास नहीं करते । और उसके पापकी वृद्धि होती जाती है ॥ १५६ ॥

दरिद्र

स्मृत्वा चेतसि गापवि भुदितवान् सपन्नसस्या धरा।
गत्वा तत्र विचारयन्निव सदा वर्तेत योऽतविक्रे ॥
प्रया दु खकरो भवश्च मदन नास्य व्ययायागमत्।
कश्चिन्नो ऋणशेऽधमर्ण इह चान्यार्थान्हरेयुर्मिषात्॥१५७॥

अर्थ—जिसप्रकार भूखसे पाडित बैल किसी सस्यसपन्न खेतका स्मरणकर जाता है व उस खेतको खा डालता है एव सदा इस प्रकारके विचार में रहता है कि मुझे और कहा खेत मिलेगा। इस प्रकार दु खकर परिग्रहोंको एकत्रित करनेवाला एव उसके सरक्षण व व्ययकेलिए धन जिसके पास नहीं है ऐसा दरिद्र सदा अनेक प्रकारको बहाना बाजाकर दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करता है ॥ १५७ ॥

विभावमावसे युक्त युवती

श्रुत्वा पात्रमिहागत च तरुणी पत्युर्वचस्तत्क्षणात्।
स्फूर्जंती खलु वज्रवत् प्रसविनीव्याघ्रीव मा स्फोटिनी॥
घुष्टा शूलवतीव पातितधनवाक्रदिनी तन्मुख।
राहुग्रस्तरवींदुबिंबमिव निस्तेजोकर मिथ्यभम् ॥ १५८॥

अर्थ—घरमें यदि क्रूर परिणामसे युक्त पत्नी हो तो वह पतिके द्वारा पात्रके प्रतिग्रहणके वचनको सुनकर एकदम क्रोधित होती है, बिजलीके समान गर्जती है, प्रसविनी शेरनीके समान स्फोटन करती है, शूलवतीके समान शब्द करती है। अपने धनके खोए हुए के समान रोता है, विशेष क्या? उसका मुख राहुग्रस्त चद्र व सूर्यबिंबके समान निस्तेज हो जाता है ॥ १५८ ॥

धर्मविध्वंसिनी स्त्री

रक्ताक्षी कुपिताननां हतशिरा या विक्षिपती हठात्।
पुत्राद्यर्थंवच नष्टपदयुगा-पात्र शपती क्रुधा.॥

साऽस्य स्यान्मुनिरत्र तस्य सुकृतं निर्मूलयन्ती वधू ।
ज्येष्ठा दुर्गतिदायिनी गुणहरी सद्धर्मविध्वंसिनी ॥१५९॥

अर्थ—इसी प्रकार और एक प्रकारको जो पात्रके आगमनको सुनकर आंखे लाल करलेती है, गोबरसे मुखको पुता लेता है, शिर पीट लेती है, जबर्दस्ती वध व बरतन वगैरेका इधर उधर फेंकने लगता है, चलते समय नाचनेके समान नरके शब्द जोर जोरसे करती हुई चलता है, इतना ही क्यों अनंतानुबंधी क्रोधके उदयसे उन मुनिराजों को खूब गालियां देता है । वह भी सचमुचमें स्त्री नहीं, पतिके लिए मृत्युके समान है, वह आज पतिके संपूर्ण पुण्यको नष्ट करती है, ज्येष्ठा है, दुर्गति प्रदान करनेवाली है, समस्त गुणोंको नाश करनेवाली है एवं सद्धर्मको विध्वंस करनेवाली है ॥ १५९ ॥

न क्षीरं दधि नो न तक्रममलो नो तण्डुला नो घृतं ।
नो शाकं द्विदलं न तैललवणं नो नोपणं लघनम् ॥
भाण्डं नाभिनवं गृहं न शुचि न स्नाताऽहमन्या न मे ।
सामग्र्यं च विना कराभि गुरवे पात्रमयत्नं कथम् ॥१६०॥

अर्थ—कोई कोई बिना आहार दान देनेकी इच्छा न हो तो बहानाबाजी करता है । घरमें दूध नहीं, दही नहीं, छाछ नहीं, अच्छे चावल नहीं, घी नहीं, शाकभाजी नहीं, दाल वगैरे नहीं, तेल नहीं, नमक नहीं, मिर्च नहीं, लकडी नहीं, नवीन बरतन नहीं, घर भी साफ सुथरा नहीं, मैंने भी स्नान नहीं किया, मुझे मदत करनेवाला दूसरा कोई नहीं, इसके अलावा मुझे योग्य सामग्री भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें मैं पात्रोंको आहारदान किस प्रकार करूं । इत्यादि प्रकार से कहता है ॥ १६० ॥

बहानाबाजीका प्रकार

मद्भर्ता च सुतः पुरे न नपरो न द्रव्यमेके गृहे ।
वित्त मे न करे पुरेऽत्र ऋणदा नैकोऽत्र यात्रागते ॥

एका साश्रुरहं वचस्यघवती मायाविनी चिंतिता ।
गहं शून्यमिदं वपुः सहृदयं क्लिश्नाति लुब्धांगना ॥१६१॥

अर्थ—और कोई स्त्री इस प्रकार बहाना करती है कि मेरे पति गाम में नहीं है, पुत्र भी नहीं है, मेरे लिए सहायता करनेवाले दूसरे कोई भी नहीं है, घरमें कुछ भी सामान नहीं है, मेरे हाथमें पैसा नहीं, यहां कोई उधार देनेवाला भी नहीं है, पात्रके आनेपर यहांपर कोई नहीं है, हा ! मेरा दुर्दैव ! इस प्रकार कहती हुई मायाचारसे लोभी अपने हृदयमें संक्लेश परिणामको करती हुई रोती है। उसका हृदय व घर सब कुछ शून्य है ॥ १६१ ॥

पात्रानादरफल

गृहागतं च यत्पात्रं यास्तिरस्कुरुते यदा ।
आजन्मत्रितयं तेन दुःखमेवानुभूयते ॥ १६२ ॥

अर्थ—घरपर आये हुए पात्रका जो तिरस्कार करता है, वह तीन जन्मतक तीव्र दुःखका अनुभव करता है ॥ १६२ ॥

गर्भिणी अनादर करें तो

गृहागतं पात्रमवेक्ष्य गर्भिणी ।
नाऽत्र सुवारो यदते न निष्ठुरात् ॥
तस्मिन्गते स्यात्स सुतो दिनन्मना ।
जन्मत्रये दुःखमिहानुभूयते ॥ १६३ ॥

अर्थ—घरपर आये हुए पात्रको देखकर गर्भिणीको हर्ष होना चाहिये। उसे विचार करना चाहिये कि मेरे व गर्भस्थ बालकके शुभचिह्नके रूपमें ये मुनिराज आये हैं। ऐसा न कर जो गर्भिणी उन ऋषियोंका तिरस्कार करती है, उसका बालक लंगड़ी, अंधा, पांगला, बहरा आदि होकर उत्पन्न होता है। वह स्वतः तीन जन्मतक दुःख अनुभव करती है ॥ १६३ ॥

अथ अन्नदान

सदद्रव्यार्वान्नदात्री या पात्रेभ्य सा तु निर्धना ।
दृष्टलाभा व्याधिता वा क्लिष्टचित्ता परत्र च ॥ १६४ ॥

अर्थ—घरमें भरपूर आहारद्रव्य व धनके होते हुए भी जो स्त्री साधुओंको अर्ध पेट ही आहार खिलाकर भेजती है, वह इस भवमें ही दरिद्री हो जाता है, उसको प्राप्त दानवाले लाभ नहीं मिलते। अनेक प्रकारके रोगोंसे पीडित होता है, परभवमें भी अनेक दुःखोंको भोगती है ॥ १६४ ॥

क्रोधदत्ताहार

स्वकीयबंधून्परितर्प्य वाग्भि पात्रस्य तृप्तिं च न कुर्वते ये ।
क्लिष्टाशया स्यु सतत दरिद्रा क्रोधेन पात्रेक्षरक प्रयाता ॥

अर्थ—अपने बंधुओंको उत्तम वचन व आहारादिकसे, एवं साधुओंको मृदुवचन व आहारोंसे जो तृप्त नहीं करते हैं वे हमेशा दुःखी व दरिद्री ही रहते हैं। क्रोधसे किये हुए किसी भी कार्यका फल अच्छा नहीं हुआ करता है, पात्रके प्रति क्रोध करनेसे एक मात्र नरकको गई है ॥ १६५ ॥

क्रोधेनोपकृत च कार्यमखिल व्यर्थं यथा जायते ।
क्षेत्रे भूमसमुत्थबीजनिकर संपद्यते नो यथा ॥
अनदेषकृत च दानमपि सत्क्ष्वेडा यथा शर्करा ॥
कारुण्यार्द्रमन कृत च सकल सार्थं भवेच्छाश्वतम् ॥१६६॥

अर्थ हे मनुष्य ! जिसप्रकार उत्कृष्ट बीजको ऊसर खेतमें बोनेसे उसका कोई उपयोग नहीं हुआ करता है, उसी प्रकार क्रोधसे यदि पात्रके लिये उपकार किया जाय तो वह सर्व व्यर्थ होता है, जिसप्रकार शक्कर में विष मिलाकर खिलाया जाय तो वह प्राणको हरण करता है

इसीप्रकार द्रव्यसे दिया हुआ दान सफल नहीं होसकता है। करुणासे आई हुए मनस किये हुए सर्वकार्य सफल व शाश्वत होते हैं ॥१६६॥

पंक्तिभेदकृतफल

पंक्तिभेदे कृते यत्न षड्गिर्मुक्तिवर्जितः।
भस्मकव्याधिवान्स स्याद्वह्निवत्सर्वभक्षकः॥ १६७॥

अर्थ—यदि दाताने पात्रोंमें अमुकपात्र मेरा उपकारी है, अमुक उपकारी नहीं है इत्यादि प्रकारके विचारसे पंक्तिभेद अर्थात् आहार द्रव्यके देनेमें भेद किया तो उसके फलसे वे दंपति भस्मक रोगसे पीडितके समान तीव्र अग्निके रहते हुए भोजन रहित होते हैं। अग्निके समान भक्ष्याभक्ष्य सर्व पदार्थोंका भक्षण करते हैं ॥१६७॥

ये स्वस्वामिन्युदासीनास्त्रिकालविभवच्युताः।
तथा देवे गुरौ ते स्युस्त्रिकालसुकृतच्युताः॥ १६८॥

अर्थ—जो सज्जन अपने स्वामीकी सेवामें उदासीनता को धारण करते हैं वे त्रिकालमें भी संपत्तिको पा नहीं सकते। इसीप्रकार जो सज्जन देव व गुरुकी सेवामें उदासीनताको धारण करते हैं, वे त्रिकालमें पुण्यार्जनकार्यमें च्युत होते हैं ॥ १६८॥

उपकारियोंका प्रकार

कार्पासबीजान्यास्वाद्य दत्त क्षीरं यथा पशु।
ग्रहा के फलमादाय धर्मकार्यं च कुर्वते ॥ १६९॥

अर्थ—जिसप्रकार कार्पास बीजको ग्रहण कर गाय भैंस वगैरे दूध देती हैं, एवं जिसप्रकार दूसरोंको कष्ट देनेवाले भूतपिशाच फलादिक ग्रहणकर संतुष्ट होते हैं, इसप्रकार कोई २ सभागम उपकारी होते हैं ॥ १६९॥

दत्वानर्घ्याणि रत्नानि गृह्णन्ति काचांस्तथा यथा।
धर्मकार्याणि कुर्वंति धर्मबुद्ध्या न कुर्वते ॥ १७० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई सज्जन उत्तमोत्तम रत्नोंको देकर बदलेमें काचके टुकडोंको लेते हैं, इसी प्रकार कोई सज्जन धर्मकार्योंको तो करते हैं परंतु उसे धर्मबुद्धिसे न करके केवल ख्यातिलाभ पूजाके लिए करते हैं ॥ १७० ॥

वंचित्वात्मपतिं जारान्यस्यापकुरुते यथा।
तथात्मपात्रं वंचित्वैवान्येभ्यो ददतेऽत्र के ॥ १७१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको ठग करके अन्य पुरुषको उपकार करती है, उसी प्रकार कोई २ सज्जन अपने उत्तम पात्रोंको आहारदान न देकर दूसरोंको दे देते हैं ॥ १७१ ॥

दाताओंका प्रकार

केचित्कुर्वंति दानं पशव इव जनैस्संयता दुर्मनस्काः।
केचिद्भित्य च भृत्यैरिव कृपिकजनाबाधिता दुर्मनस्काः ॥
स्वामिमप्याश्च केचिद्युवतय इव सकुप्यमानामनस्काः।
केचित्कुर्वंति दानं धृतभृतिमनुजा ये यथा तेऽत्र धर्मे ॥१७२॥

अर्थ—कोई मनुष्योंके द्वारा बंधे हुए पशुओंके समान मनके विचारको रखते हुए दान करते हैं। कोई नौकरोंके द्वारा बाधित कृपिकके समान हृदय रखते हुए दान करते हैं। कोई२ स्वामीके द्वारा कुपित स्त्रीके हृदयके समान विचार रखते हुए दान देते हैं। एवं कोई वेतनभोगी नौकरोंके समान दान देते हैं। इस प्रकार दान देते समय भिन्न २ प्रकारके परिणाम रहते हैं ॥ १७२ ॥

कचित्पात्रमवेक्ष्य चाटुवचनैः मतर्प्य यांत्यर्थिनः।
काचित्पात्रमवेक्ष्य सद्मनि चिरं भीता इवात्रासते ॥

केचित्तद्वचन वदतममलं निर्भर्त्सयत्यद्भुतम् ।
उक्त्वा दैन्यवचोऽपि तेन कतिचित्कस्यालय ब्रूहि भो ॥१७३॥

अर्थ—कोई धनिक सज्जन पात्रोंको देखकर उनके साथ मीठी २ बातें बनाकर चलते बनते हैं। कोई उन पात्रोंको देखकर कर्ज दिये हुए साहुकारके आनके समान भयभीत होकर घरमें बैठ जाते हैं। कोई निर्मल वचनको बोलनेवाले पात्रकी निर्भर्त्सना करते हैं। कोई दाना पात्रागमनकी सूचना देनेवाले सज्जनसे दानताके साथ बोलते हुए पात्रको किसी घरमें ले जानेके लिए कहते हैं ॥ १७३ ॥

एकोऽहमस्यां पुरि किंच नान्य
द्वाराग्रगेह द्रुतमेषि दृष्ट्वा ।
कुप्यतमेतं विबुधा वदंति
मन्येऽघदोऽयं समयोऽहमन्ये ॥ १७४ ॥

अर्थ—कोई दानी अपने घरके दरवाजे पर खडे होकर पात्रोंके आगमनको देखता है। यदि पात्र दूसरोंके घरको छोडकर अपने घरकी ओर आवे तो उस पात्रकी सूचना देनेवालेके प्रति वह क्रोधित होकर कहता है कि " क्या इस नगरमें मैं अकेला हू, दूसरे कोई नहीं हैं। क्यों दूसरेके घरको छोडकर मेरे घरकी ओर ही आते हो'। इस प्रकार उसके प्रति क्रोधित होनेवाले दाताके लिए वह पापार्जन का समय है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। हम भी कहते हैं ॥ १७४ ॥

केचित्सत्पुरुषान् द्विषति कुपितान् कुप्यंति शप्यत्यल।
केचिद्दुःपुरुषान्नमति ददते शंसंति विच स्वयम् ॥
पुण्या' पुण्यकरा भवंति दुरघा पापातुरा विश्रुता ।
जीवंतोऽप्यगदं पिबंति विषमिन्छंतो मृति यं यथा॥१७५॥

अर्थ—कोई सत्पुरुषोंके प्रति द्वेष करते हैं, उनके प्रति क्रुद्ध होते

है, उनको अनेक प्रकारसे + गालियां देते हैं, कोई दुष्टपुरुषोंको नमस्कार करते हैं, एवं उनकी प्रशंसा करते हुए स्वयं उनको धन देते हैं। लोकमें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं। एक तो सदा पुण्यका अर्जन करते हैं। पुण्यमय कार्योंको करते हैं। पापकार्योंसे उपेक्षा करते हैं। कोई सदा पापक्रिया करते हुए पापार्जन ही करते हैं। जिस प्रकार जीनेकी इच्छा रखनेवाले औषधको व मरनेकी इच्छा रखनेवाले विषको पाते हैं, उसी प्रकार लोकमें पुण्यार्जन व पापार्जन करते हैं ॥ १७५ ॥

मिथ्यादृष्टियोंको दानदेनेका फल

मिथ्यादृशे ये ददतेऽथ दानं शुद्धाश्च जैनाः सुदृशोऽपि तेषां।
यक्षा हरंति श्रियमर्थमन्ये हरंत्योघवृत्तानि क्षयं प्रयांति ॥१७६॥

अर्थ—शुद्धसम्यग्दृष्टि जैन दाता मिथ्यादृष्टियोंको पुण्यार्जनके निमित्त यदि दान देते हों तो उनकी संपत्ति आदिको यक्ष अपहरण करते हैं एवं दूसरे भी उनके द्रव्यको अपहरण करते हैं। उनके रत्नत्रय भी नष्ट होते हैं ॥ १७६ ॥

स्वस्वाम्यरिभटेभ्योऽर्थं यो दत्ते स्वामिना स च।
हतो बद्धो दण्डितो वा, स्वामिद्रोहीत्युशंति तम् ॥१७७॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने स्वामीके शत्रुओंको धनादिक देकर मदत करता है वह उसके स्वामीके द्वारा मारा जाता है, बद्ध होता है, एवं लोकमें उसे स्वामिद्रोही कहते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टियोंको धनादिक देकर मदत करता है वह आत्मद्रोह करता है ॥१७७॥

भयप्रदत्त दान

देहि देहि न मुंचेऽहं वदता दानिना जनाः।
बालरक्षलिदातारं इह भांति महीतले ॥ १७८ ॥

+ शापं जीवितं हंति हानं पुण्यं श्रियं धियं।
करोति मूकतां मंक्षु नीचैर्गोत्रं च दुर्गतिम् ॥

अर्थ—कोई याचक आकर किसी दातासे यह कहें कि मुझे दीजिये, दीजिये, मैं छोड नहीं सकता। उस हालत में उसको दान देनेवाला दाता ठीक उसी प्रकारका है जैसा कोई अपने बालक के रोग शमनके लिए बलि देता हो ॥ १७८ ॥

व्याघ्ररूपदाता

चण्डाऽपवादभीतो यो याचि क्रुध्यति चेतसि।
बाधां न कुरुते भाति पञ्जरस्थतरक्षुवत् ॥ १७९ ॥

अर्थ—जो दाता याचकोंके प्रति मन व वचनमें अत्यंत क्रुद्ध होता है, परन्तु अपवादके भयसे कोई बाधा नहीं पहुंचाता वह पञ्जरमें बद्ध व्याघ्रके समान है ॥ १७९ ॥

तरण्डमापूरितसर्वलोकं नदीतटं तारयिताऽपनरकं ॥
तद्वत्स्थानपि सर्वलोकान् शापं प्रकुप्यन्निव दातृलोकं ॥१८०॥

अर्थ—जहाजमें भरे हुए लोगोंको दयासे समुद्र या नदीके किनारे पर न पहुंचाकर उनके प्रति क्रोधित होते हुए अनेक प्रकारसे गाली देनेवाला जो नाविक रहता है, उसके समान कोई दाता रहते हैं। आये हुए पात्रोंको दयाभावसे उचित दान देकर भेजनेके बदले उनके प्रति क्रोधित होकर उनके साथ गालीगलौजका व्यवहार करते हैं यह बडे दु खकी बात है ॥ १८० ॥

व्याजेनान्यार्थमाहृत्य पुण्याय ददते नृणां।
तैलरूपरमिवाभाया नेमिनिर्णजका इव ॥ १८१ ॥

अर्थ—जो लोग दूसरोंके धनको किसी व्याजसे हरण कर धर्मकार्यके लिए देते हैं, उनका पुण्य नष्ट होता है ... उनकी वृत्ति ...के समान है ॥ १८१ ॥

अक्सेव्यानि सजतूनि फलानि ददते बहु ।
यथा क्षीरिद्रुमा केचिद्दायपयुग्दानिनस्तथा ॥ १८२ ॥
स्ववत्सपुष्टिरुद्धचैव न क्षरंति यथा नृणाम् ।
वदन्त्य पशवश्चण्ड्य काश्चिद्युवतयस्तथा ॥ १८३ ॥
धनवतस्तथा केचिन्निरर्था दानवर्जिताः ।
श्रीफला फलवतापि यथा सेव्या न चाम्रवत् ॥ १८४ ॥
या स्त्रियो व नरा वृद्धैः स्वसेवां कारयन्ति ता ।
दास्या भवयुस्त दासास्तद्वृत्या जन्मजन्मनि ॥१८५॥

अर्थ--कोई दानी क्षारिद्रुमादिक वृक्षोंक समान ह, क्यों कि वे असेव्य बहुतसे फलोंको प्रदान करते हैं, इसाप्रकार कोई दानी दोषयुक्त अनेक द्रव्योंको दान दनेके लिए रखते हैं ॥ १८२ ॥

कोई २ मायाचारिणी गायें अपन बछडेके पोषणके लिए ही दूधको छोडती है, उसा प्रकार कोई २ स्त्रिया अपने बच्चोंके व घरके पोषणके लिए आहार द्रव्य रखकर पात्रोंके आनेपर उसक अभावको बतलाती हैं ॥ १८३ ॥

कितने ही धनवान् ऐस रहते हैं कि धनके रहते हुए भी दान कार्यको नहीं करत हैं । उनका धन भी निरर्थक है । जिस प्रकार कि बेलके वृक्षमें निशप बेल फल रहन पर भी आमके समान सुगमता से वे फल नहीं खाय जात ॥ १८४ ॥

जो स्त्रिया व पुरुष अपनसे ज्ञान वय आदियों स वृद्धजनास सेवा करात हैं व ज मज ममें दास दासी होकर उत्पन्न होत हैं ॥ १८५ ॥

यः क्लिश्यारयधन सरा यदि भवेद्त्तेऽहसे दुर्दृशे ।
वेश्याहासकगीतिभङभूतये देहाससौख्याय च ॥
दुस्थाने भवनाय मूलधननिर्नाशोद्यमायाखिल–
स्तस्यार्थो घटते सदा न घटते धर्माय वित्तादिकः॥१८६॥

अर्थ—जो व्यक्ति दरिद्रताके कारण पात्रदानादिक न करसकनेसे सदा खेदखिन्न होता रहता है, यदि उसे किसी तरह धन मिलकर प्राप्त हुआ तो फिर वह देव, धर्म आदिको भूल जाता है । उस समय वह पापकार्यमें, मिथ्यादृष्टियोंके लिए, वेश्या, विदूषक, गायक, भांड आदिके लिए अपने द्रव्य का व्यय करता है । एवं देह व इंद्रिय भोगमें व्यय करता है । खराब स्थानोंमें, अपना घर बगैरे बनानेमें व्यय करता है । उसकी क्रियायें मूलधनके ही नाशके लिए होती हैं । तब चाहे तो और भी लोग कर्ज बगैरे देते हैं । परंतु धर्मके लिए धनादिकका सहायता नहीं मिलता है, अर्थात् लोकमें पापकार्योंके लिए धन आदिकी कभी कमी नहीं होता है । परंतु धर्मकार्य, पात्रदान आदि करना हो तो उसके लिए धन आदिकको बडा अडचन रहता है ॥ १८६ ॥

मिथ्यादृष्टिदानफल

क्षुधत्यादौ बहुपीतमबु दहन निर्नाशयत्युज्ज्वलम् ।
पश्चाद्भुक्तमहाशन गरलवत्प्राणान्यथा हंति यत् ॥
सद्दृष्टि कुदृशेषु पात्रमिति त मत्वा च दत्ते धन ।
हत्वा दृक्सुकृत पुनः कृतमघ सवर्ध्य तत्स्व क्षयेत् ॥१८७॥

अर्थ—जिस प्रकार तीव्र भूख लगे हुए व्यक्तिने यदि भोजनके पहिले यदि खूब पानी पालिया तो तीक्ष्ण उदराग्नि एकदम नष्ट होती है, और उसके बाद पुन अधिक भोजन किया तो उसे पचाने योग्य अग्निके न होनेके कारण वह भोजन भी विषके समान होता है । इसी प्रकार जो मनुष्य मिथ्यादृष्टिको भी पात्र समझकर दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्दर्शन व पुण्यको खो लेता है, और पापकी वृद्धि करता है । एवं अपने व इंद्रियादिकके विषयका नष्ट करता है ॥ १८७ ॥

दानं मिथ्यादृशे दत्तं दृष्टिं पुण्यं च नाशयेत् ।
साधितेऽरिपुरे शत्रुः कटकद्रुम्बपिव ॥ १८८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिके लिए दान देनेपर वह सम्यक्त्व व पुण्यका नाश करता है । शत्रुके नगरको साधन करने के बाद शत्रुराजा जिस प्रकार कटकवृक्षोंके बीजको बोता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियोंको दान देनेपर अपनी हानिके लिए ही कारण होगा ॥ १८८ ॥

मुक्त्वा निजस्वामिनमेव चित्ता ।
शत्रुं समाश्रित्य सभाति राशित (?) ॥
सायुर्विभूति स यथा विनश्येत् ।
सुदृक्तथा स्यात्कुदृगाश्रितश्च ॥ १८९ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने स्वामीको छोडकर शत्रुओंका आश्रय करता है वह अपनी हानि ही कर लेता है । और उसकी संपत्ति आदिक नष्ट होती है, इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टी जीव मिथ्यादृष्टियोंका आश्रय करता है उसकी हालत होती है ॥ १८९ ॥

महाव्रते दर्शन एव नष्टेऽवग्रहत स्यादिव लोक एव ।
ज्ञाने तटाकादिविभेदवत्सद्वृत्तेपि सस्यादिविनाशवच्च॥१९०॥

अर्थ—इस जीवका महाव्रत व सम्यग्दर्शन यदि भ्रष्ट हुआ तो लोकमें बरसात न पडनेसे जो दुर्भिक्ष पडता है उसके समान उसकी हालत होती है । ज्ञानके नष्ट होनेपर तालाब आदिके बांधके टूटनेके समान होता है । अहिंसादि व्रतोंके नष्ट होनेपर खेतके सस्यादिकके नाशके समान होता है ॥ १९० ॥

एषामासां न दानेच्छेत्युक्त्वा यस्तान्निवारयेत् ।
स एव सैव पापात्मा स्याच्छ्वा जन्मजन्मनि ॥ १९१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति " अमुक पुरुषको दान देनेकी इच्छा नहीं है,

अमुक स्त्री को दान देनेकी इच्छा नहीं है " ऐसा कहकर दान देनेसे रोकता है, वह पापी व्यक्ति व वे जन्म जन्ममें दरिद्र होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १९१ ॥

या स्त्री मृतेशा सकला यदा तां पौरा वपतीह तदेव येन ।
सदृक्चरित्रं च यदा विनष्ट कर्माणि देवाश्च जनास्तदा त ॥

अर्थ—कोई स्त्री मृतपति अर्थात् विधवा होती है तो उसे पुरवासी जन यदि दु ख देते तो उन पुरवोंने अपने सम्यग्दर्शन व चारित्र को नष्ट किया तथा उसके फलसे उनका पापकर्म, शासनदेवतायें व मनुष्य उनको मारते हैं, अर्थात् उनकी अनेक प्रकारसे हानि करते हैं ॥१९२॥

भोक्तु मार्थितभुक्ति संस्थित सद्गृहमागत ।
तस्य दानांतराय स्यायः पुमांश्च विहापयेत् ॥ १९३ ॥

अर्थ—यदि कोई भोजनके लिए बैठा हो, या भोजनके लिए निमंत्रण पाया हो तो उसको निवारण करनेवाले स्त्री पुरुषोंको घोर अंतरायकर्मका बंध होता है ॥ १९३ ॥

कार्याय पद्मशनं कुदृशे जनाय
नीचाय तडुलपतिं दययैव दद्यात् ॥
जैन विनात्मनिलये शयनं च भुक्तिं ।
नो कारयदिव फलानि च विक्रयत ॥ १९४ ॥

अर्थ—अपने कार्यके निमित्तसे किसी मिथ्यादृष्टिको भोजन बधा हो, एवं किसी नीचको चावल या घी पकी थाली बची हो तो उनका दयाके भावसे ही देना चाहिये । अर्थात् पात्र समझ कर नहीं देना चाहिये । जैन कुलोत्पन्नको छोडकर अपने घरमें दूसरोंको भोजन कराना व शयन कराना ठीक नहीं है । बाजके लिए रखे हुए फलका विक्रय करना जिस प्रकार अनुचित है, उसी प्रकार सत्पात्रोंके दानके

योग्य द्रव्यको मिथ्यादृष्टियोंको प्रदान करना अनुचित है × ॥१०४॥

आहूय जैनान्बहिरालयेषु य भोजयत्येव स एव सर्व ।
पाप लभत न विशत्यपास्तमोदासयेषु कतिनोऽपि जैना ॥१०५॥

अर्थ—अपने घरपर जैनियोंको बुलाकर जो उनको बाहरके सामान्य घरपर भोजन कराते हैं वे पापार्जन करते हैं । पुण्यका नाश करते हैं । पुण्यात्मा सज्जन जैनियोंकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥१०५॥

अशिक्षितकुदृग्भ्यो ये दानानि ददत नराः ।
महारण्ये भवेयुस्ते मदोन्मत्ता मतंगजाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो सज्जन अशिक्षित व मिथ्यादृष्टियोंको दान देते हैं वे उस दानके फलसे बडे भारी जंगलमें मदोन्मत्त हाथी होकर उत्पन्न होते हैं ॥ १०६ ॥

नो दद्यादपकारिणे च रिपवे धर्मद्विषे भीकृते ।
भृत्येभ्य परिहासकाय यशसे भूपाय संगीतिने ।
नृत्ताया अपि विनोदकाय गणिकालोकाय दुर्वृत्तय ।
गोवृत्ताय खलाय धार्मिकजना नैज धन धर्मत ॥१०७॥

अर्थ—धार्मिक जनोंको उचित है कि वे धर्मबुद्धिसे अपकारी, शत्रु, धर्मद्वेषी, भयकर, भृत्य, हास्यकार, स्तुतिपाठक, राजा, गायक, नर्तक, विनोदक, वेश्याजन, दुराचरणी, दुष्ट आदियोंको अपने धनको न देवें । अर्थात् धर्मबुद्धिसे इनको धन देना यह पाप संचयके लिए कारण है ॥ १०७ ॥

× जन्मुनिगृहात्क्षित्वा तरगेहेषु भोजयेत् ।
दायन च न कर्तव्य कर्तव्य सद्भिरेव यत् ॥
प्रददु स्वप्नचोराद्यैस्सनीना पोषणे यदि ।
अपचारो भवे नृणा न स्वपेत्रन्यमंदिरम् ॥

गायकवादकनर्तकमागधपरिहासकादिलोकस्य ।
सेवार्थं दाता धनमपवादभयेन चार्थिने दद्यात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—गानेवाला, बजानेवाला, नर्तन करनेवाला, स्तुति करनेवाला, हास्यकार, याचक आदियोंको सेवा करनेके उपलक्षमें, लोकमें अपवाद न हो इस भयसे ही धन देना चाहिये। उनको पात्र समझकर दान नहीं देना चाहिये ॥ १९८ ॥

प्रमत्तनागाः सृणिशिक्षितास्सदा ।
भुजंगतानानुगता महोरगाः ।
कुधर्मजश्रीमदमत्तमानवाः ।
समन्त्रतंत्रैरपि शिक्षिता न च ॥ १९९ ॥

अर्थ—मदोन्मत्त हाथियोंको अंकुशसे वशमें कर सकते हैं। काले सर्प भी मन्त्रतंत्रोंसे अनुकूल होते हैं। परंतु कुधर्म अर्थात् अपात्रदानादिकके फलसे उत्पन्नसंपत्तिके मदसे जो मदोन्मत्त हैं उन पुरुषोंको कोई भी मंत्र तंत्रोंसे वशमें नहीं कर सकते हैं ॥ १९९ ॥

अनियतकरणान्ये मानवांस्तर्पयन्ती— ।
स्त्वनियतकरणास्ते दुर्विनीता भवेयुः ।
दुरितकरणशक्ता ध्वस्तपुण्यार्थभक्ता ।
नियतकरणवृत्ता पालनीया स्ववित्तैः ॥ २०० ॥

अर्थ—जो व्यक्ति पंचेंद्रियविषयों में अनियमितवृत्तिसे धारक इंद्रिय लोलुपी असंयमियोंका पोषण करते हैं, वे पापार्जनमें सहायता पहुंचाते हैं। इंद्रियलोलुपी व असंयमी स्वेच्छाचारी व अपकर्मोंके अर्जन करनेमें समर्थ होते हैं। वे पुण्य व पुण्यात्मावोंको कष्ट भी देते हैं। इसलिए हमेशा नियतकरण वृत्तिवाले अर्थात् इंद्रियदमन करनेवाले संयमियोंका ही अपने द्रव्यसे पोषण करना चाहिये ॥ २०० ॥

मुग्धा कन्दर्पदर्पात्सौख्यमतयो विश्वस्य वेश्याद्युते
दत्वात्मीयसुखोचितार्थमुचिता न्यक्कृत्य सांप्रतान्परैः ।
सार्धं गाढरतिक्रियैस्सुखघना क्रीडति दृष्ट्वापि ता ।
सन्तिष्ठन्त इवोचितव्ययमजानन्तोऽत्र ताम्यत्यहो ॥२०१॥

अर्थ—हे जीव ! इस लोकमें शरीरसुखको ही सुख माननेवाले बहिरात्मा वेश्यासुखपर विश्वास रखकर उनको अनेक प्रकारसे धनादिक देते हैं । परन्तु वह वेश्या उनपर प्रेम करती है क्या ? नहीं । वह तो अधिक धन देनेवाले कोई दूसरे मिले तो पहिले पुरुषका तिरस्कार कर उससे प्रेम कर क्रीडा करने लगती है । वेश्याकी संगति पैसेवालोंके साथ होती है । तब वे मूर्खजन उसे देखकर दुःखित होते हैं । अपने द्रव्यको उचित स्थानमें व्यय करनेके लिए यदि मनुष्यने नहीं जाना तो ऐसा ही होता है ॥ २०१ ॥

निजतनुसुखकरभर्तुः कुलांगना अत्र सफलसेवाभक्त्या ।
कुर्वंत इव दातारो देहाक्षसुखोपकर्तृ लोकस्यालम् ॥२०२॥

अर्थ—अपने लिए शरीरसुखको देनेवाले पतिकी सेवा भक्ति एक कुलस्त्री जिस प्रकार करती है उसी प्रकार शरीर व इंद्रियसुखमें उपकार करनेवालोंकी सेवा दाता करें ॥ २०२ ॥

नाजीर्णं पटुकानलस्य सततं नागो विशुद्धचेतसः ।
पापं नास्ति जपस्य जीव सुदृशो दुःखोद्यमं माकुरु ॥
नैनो नागसमर्हद्युक्तचरितं हतुं समर्थं तथा ।
नास्त्याग क्रियमिह निहन्मि च कथं राज्ञा यथा चिन्त्यते ॥२०३॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि जिसकी उदराग्नि तेज है उसे अजीर्ण कभी नहीं होता है । जिसका विवेक शौच आदि तेज है उससे अपराध कभी नहीं होता है । अज्ञानी होनेपर भी सम्यग्दृष्टि

जावकेलिए पापकी वृद्धि नहीं होती है। वह अपने सम्यक्त्वसे पापके नाशके लिए ही प्रयत्न करता है। इसलिए हे जाव ! यदि तुम्हें लोकप्रिय होना हो तो दुष्ट कार्योंमें उद्योग मत कर, । जैनधर्म के धारण करनेवाले जीवको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता । जिस प्रकार राजा अपने सामने खडे हुए निरपराधी कैदीके सबधमें विचार किया करता है कि यह निर्दोषी है, इसे मैं कैसे मारू, किस प्रकार दंड दूं । इसी प्रकार जिनधर्मको धारण करनेवाले सद्दृष्टि जीवके प्रति हिंसाभावको धारण नहीं कर सकता है। क्यों कि उससे दूसरेके प्रति कष्टदायक व्यवहार नहीं हुआ करता है ॥ २०३ ॥

न पश्येत्सस्मरेदन्यकलत्रमिव न स्पृशेत् ।
जैनत्वमपि दत्तार्थं न स्मर स्पृश पश्य न ॥ २०४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार शीलवान् पुरुषोंका कर्तव्य है कि उनको अन्य स्त्रियोंको कामविकारसे नहीं देखना चाहिये (गुणानुरागसे देख सकते हैं) कामविकारसे स्मरण नहीं करना चाहिये (गुणानुरागसे स्मरण कर सकते हैं) काम विकारसे स्पर्श नहीं करना चाहिये (वैद्य, पिता, पुत्र आदि जिस पवित्रभावसे स्पर्श करते हैं, कर सकते हैं) इसीप्रकार हे जैन ! तुमने जिस पदार्थको दानमें दे दिया उसकी ओर देखो मत ! उसका स्मरण मत कर ! और उसका स्पर्श भी मत कर ! यही सज्जनोंका लक्षण है ॥ २०४ ॥

दानादानविशुद्धवशमाखिलान दोषान्यथा ध्यायति ।
रूप पश्यति साम्यमीसितुमिमांश्च यामसूदा जन ॥
तद्वद्धो लक्षणमुत्तम स्पृशति तामूर्ध्वं सुता न व्रती ।
देयार्थं द्रव्यदत्तमर्थमखिलं नित्यं त्रिधा वर्जयेत् ॥२०५॥

अर्थ— जिस प्रकार कोई सज्जन अपनी पुत्रीका विवाह होनेके पहिले उसके योग्य वरको ढूंढता है और अपने पुत्रीके गुणदोषादि

विचार करता है, सामुद्रिक लक्षण आदिको देखता है, उन लक्षणों को देखनेके लिए उसे स्पर्श करता है। परन्तु वह अता विवाहित होनेके बाद उसे स्पर्श नहीं करता है। क्यों कि उसका दान दूसरोंको दे चुका है। इसी प्रकार देव व ऋषियोंका जो धन दानमें दिया जा चुका है उसका मन, वचन व कायसे परित्याग करें ॥ २०५ ॥

आक्रामत्यूढकन्यां यस्त हत्वारो न के पुरि।
पौरा निंदन्ति हतीशा दंडयति नृपा यथा ॥ २०६ ॥

अर्थ—यदि किसी विवाहित कन्यापर किसीने आक्रमण किया तो पुरजन उसे मारे बिना नहीं छोड सकते। पुरजन उसकी निंदा करते हैं। जिस प्रकार राजा दंड देता है उसी प्रकार उस स्त्रीका पति भी दंड देता है। इसलिये दूसरोंको दिए हुए परद्रव्य पर भी आक्रमण नहीं करना चाहिए। लोकमें उसकी निंदा होती है। पुरवासीजन उसे कोसते हैं। राजा भी दंड देता है ॥ २०६ ॥

त्रीणि गंधाक्षपुष्पाणि सेव्यान्येव जिनाश्रितैः।
जिनार्चितान्यखिलार्थेषु नान्यवस्तूनि सर्वथा ॥ २०७ ॥

अर्थ—जिन भक्तोंको उचित है कि जिनेंद्रको अर्पण किए हुए द्रव्योंमें से तीन ही पदार्थ अर्थात् गंध अक्षत व पुष्प सेवन करने योग्य है। अन्य पदार्थोंको सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २०७ ॥

स्वक्षेत्रोप्तफलं हृतं न च नृणां धान्यादिलाभो यथा।
सत्यकारधने हृते न वणिजां लाभः स पात्रार्पिते ॥
आदत्ते द्रविणेन पुण्यमतुलं सत्पुण्यभाजां नृणां।
दत्ताहारमिवार्पितामिव सुतां पात्रार्पितं न स्पृशत् ॥२०८॥

अर्थ—जिस प्रकार लोकमें देखा जाता है कि अपने क्षेत्रमें बोये हुए बीजको यदि निकाल लिया तो उससे कोई धान्यादिक का लाभ

नहीं हो सकता है, किसी सांडेको निश्चित करनेके लिए दी हुई साड़ी का हा यदि व्यापारीने अपहरण कर लिया तो उसको कोई लाभ नहीं हो सकता है। इसी प्रकार पात्रके लिए दिए हुए धनको ग्रहण करने पर विपुल पुण्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो सज्जन शुद्ध पुण्य का अर्जन करना चाहते हैं, उनको उचित है कि जिस प्रकार दिए हुए आहारको पुन स्पर्श नहीं करते एव दी हुई कन्याको पुन ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार पात्रोंको दिए हुए दानद्रव्यका पुन स्पर्श न करें ॥ २०८ ॥

दत्तद्रव्यग्रहणनिषेध

सुक्षेत्रोप्तसुतुगपूगपनसव्रीह्यादिबीजानि य ।
किं गृण्हाति कृषीवल स्मरति किं बीजं सपुसं मम ।
सोऽग्रे सर्वफलानि सति मनसि स्मृत्वैव तुष्टो भवे- ॥
द्दत्तद्रव्यमुदर्कद तु सदया जना उदर्कैषिण ॥ २०९ ॥

अर्थ—अच्छा भूमिमें बोए हुए नारियल, सुपारी, पनस, धान आदिके बीजको क्या कोई किसान ग्रहण करता है? कभी नहीं, वह उन के उत्तर फलोंका मनमें स्मरण करते हुए सतुष्ट होता है। इसी प्रकार दयालु प्रशस्त दाताको भी उचित है कि वह दानके उत्तरफल को मनमें रखते हुए दिए हुए द्रव्यका पुन. ग्रहण न करें ॥ २०९ ॥

भूगोतटाकनदसिन्धुशुक्त्यभ्रतोयधुद्रुमा यथा ।
न स्मरति न गृह्णन्ति दत्तद्रव्याणि दानिन ॥ २१० ॥

अर्थ—जिस प्रकार भूमि, गाय, तालाब, नदी, समुद्र, सीप, आकाश, कूआँ और वृक्ष परोपकार करते हैं और दिये हुए पदार्थको वापिस नहीं लेते हैं, उसी प्रकार दानी भी दिए हुए द्रव्योंको न स्मरण करते हैं और न ग्रहण करते हैं। ॥ २१० ॥

उसी प्रकारकी) जिस प्रकार कि एक मनुष्य बाए हुए नारियलको निकालकर खाता है उसी प्रकारका वह मूढ धार्मिक है ॥ २१३ ॥

अन्यद्रव्यग्रहणनिषेध

याऽशेषवस्तुप्रकरोपकर्ता तद्वस्तुलेशस्य कयाचिता चेत् ।
शाप्त्यलाभे यदि कुप्यति भिन स एव मूर्खो न कर्तिन धर्मयाक् ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने अनेक दूसरोंको उपकार करता है, यदि उसने उस द्रव्यके कुछ अंशका अपने लिए याचन किया तो उसने दिया तो ठीक है, नहीं दिया तो उसके ऊपर क्रोधित होता है, गाली देता है, वही मूर्ख है, वह सज्जन नहीं, धार्मिक नहीं। क्यों कि दूसरोंका दिए हुए द्रव्यपर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है, इस बातका वह विचार नहीं करता है ॥ २१४ ॥

गर्ताटाऽन्यचितं कुसूलनिहितं धान्यं यथात्त्यन्वहम् ।
दारिद्र्योद्भवदुःखमाजनजनोऽन्यार्थं तथा सेवते ।
यद्दीनारशताशतस्करजनो दत्ते नृपायाखिलम् ।
तस्मादन्यधनं च साधिपतृणं धन्यो जनो न स्पृशेत् ॥२१५॥

अर्थ—जिसप्रकार गर्ताट (चूहेके समान जमीनके अंदर रहनेवाला जंतु) कुसूलमें भरे हुए धान्यको सदा खाता है, उसीप्रकार दारिद्र्यके दुःख से पीडित मनुष्य अनेक उपायोंसे परद्रव्यको अपहरण करते हैं। उसका फल बहुत बुरा भोगना पडता है। जिसप्रकार एक चोरने एक शतांश द्रव्यकी चोरी की तो भी राजाके द्वारा दिया हुआ दंड तो उस से शतगुणा अधिक होता है और उसे देना ही पडता है। इसलिए परधनको धन्य सज्जन कभी भी स्पर्श न करें, इतना ही क्यों? जिस घासका मालिक हो उस घासको भी नहीं लेवें ॥ २१५ ॥

देवाय गुरवे राज्ञे दत्तं पात्राय यद्धनं ।
दातृभिस्तच्च न ग्राह्यं स्वसैन्येषप्रशीजवत् ॥ २१६ ॥

अर्थ—देव, गुरु, राजा व सत्पात्रोंको दिये हुए धनको दातालोग मनवचनकायसे ग्रहण न करें, जिसप्रकार अपने खेतमें बोये हुए बीजको वह ग्रहण नहीं करता है ॥ २१६ ॥

आत्मीयमन्यदीयं स्वं दानं य कुरुतेऽत्र्यद् ।
दातृत्वहानिं कुर्यात्र ग्राह्यमन्यकलत्रवत् ॥ २१७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंके द्रव्यको अपने द्रव्यके रूपमें संकल्पकर दान करता है वह पापके लिए कारण है। उससे दातृत्वकी हानि होती है। परस्त्रीके समान परद्रव्यको भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २१७ ॥

देवगुरुसेवाफल

दत्तं निंबूफलं राज्ञाप्युत्पाद्य करुणां हृदि ।
दद्यादधिकं वित्तं देवगुर्वोस्तथाधिकम् ॥ २१८ ॥

अर्थ—राजाके पास जाकर प्रतिनित्य निंबू फलको भेटमें दवें तो उसके द्वारा वह प्रसन्न होकर एवं हृदयमें करुणा धारण कर उस नौकरको अनेक संपत्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार देवगुरुओंकी सेवा करनेपर, उनके प्रसादसे अनेक सुख संपत्ति मिलती है ॥२१८॥

स्वं स्वं देवाय संकल्प्य स्वयमेव व्ययत्यद् ।
स्वानर्थाय भवेत्कन्यादानवत्सोऽनरि स्मरेत् ॥ २१९ ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने द्रव्यको देवताकार्यके लिए संकल्प करके उसे अपने लिए उपयोग करता है, उससे उसका सर्वनाश होता है, यदि कन्यादान करके भी उस कन्याको पतिगृह में नहीं भेजे तो प्रिय दामाद भी शत्रु हो जाता है ॥ २१९ ॥

देवद्रव्यग्रहणफल

देवद्रव्यलिप्तसंहारे वैरं तेजोहति रुज ।
पापं पुण्यक्षयं तिर्यग्गतिं गच्छेत्स नारकीम् ॥ २२० ॥

मर्यादाके भीतर नहीं देना

वित्तमुक्त न दत्त यैर्यथा प्रागवधेर्मुदा ।
उक्तं तैर्न फलं कार्यं तेषामिष्ट न कुत्रचित् ॥ २२८ ॥

अर्थ—जो सज्जन देनेका बात कहकर मुदतके अदर नहीं देते है उनका कहना व्यर्थ है। उन्हे कोई भी विश्वास नहीं करता है। अत उनके मनोरथकी सिद्धि कहीं भी नहीं होता है ॥ २२८ ॥

अयोग्यधनग्रहणफल

योऽदाध दायमाहत्य वर्तते स भवेदनम् ।
सरुशो निष्फलोद्योगो मृतपुत्रांगनेशवत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—जो अपने लिए ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे धनको अपहरण कर धनवान् कहलाता है, वह सदा दु खी रहता है। सतान के मृत होनेके बाद स्त्रीका पति बन रहना जिस प्रकार निष्फल व दु खकर है उसी प्रकार उसकी हालत है ॥ २२९ ॥

कृतसेवाधिक वित्त येषां दत्त पुरा च यैः ।
त सर्वे किंकरास्तेषामधिश्रीणां भवांतरे ॥ २३० ॥

अर्थ—जो राजा वगैरे अपने सेवकोंको उनकी सेवासे भी अधिक धन देकर संतुष्ट करते हैं या पूर्वजन्ममें देकर संतुष्ट किया है, वे भृत्य पुन अग्रमजन्ममें भी उन श्रीमतोंके ही ईमानदार नौकर होकर उत्पन्न होते हैं ॥ २३० ॥

स्मृत्वा न दत्तमुक्त्वा दत्त द्रव्य समाहृत येन ।
त्रिभिरेतैर्हानि स्यात् दानस्यायस्य तस्य नास्ति फलम् ॥२३१॥

अर्थ—जो व्यक्ति देनेका विचार कर नहीं देता हो, देनेकी बात कहकर नहीं देता हो एव दिए हुए को पुन अपहरण करता हो, वह

पापी है, इन तीनों प्रकारोंसे उसकी हानि होती है। और उसके दान व पुण्यका क्षय होता है, एवं उसका कोई फल नहीं है ॥ २३१ ॥

पुण्यपापभेद

यथा करोतीह सुगंधपुष्पं मनोहरत्वं सुकृतं तथैव ।
यथा करोतीह कुगंधपुष्पं मनोजुगुप्सां दुरितं तथैव ॥२३२॥

अर्थ—जिस प्रकार सुगंध पुष्प अपने सुगंधके द्वारा मनुष्य के मनको हरण कर लेता है अर्थात् मनुष्यको अच्छा लगता है उसी प्रकार पुण्यकर्म भी मनुष्यको सुख पहुंचाता है। दुर्गंधपुष्प जिस प्रकार घृणा उत्पन्न करता है उसी प्रकार पापकर्म मनुष्यको दुःख पहुंचाता है ॥ २३२ ॥

दाताओंकी शक्ति देखकर याचना करें

यावत्पयश्चूधसि पयोऽस्ति विहाय सर्वं ।
पाकाय तस्य पयसोऽर्धमुपाहरंत ।
गोपा इवात्र भुवि दातृजनस्य शक्तिं ।
याचेत चित्तमधिगम्य गुणं च मर्त्यः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ग्वाल लोग गायके स्तनसे सर्व दूधको न निकालकर उसके अर्धभाग ही अपने कामके लिए लेते हैं उसीप्रकार दाताओंकी शक्ति, मनोवृत्ति व गुणको जानकर ही उनसे धनकी याचना करें ॥ २३३ ॥

वा फलति न फलतीति क्षेत्रं भूपा यदा हरति धनम् ।
धनमधनमजानंतो दानमिति द्रव्यमाहरंति जनाः ॥ २३४ ॥

अर्थ—खेतमें उत्पन्न अच्छा हुआ है या नहीं इस बातको न जानकर ही राजा लोग धनको वसूल कर लेते हैं। इसी प्रकार यह धनवान् है या निर्धन है यह न जानते हुए ही उन लोगोंसे याचकजन धन लेते हैं ॥ २३४ ॥

दाताके प्रति क्रोध नहीं करनेका उपदेश

पापाद्देहीति वक्ष्ये यदि फलति वचो मुद्दमानिष्फल स- ।
दुःख मा मा च कोपं कुरु दुरितफलं जातमेतत्समस्तं ।
अक्षत्वा दातृलोकं शपति शपति किं माक्कृतैनोवनौघ- ।
प्राबल्यायैव घृष्टिः स्फुरति बहुतरा विद्धि भो भावय त्वं॥२३५॥

अर्थ—"देहि" इस प्रकारका वचन पापकर्मके उदयसे ही बोलना पडता है, महान् कष्ट है, यदि वह वचन सफल हुआ तो हर्ष होता है, निष्फल हुआ तो दुःख होता है । परंतु हे भव्य ! निष्फल होनेपर भी दुःख मत कर, क्रोध मत कर, यह पापकर्मके उदयसे हुआ, इस लिए क्षमा कर । यदि क्षमा न कर दाताओंको गाली दें तो क्या होता है । पूर्वज मर्मे किए हुए पापके फलसे ही ये सब कुछ होते हैं । इस लिए विचार करो । व्यर्थ ही किसीके प्रति क्रोधित मत होवो ॥२३५॥

सफलजीवन

भूरि जीर्णमिदं सर्वं येन साधु कृतं सदा ।
तस्यैव स्यात्फलं सर्वमिति चिंतां प्रचिंतयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ— यह सब कुछ जीर्ण हो चुका है, अतः साधुओंके योग्य नहीं है, ऐसा विचार सदा करना चाहिए उसीका जीवन सफल है ॥२३६॥

सार्थो जीर्णमिदं कृत्स्नं मुदा साधुकरोम्यहम् ।
स्मृत्वा न कुर्यादुक्त्वा च चिंतामिति न चिंतयेत्॥२३७॥

अर्थ—यह पदार्थ अत्यधिक जीर्ण हो चुका है, इस लिए साधुओंको संतोषसे दे डालता हूं इस प्रकार के विचार मनमें व वचन में कभी नहीं लाना चाहिए ॥ २३७ ॥

प्रसादलक्षण

देवाय पात्राय निजोचितानि यावंति वस्तूनि वसंति गेहे ।
तावत्सु चैकैकमुत्र मदद्याच्छेष प्रसादं प्रवदंति जैनाः ॥ २३८ ॥

अर्थ—देव व पात्रोंके लिए उपयोग में आनेवाले जितने पदार्थ घर में मौजूद हैं उन में से कुछ अंशको पहिले से दानमें देना चाहिए बाकी बच हुए को अपने उपयोग में लेना चाहिए । उसे ऋषिगण प्रसाद कहते हैं ॥ २३८ ॥

पुण्यात्माओंकी वृत्ति

यत्राघुष्टं निशम्याप्यविपटुवणिजो यत्र यत्रास्ति वित्तं ।
गत्वाहृत्यापणं तत्सकलसमुचयं तत्र निक्षिप्य कृत्वा ।
शुल्कर्णप्रातिभाव्यैदृतस्वरनृपदायादिचोरादिकानां ।
चानम्योक्त्वा चटूक्तीन्द्रिमखिलधन जागरूकाश्च शुद्धाः ॥२३९॥

श्रीत्वार्थे द्वारमाश्रित्य च नमितकरा यांश्च मासांश्च नीत्वा ।
निर्वृद्ध किंच किंच प्रभावितमनसो दीनचाटून्वचाच ।
सर्वद्रव्य गृहीत्वा व्यवहृतिनिपुणा स्वस्वगेहं गता ये ।
षण्मासाद्वत्सराद्वा तदुपरित इवाचिन्वत य च जैना ॥ २४० ॥

अर्थ—किसी स्थान में कोई बडी यात्रा-उत्सव हो, वहांसे निमंत्रण मिले तो व्यापार कार्यमें कुशल वैश्य उसी दिनसे इधर उधर जाकर रुपये एकत्रितकर जहां जहां जो चीज उत्पन्न होती है उन को खरीदकर उस महोत्सवके स्थानमें दुकान लगाता है । वहांपर टेक्स लेनेवाले, कर्ज देनेवाले, उधार लेनेवाले, कोतवाल, राजा, राजसेवक, दायाद, चोर आदियोंसे बहुत प्रेम से बर्तता है, एवं अपने धन का संरक्षण करता है, और व्यापार करता है, तदनंतर कुछ समयतक वहां रहकर अपने व्यापार से द्रव्य कमाकर छह महीने में या वर्ष में अपने स्वदेश को पहुंचता है, उसी प्रकार की वृत्ति पुण्यधनको कमानेवाले की होनी चाहिए । बहुत उपायसे सत्कार्योंको करते हुए किसी के द्वारा ... न दुखाकर पुण्यका अर्जन करना चाहिए ॥२३९-४०॥

देव व ऋषिसेवाफल

जैन बिंबमिहोपलेन तरुणा लोहेन चैत्यालयम् ।
कृत्वा मृत्तिकया च भाडमखिलं कृत्वैव लोकोचित ॥
पुण्यं लौकिककार्यमाशु लभते सर्वो जनः पामरः ।
पात्रं स्वामिपदानुरक्तममलं समार्च्य धन्यो भवेत् ॥२४१॥

अर्थ— इस लोकमें दूसरे लोग जैनबिंबको पत्थरसे, काष्ठसे बनाकर, चैत्यालयको लोहा, मिट्टी, चूना आदिसे बनाकर व इतर तदुचित पात्रोंको बनाकर उसके बदलेमें विपुल धनको पाकर संतुष्ट होते हैं। फिर साक्षात् देव व ऋषियोंकी सेवा करनेवाले विपुल पुण्यको क्यों नहीं प्राप्त करेंगे । अतएव हम उन देव गुरुओंके चरणोंकी सेवा कर व धन्य होते हैं ॥ २४१ ॥

देव व गुरु आदिके प्रति दुर्वचननिषेध

याऽपथ्यं सरुजो यथा समनुजो दुर्वाक्समर्तुर्यथा ।
दुष्कर्माणि कृतानि येन स पुरा दुःखं लभेताद्भुतं ॥
दुष्टाष्टादशदोषवृत्तिरहिते जीवेऽपि देवे गुरौ ।
निर्दोषास्युरिवात्र सप्रयुतास्तिष्ठति सततसदा ॥२४२॥

अर्थ—रोगीने यदि अपथ्य किया तो उसका रोग बढता है, उसको भयंकर दुःख भोगना पडता है । यदि अपराधीने राजसेवकोंके साथ दुर्वचनका प्रयोग किया तो उससे उनको भयंकर दुःख अनुभव करना पडता है । पूर्वजन्ममें जिसने दुष्कर्मोंका आचरण किया उसको यहांपर दुःख भोगना पडता है । दुष्ट रागादि अठारह दोष जिनके हृदयमें नहीं है, एस जीवोंके प्रति--देव व गुरु निर्दोष हैं उनके प्रति दुष्ट वचनोंका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये ॥ २४२ ॥

अन्यसि द्वेष करनेका निषेध

येऽन्यद्विष सुतमाता जीवति स्वपरिग्रहे ।
तेषां न मातिर्नमनं स्वाऽस्थ्य रोगादिभिर्वृथा ॥२४३॥

अर्थ—जो व्यक्ति दूसरोंका द्रव्य हरते हैं एवं अपने परिग्रहपर स्नेह करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं उनका हृदय अच्छा नहीं है, उनका भाग्य भी रोगादियों से युक्त होनेसे उनका जन्म व्यर्थ है ॥२४३॥

अन्यस्त्रीगुणरक्षण

स्वस्त्रीगुणमवन्त्यन्ये येऽन्यस्त्रीगुणरक्षकाः ।
येऽन्यस्त्रीगुणहर्तारस्तत्स्त्रियोऽन्ये हरन्त्यपि ॥ २४४ ॥

अर्थ—जो दूसरोंकी स्त्रियोंके गुणको संरक्षण करते हैं उनका स्त्रियोंके भी गुण दूसरे रक्षण करते हैं । जो दूसरोंकी स्त्रियोंके गुणोंका अपहरण करते हैं दूसरे भी उनकी स्त्रियोंके गुणोंको अपहरण करते है ॥२४४॥

पापरतोंको सुख नहीं मिलता है

षंढाः स्त्रीजनमेव राज्यमधना वृद्धाः स्त्रियो नंदना- ।
नारोग्यं गतजीविताश्च कुदृशो मोक्षं दिवं पापिनः ॥
मूकास्सद्वचनं सुधास्तहृदयं तत्त्वस्वरूपं जडाः ।
वांछंतीव जनास्सुखं सुखकरं द्रव्यं च पापक्षयाः ॥२४५॥

अर्थ—इस लोकमें सांसारिक प्राणियोंका परिपाटी है कि वे हमेशा उल्टे मार्गका अनुसरण करते हैं । नपुंसक लोग स्त्रियोंकी इच्छा करते हैं । दरिद्रीलोग राज्यकी कामना करते हैं, वृद्धस्त्रियां पुत्रोंको चाहती हैं । बिल्कुल मरणसन्निकट मनुष्य स्वास्थ्यको चाहता है, मिथ्यादृष्टि लोग मोक्षको चाहते हैं, पापीलोग स्वर्गको चाहते हैं । मूक लोग सुंदर वचनको बोलना चाहते हैं । अज्ञानी व मूर्ख शास्त्र व तत्व ज्ञानकी लालसा करते हैं । इसी प्रकार पापकार्य में संलग्न सज्जन सुख व सुखकर साधनोंकी अपेक्षा करते है । परंतु जब उनका उद्योग उल्टी दिशा पर है तो वह सुख किस प्रकार मिल सकता है ? ॥२४५॥

कैवल्यादिसे निदानका निषेध

कैवल्यागमसंघदेवगुणनिर्वादाद्धनादानतो ।
मर्मध्यानभवसतादिव सरत्यात्माप्यपुण्यो भवेत् ।

वीराक्रांतरवींदुबिंबमिव मदाग्नौ रुजौघो यथा ॥
वर्द्धेतऽल्पबल नृप त्वनियत इति स्वसेना यथा ॥२४६॥

अर्थ—भगवान् केवली, निर्दोष आगम, चतुर्विध धार्मिकसंघ, चतुर्णिकायामर देव, सर्वहितकारी धर्म, इनकी निंदा करनेसे व इनके संबधके धन का अपहरण करनेसे इस प्राणीको महान् दुःख भोगना पडता है। मर्मस्थानमें मार लगनेसे जिसप्रकार इस शरीरसे आत्मा निकल जाता है, उसीप्रकार यह आत्मा पुण्यरहित होता है। राहु केतुके द्वारा ग्रस्त चंद्रसूर्यके मंडलके समान निस्तेज होता है, मंदाग्नि की प्रबलता होनेपर जिसप्रकार रोगका समूह बढता है, हीनशक्तिवाले व अनियमितवृत्तिके धारक राजाको उसकी सेनाही जिसप्रकार मारती है, उसीप्रकार केवल्यादिकका निंदा करनेवालोंको दुःख भोगना पडता है ॥ २४६ ॥

देव, गुरुके प्रति विघ्न न करनेका उपदेश

विघ्नो ह्यभवच्च रावणमृतिर्वैलक्ष्मणेनेव स ।
स्मृत्वा चेतसि सविचार्य विलयो येनास्य समेरित ॥
विघ्नश्च स्वरिपौ रिपु सुकृतिना चोरो यथार्थे हरे–।
छिन्नो यत्र भवेदविघ्नसुजनस्तेनैव नश्येत्स च ॥२४७॥

अर्थ—दूसरोंके पुण्य कार्य में विघ्न उपस्थित करना व परनिंदा करना यह महान् पाप बंधके लिए कारण हुआ करता है। इसी विघ्न के कारण ही लक्ष्मणके द्वारा रावण का मरण हुआ। भवितव्य टल नहीं सकता है। कहा रामचंद्र? कहा रावण? कहा अयोध्या और कहा लंका। दशरथके कैकयीके साथ वचनबद्ध होना, रामचंद्र और सीता को वनवासके लिए भेजना, शम्बुकुमारकी तपश्चर्या, लक्ष्मणको चंद्रहास खड्गकी प्राप्ति, सूपनखाके द्वारा रावणका बहकना, सीताप हरण, आंजनेयके द्वारा सीतासंदेश, लंकाप्रयाण व लक्ष्मणके द्वार

रावणमरण यह सब बातें विधिके वचित्र्यको सूचित करती है। रावण को [illegible]नका फल भोगना ही पडा। इन बातोंको विचार कर अपने शत्रुओंके प्रति भी कोई विघ्न व अंतराय करनेके लिए प्रयत्न न करें। पुण्यात्माओंके प्रति दुष्टजन विघ्न उपस्थित करते हैं जिस प्रकार कि चोर दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करता है, परंतु वह दुष्टजन दूसरोंको विघ्न करनेमें स्वयं नष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि अपना भलाई चाहनेवाले देव, गुरु, धर्मके प्रति कोई विघ्न उपस्थित न करें ॥२४७॥

विधिकी विचित्रता

कोऽयं किं बलमस्य केऽस्य सुहृदोऽमित्राः कियंतस्सुताः।
दासाः किं क इनः स्वधर्मजनाः क तेऽर्थिनः पेशलाः।
स्मृत्वा तत्क्षतिरेव कैरिति सदा तत्रैव तं धारयत्।
साधेरकैरपि नास्ति चेत्परमसि स्वप्नैव विधिस्तात्मयान् ॥२४८॥

अर्थ—विधि बहुत विचित्र है, वह मनुष्यको किस समय क्या दुःख देना है इसकी व्यवस्था पहिलेसे कर लेता है, वह पहिलेसे विचार करता है यह कौन है? इसकी शक्ति क्या है? इसके मित्र कौन हैं? वे कितने हैं, इसके शत्रु कौन हैं? और कितने हैं, पुत्र कितने हैं? और वे स्वधर्मव्यवहार कार्यमें कुशल हैं या नहीं? इसके स्वामी कौन हैं? कौन इसके आश्रय हैं? याचकजन कौन हैं? इत्यादि बातोंको विचार कर यह भी विचार करता है कि [illegible] समय किनसे इसका अहित हो सकता है, उनसे अहित कराता है। यदि उस समय कोई अहित करनेवाले नजर न आवें दुष्ट रोगादिक बाधावोंको लाकर पटक देता है ॥ २४८ ॥

धर्मकार्योंमें विघ्न न करनेका उपदेश

स्वस्वार्थं स्वसुतं स्वदं स्वपितरं स्वां मातरं स्वानुजं।
स्वां दासीं स्वपशुं च हंति दहति स्वावासमेषां मदात् ॥

आदृत्तेऽर्थंहरान्नृपादिभिरलान्यकारयत्यन्वहम् ।
स्व गह स्वपुर स्वदेशमखिल विघ्नो नृपागार्जित ॥ २४९ ॥

अर्थ—धर्मकार्यके लिए उपस्थित किया हुआ वि न बहुत बुरे फलको अनुभव कराता है । अपने, अपने पुत्र, अपनी भार्या, अपने पिता, अपनी माता, अपने मा॰, अपनी दासी, द्विपद चतुष्पदादि पशु, आदिको यह मार डालता है, अपने आवास स्थानको जला डालता है । उसके घरपर अनक भयकर रोगोंको उत्पन्न करता है । चोरोंका प्रवेश कराता है, राजाके द्वारा अपमान कराता है, अपने घरपर, नगर म, देशम सवत्र उसे कष्ट उठाना पडता है । इसलिए देव, ऋषि, धर्मकार्यमें वि न उपस्थित नहीं करना चाहिये ॥२४९॥

मृत्यु सर्वबलस्य नास्ति समरे केषाचिदस्त्यगिनां ।
भुक्तानां न गदोऽस्ति नामयवतामतोऽखिलास्सूनव ॥
किं जीवति वसति किं युवतयो भोगोचिता किं जना ।
श्रीमत किमिम भवति महता विघ्नेन नानाविधा ॥२५०॥

अर्थ—युद्धमें जितने जाते हैं उन सबका मरण नहीं हुआ करता है, उनमेंसे किसीका मरण होता है । भोजन करनेवाले सबको रोग नहीं हुआ करता है । किसी किसीका होता है । उत्पन्न हुए पुत्र सबके सब जीते नहीं, कोई को, जीते हैं । स्त्रिया सबके सब भोगोचित नहीं हुआ करती हैं । उनमेंसे कोई हा हुआ करती हैं । मनुष्य सबके सब श्रीमत नहीं हुआ करते हैं । कोई २ हा हुआ करते हैं । इस प्रकार देव, गुरु व धर्मके प्रति किए हुए विघ्न व अपराधके फलसे अनेक प्रकारकी विचित्रता लोकमें दखी ज ता है । तदनुसार फल इस जीवको अनुभव करना पडता है ॥ २५० ॥

चारस्त्वात्मकरागत धनमरिर्हस्तागत हति वा ।
व्याघ्रो गोनिवहैकमव कणयः सेनाजनैक यथा ॥

दोषाऽत्रारमनोरथागतमिदं द्रव्यं सजीवादिकं ।
गेहं वा पुरमेव वा स्वविषयं सदापयेच्छत्रवे ॥ २५१ ॥

अर्थ—जिसप्रकार चोर अपने हाथमें आये हुए द्रव्यको अपहरण कर ■ जाता है, शत्रु हाथमें आये हुएको मार डालता है, व्याघ्र पशुओंके समूहको मारता है, बाण सनाजनको मारता है, उसी प्रकार पुण्यकार्य में किये हुए अंतरायका दोष मनुष्यके मनोरथको मारता ■ अर्थात् उसकी इष्टसिद्धि नहीं होने देता, धन अपहरण करता है। सजीव द्विपद चतुष्पदादिजीवोंको मारता है, अपने घर, नगर व देशको शत्रुओंके हाथमें दिलाता है, इस प्रकार अंतरायका बहुत बुरा फल होता है ॥ २५१ ॥

स्वामिन्नोऽस्ति पुरः किमस्ति विलयः केनापि द्वीपायना
न्मृत्युस्ते जरद्विष्णुना वददिमां श्रुत्वा तदुक्तिं तदा ।
द्वैपः स्वामिनि चोदपादि वदतो विष्णोर्वचस्तौ श्रुते- ।
र्पूर्वैकः शबरा मुनिः खलु तयोर्निर्जग्मतुस्तत्पुरात् ॥२५२॥
द्वारावती सा मुनिनैव दग्धा कृष्णस्य मृत्युर्जरविष्णुनैव,
विघ्नस्य वैचित्र्यमिदं प्रसिद्धं विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥२५३॥

अर्थ—कृष्णचन्द्रने जाकर मुनिनाथसे पूछा कि स्वामिन्! क्या हमारी द्वारावतीका नाश किसीके द्वारा होगा ? मुनिराजने उत्तर दिया कि द्वीपायनके द्वारा द्वारावतीका नाश होगा। मेरा मरण किससे होगा, यह पुन कृष्णने पूछा। मुनिराजने उत्तर दिया कि जरत्विष्णुके द्वारा होगा। इस प्रकार मुनिराजके वचनको सुनकर उन मुनिराजोंके प्रति ही क्रुद्ध होते हुए जो वचनको कृष्णचंद्र बोल रहा था, उसे सुनकर द्वीपायन व जरत्विष्णु उस नगरसे बाहर निकल गये। उनमेंसे एक तो भिल्ल बनकर चला गया और एक मुनिदीक्षा लेकर चला गया। इसलिये वैचित्र्यको ...

द्वारावती तो अशुभ तैजसऋद्धिप्राप्त उस मुनिके द्वारा ही जलगई। और कृष्णचंद्रका मरण भी उसी जलविष्णुके द्वारा ही हुआ। अंतरायका वैचित्र्य लोकमें प्रसिद्ध है, वह फल दिये विना नहीं छोड सकता। लोकमें यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि विनाशकालमें मनुष्यको विपरीत बुद्धि सूझा करती है। मनुष्य चाहता है कुछ, होता है और कुछ, सब कुछ विधिविलसित हुआ करते हैं। उससे अघटितघटना विघटित होती है। इसप्रकार विचार कर मनुष्यको सदा शुभ आचरणमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ २५२-२५३ ॥

> मत समस्तैः ऋषिभिर्यदार्हतैः
> मभासुर पावनदानशासनम् ।
> मुदे सता पुण्यधन समर्जितु
> धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ २५४ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनका कमानेकी इच्छा रखनेवाले दानी श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके संयमोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ २५४ ॥

इति करणत्रयलक्षणलसिताहारदानविधि

—*—

औषधदानविधानम्

मंगलाचरण व प्रतिज्ञा

नत्वा जिनं जिनमुनीनखिलागमज्ञान् ।
वक्ष्ये मुनींद्रतनुरोगहरीं चिकित्साम् ॥
यूषैः कषायखलचूर्णसुकल्कपथ्यै-
स्तां दोषशांतिकरणैर्यतिनां प्रकुर्यात् ॥ १ ॥

अर्थ—श्री जिनेंद्र भगवंतको एवं संपूर्णशास्त्रोंके पारगामी मुनीश्वरोंको नमस्कारकर मुनीश्वरोंके शरीर में उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी चिकित्साका निरूपण करेंगे। ऋषियोंको निर्दोष औषधिको सेवन करना पडता है, अतः उनके लिये योग्य यूष, कषाय, खल, चूर्ण, कल्कोंसे शरीरके वात पित्त कफादिक दोषोंकी उपशांति करनी चाहिये ॥

उत्कृष्टजैन

आधिं पूतवचोभिरिष्टघनदानैर्मोचयित्वैव य ।
सौचित्तीकरणं करोति खलु वैयावृत्यमुक्तं जिनैः ॥
पात्राणां विमलौषधैरनुगुणैः पथ्यैः सुखैस्तैर्गदान् ।
भक्त्या वत्सलतागुणेन सुकृती जैनोऽपि कः सन्स च ॥२॥

अर्थ—पात्रोंके मनमें संक्लेश परिणाम है उसे भक्तिपूर्ण मृदुवचनोंसे एवं उनके योग्य संयमोपकरण व ज्ञानोपकरणको प्रदान कर, उनके परिणामको निर्मल बनाना उसे वैयावृत्य कहते हैं। पात्रोंको शरीरमें जो रोग है उनको उनके लिए अनुकूल पथ्य, सुखकर औषधियोंको देकर भक्ति व वात्सल्यगुणसे दूर करे। उसीको उत्कृष्ट जैन कह सकते हैं ॥ २ ॥

वात्सल्यगुण

भक्तिसपर्चिरथित्वमिष्टोक्तिः सत्क्रियाविधिः ।
स्वधर्मस्वस्विसौचित्त- कृतिर्वात्सल्यमूचिरे ॥ ३ ॥

अर्थ—दाताके हृदयमें जो भक्ति है, उदारता है, पुण्यफलापेक्षता है, प्रियवचन है, दान देनेका यथार्थविधि है एवं पात्रोंके हृदयको प्रसन्न करनेकी भावना है, उसे वात्सल्य कहते हैं ॥ ३ ॥

पुत्रस्तात सुतमिव पिता रागिण प्राणकांतां ।
ग्लानां भर्ताप्यनुगुणगणैर्बंधुवर्गैश्च धृत्वा ॥
क्षीरक्षरं दधिघृतमिदं ग्राहि निंबूफलेक्षून् ।
वैयावृत्यं रचयति सदा रोगिणां योगिनांच ॥ ४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुत्र पिताकी सेवा करता है, पिता रोगी पुत्रकी परिचर्या करता है, रोगपीडित भार्याकी पति जिस प्रकार अपने बंधुबांधवोंकी सहायतासे रक्षा करता है, इसी प्रकार दही, दूध, घृत, निंबूफल, इक्षु आदि प्रदान करते हुए रोगी व योगियोंकी सेवा शुश्रूषा करें। अर्थात् योगियोंकी रोगावस्थामें हरतरहसे सेवा करनी चाहिये। आहारके समय उनकी प्रकृतिके अनुकूल भोजन व निर्दोष औषध प्रदान करना चाहिये ॥ ४ ॥

आदरगुण

स्वाध्याये स्वाध्यायिनि संयमिनि गुरुषु संघे च ।
अनतिक्रममौचित्य कृतयोग प्राहुरादरं विनय ॥ ५ ॥

अर्थ—अपने साथी यतियोंके साथ, अर्जिकाओंके साथ, गुरुओंके साथ, संयमियोंके साथ एवं संघके साथ औचित्यको उल्लंघन न करके व्यवहार करना उसे आदर कहते हैं या विनय कहते हैं ॥५॥

यथोचित सत्रमवेक्ष्य धार्मिक करोति तापं विनयं न जातुचित्।
स एव मूर्खः स च नैव धार्मिका न च व्रती ना समयी सुदृक् च न ॥

अर्थ—जो व्यक्ति संघको देखकर संतुष्ट नहीं होता है एवं संघका विनय नहीं करता है, वही मूर्ख है, वह धार्मिक नहीं है।

व्रती भी नहीं है, श्रावक भी नहीं है, सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। सघका आदर विनय करना सम्यग्दृष्टि भव्योंका कर्तव्य है ॥ ६ ॥

साधुओंको औषधि देनेकी विधि

यावज्जीर्यति भेषजं रसभव पीतं तु भुक्त्वाशनं ।
तावत्तिष्ठति सामयो हरति तद्रोगं विधत्ते बलम् ॥
भुक्तं भेषजमन्नमेकसमयेऽजीर्णेपि तस्मिन्यते- ।
स्तद्रोगाधिकतां च कानपि गदान्कुर्यात्सदा संहिताम् ॥७॥

अर्थ—आयुर्वेदशास्त्रका सामान्य नियम ऐसा है कि जो औषध ग्रहण किया जाता है, उस औषधिका पचन होनेके बाद ही आहारको ग्रहण करना चाहिये। तभी उस औषधिसे अनेक रोग दूर होते हैं एवं शरीरको बलप्रदान करता है। यदि औषधिके जीर्ण होनेके पहिले ही आहार ग्रहण किया तो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जैनमुनि एकबार ही भोजन करते हैं। भोजनके समय ही औषध भी उनको लेना पडता है, औषध और आहार एक साथ लेनेके कारणसे औषधके जीर्ण न होनेसे रोगकी वृद्धी होनेकी संभावना है व इतर अनेक रोगोंके उत्पन्न होनेकी संभावना है। इसलिए जैन साधुओंको आहारके समय औषध देना हो तो संहिताप्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥ ‡

प्राग्भक्तादि औषधिसेवनफल

प्रातरिहौषधं बलवतामखिलामयनाशकारणं ।
प्रागपि भक्ततो भवति शीघ्रविपाककरं सुखावहम् ॥
ऊर्ध्वमथाशनादुपरि रोगगणानपि मध्यगं ।
तं मध्याशयगान्विनाशयति दत्तमिदं भिषजा विजानता ॥८॥

‡ भुक्त मुनिभ्यदानमपि भेषजकाले
तस्मात्सदौषधपरं न हि किंचिदस्ति ।
जीर्णौषधं हरति रुग्गणो बलं चा-
जीर्णं रुजाधिकमतानि रस प्रशस्तं ॥

अर्थ—जिनमुनियोंका चिकित्सामें प्रधान वैद्यको जानना चाहिये कि प्रातःकाल लिया हुआ औषध जिनका कोष्ठ, अग्नि व देहकी शक्ति विशिष्ट हो उनके समस्त रोगोंको नाश करता है, भोजनसे पहिले लिया हुआ औषध शीघ्र भोजनको पचाता है व सुखकर है। भोजनके बाद लिया हुआ औषध बादमें आनेवाले सर्व रोगोंको दूर करता है। भोजनके बीचमें लिया हुआ औषध कोष्ठमध्यमें स्थित अनेक रोगोंको दूर करता है ॥ ८ ॥

अन्तरभक्तादिफल

आंतरभक्तमौषधमथाग्निकरं परिपीयते सदा।
मध्यगते दिनस्य नियतोभयकालसुभोजनांतरे ॥
औषधसाधिताखिलकृशवृद्धजने सहसिद्धमौषधैः-।
र्देयमिहान्नमुदितं स्वगुणैश्च सभक्तनामकं ॥ ९ ॥

अर्थ—अंतरभक्त उसे कहते हैं जो सुबह शामके नियत भोजनके बीच ऐसे दिनके मध्यसमयमें सेवन किया जाता है। यह अंतरभक्त अग्निको अत्यंत दीपन करनेवाला, [हृदय-मनको शक्ति देनेवाला पथ्य] होता है। जो औषधोंसे साधित [क्वाथ आदिसे तैयार किया गया या भोजनके साथ पकाया हुआ] आहारका उपयोग किया जाता है उसे सभक्त कहते हैं। इसे औषधद्वेषियोंको [दवासे नफरत करनेवालोंको] व बालक, कृश, वृद्ध, स्त्रीजनोंको देना चाहिये॥९॥

भोजनसमय

विण्मूत्रे च विनिर्गते विचलिते वायौ शरीरे लघौ।
शुद्धेऽपींद्रियवाङ्मनःसु शिथिले कुक्षौ क्षुधव्याकुले ॥
कांक्षामप्यशनं प्रति प्रतिदिनं ज्ञात्वा सदा देहिना-।
माहारं विदधीत शास्त्रविधिना वक्ष्यामि युक्तिक्रमं ॥१०॥

अर्थ—जिस समय शरीरसे मलमूत्र का ठीक २ निर्गमन हो, अपानवायु भी बाहर छूटता हो, शरीर भी लघु हो, पांचों इंद्रिय

प्रसन्न हों, लेकिन वचन व मनमें शिथिलता आगई हो, पेट भी श्रम (भूख) से व्याकुलित हो, तथा भोजन करने की इच्छा भी हो, तो वह भोजन का योग्य समय जानना चाहिये। उपर्युक्त लक्षण की उपस्थिति को ज्ञात कर उसी समय आयुर्वेदशास्त्रोक्तभोजनविधिके अनुसार भोजन करें। आगे भोजनक्रमको कहते ॥ १० ॥

भोजनविधि

स्निग्धं पन्मधुरं च पूर्वमशनं भुंजीत भुक्तिक्रमे।
मध्ये यल्लवणाम्लभक्षणयुतं पश्चात्तु शषात्रसान् ॥
ज्ञात्वा सात्म्यबलं सुखासनतलं स्वच्छं स्थिरस्तत्परं ।
सिम्र फाप्णमयं द्रवोत्तरतरं सर्वर्तुसाधारणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—भोजन करने के लिये जिसपर सुखपूर्वक बैठ सके ऐसे साफ आसनपर स्थिरचित्त होकर अथवा स्थिरतापूर्वक बैठें। पश्चात् अपनी प्रकृति व बलको विचार कर उसके अनुकूल थोडा गरम [अधिक गरम भी नहो न ठण्डा ही हो] सर्व ऋतु के अनुकूल रसे आहार को, शीघ्र ही [अधिक विलंब न भी हो व अत्यधिक जल्दी भी न हो] उस पर मन लगाकर खावें। भोजन करते समय सबसे पहिले चिकना, व मधुर अर्थात् हलुआ, खीर, बर्फी, लड्डू आदि पदार्थों को खाना चाहिए। तथा भोजन के बीचमें नमकीन, खट्टा आदि अर्थात् चटपटा मसालेदार चीजोंको व भोजनान्त में दूध आदि द्रवप्राय आहार खाना चाहिये ॥ ११ ॥

भुक्त्वा वैदलमुग्रभूतमशनं सौवीरपायीभवे- ।
न्मर्त्यस्त्वादनमेवचाभ्यवहरस्तक्रानुपानान्वितं ॥
स्नेहानामपि चोष्णतो यदमलं पिष्टस्य शीतं जलं ।
पीत्वा नित्यसुखी भवत्यनुगतं पानं हितं प्राणिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—भोजनमें दालसे बना हुइ चीजोंका ही, मुख्यतया उपयोग करना

चाहिए। खाते समय कांजी पीना चाहिये । भात आदि खाते समय, तक्र (छाच) पाना योग्य है। घी आदिसे बना हुई चाजोंसे भोजन करते हुये, या स्नेह पीते समय, उष्ण जलका अनुपान करना चाहिये । पिट्टी से बने पदार्थोंको खाते हुए ठण्डा जल पाना उचित है। प्राणियों के हितकारक इस प्रकारके अनुपान का जो मनुष्य नित्य सेवन करता है वह नित्य सुखी होता है ॥ १२ ॥ *

औषधिदानफल

दत्तं येन सुभेषजं प्रविमलं पथ्यं गुरूणां सतां ।
मुक्तास्तेन गदास्ततोऽति विमलं चित्तं सुरत्नत्रयम् ॥
पूतं जातमखंडितं धृततपोध्यानं हतं दुष्कृतम् ।
लब्धं तेन समस्तमेव सहसा नित्यं सुखं लभ्यते ॥१३॥

अर्थ—जिस पुण्यवान् दाताने साधुवोंको उनके रोग शरीरप्रकृति आदिको देखकर आहारके समय योग्य, पवित्र, पथ्यकर औषध दे दिया, उससे वे साधु रोग मुक्त होते हैं, इतना ही नहीं उनका चित्त निर्मल होता है, उससे रत्नत्रयकी विशुद्धि होती है, उससे अखंडित तप व ध्यानकी सिद्धि होती है। दुष्कृत अर्थात् पाप नष्ट होता है। पापके नष्ट होनेसे ध्यानकी सिद्धि होती है, उससे नित्य सुखको वे प्राप्त करते हैं। औषधदानके देनेवाले दाताके उस निर्मल दानसे उस पात्रको जब साक्षात् मोक्ष मिलता है तो फिर दाताको उत्तम फल क्यों नहीं मिलेगा ॥ १३ ॥

---

* टीप—इस प्रकरणके श्लोक नं. ८, ९ उग्रादित्याचार्यकृत कल्याणकारक के २० वें अध्यायमें १८ व १९ वें श्लोक हैं । उक्त कल्याणकारकके चौथे अध्यायमें १६, १७, १८ वें श्लोक हैं ।

× भषजदानफलोदयत स्यात्सत्त्वपर सकलामयदूर ।
शखरवींदुझपांकुशपद्माधसयलक्षणलसितगात्र ॥ १४ ॥

अर्थ—औषध दानके फलसे यह मनुष्य समस्तरोगोंसे रहित होकर हृष्ट पुष्ट शक्तियुक्त शरीरको प्राप्त करता है। उसके शरीरमें शख, सूर्य, चद्र, मत्स्य, अकुश, कमल आदि उत्तम लक्षणोंके चिह्न रहते हैं, वह भाग्यशाली होता है ॥ १४ ॥

‡ पात्रनिंदासे रोग दूर नहीं होता है

रोगो मुचति भेषजोऽत्र भिषजा दत्तौषधैरेव सोऽ ।
प्यहाजस्त्वगदैर्न मुचति पुनर्दानाद्दर्चादिभि ॥
नो दरसाधुजनव्यथामयकृतावज्ञाभवो मुचते ।
गर्भिण्याराधिपीततैलविभवो तत्कालजन्मीव सा ॥ १५ ॥

अर्थ—ससारीजीवोंको योग्य वैद्यने औषध दिया तो उस औषधिसे वह रोग दूर होता है। यदि वह रोग पात्रदूषणादिसे उत्पन्न पापसे प्राप्त हो तो वह औषधप्रदानसे दूर नहीं होता है। और यदि पात्रदान, अर्हत्पूजादिकी अवज्ञासे एव साधुजनोंके रोगको देखकर भी तिरस्कार परिणामकर उत्पन्न हुआ हो तो वह औषधसे भी दूर नहीं होता है। जिस प्रकार गर्भिणीके द्वारा पीया हुआ तैल उसकी प्रसव

×चारित्र दर्शन ज्ञान स्वाध्यायविनयो भय ।
सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्त येनौषध सता ॥ १ ॥
सद्भेषज्यसुदानत परभवे मुक्तत्रिपीडान्वितो ।
नीरोगश्चतुलानलोऽतिबलवान् स्वेदादिबाधोज्झित ॥
शखार्केंदुझपाकुशाजसुध्वाद्यभूताद्यलंकृत
स्यात्सत्पुण्यभवप्रभावबलतो निर्मुक्तदोष मदा ॥ २ ॥

‡ पात्रादिरोगमाकर्ण्य य उदासीन दृश्यते ॥
न चिकित्सति तस्यापि रोगा-मान्त्या भवे भव ॥ १ ॥

वदनाको दूर करता है, इसी प्रकार काललब्धिके आनेपर ही यह रोग दूर होता है ॥ १५ ॥

दुष्टजन

भूपे सेवकसत्कुलऽत्र धनिके ग्रामप्रजामेपके ।
चाकृष्टे धनहर्तरीह सक्षमास्तिष्ठंति मौनान्विताः ॥
निर्बीजं विवदंति चोभयभवस्वात्मार्थपुण्यार्थिभि- ।
स्स्वाक्रोशत्यतिदूषयंति कुदृशस्तान्पापवित्तार्थिनः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस कलिकालमें काष्ठागारके समान मिथ्यात्वसे दूषित व्यक्ति पापसे द्रव्यार्जन करनेकी इच्छासे दुष्ट राजाने, सेवकोंने, धनिकोंने, गांवके प्रजासंरक्षकोंने या चोरोंने कोई धनका अपहरण किया या कोई गालियां दी तो कुछ भी प्रत्युत्तर न देकर शांति धारण कर मौनसे बैठे रहते हैं। परंतु उभयभवके हितको साधन कर देनेवाले अपने धर्मात्मा बंधुओं के साथ अकारण ही विवाद करते हैं। उनको गाली देते हैं। उनका दूषण करते हैं ॥ १६ ॥

श्रुत्वा ज्ञात्वा पुराणं प्रतिदिनमपि न श्रेणिकादिप्रपञ्च ।
यात्यात्मैका गतिं वान्नतमिदमखिलं काललब्धिप्रधानं ॥
धर्मे सर्वा वृथा स्यादिति विदितजना जैनबंधूनबीजं ।
घ्नन्त्याक्रोशंति निंदंति हि सकलघनं दंडयन्त्याहरति ॥१७॥

अर्थ—पापक्रिया करनेकी इच्छा रखनेवाले पापी रात्रिंदिन विचार किया करते हैं, प्रतिदिन पुराण व शास्त्रको सुनकर व जानकर भी श्रेणिकादि अपने कर्मके अनुसार किसा गतिमें गये अर्थात् नरकमें गये। इसलिए यह सब झूठा है। काललब्धि एक मात्र प्रधान है। धर्म वगैरह सर्व व्यर्थ है, ऐसा अपने अज्ञानसे समझकर व्यर्थ ही अकारण अपने हितैषी बंधुओं को कोसते हैं, मारते हैं, उनकी निंदा

करते हैं, दड देते हैं, धन अपहरण करते है। यह कालकी विचित्रता है ॥ १७ ॥

मत समस्तै ऋषिभिर्यदार्हतै
प्रभासुर पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधन समर्जितु
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ १८ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है। इसलिए पुण्यधनको कमाने की इच्छा रखनेवाले दाता श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके सयमोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ १८ ॥

॥ इत्यौषधदानविधानम् ॥

अथ शास्त्रदानविधानम्

शास्त्रकी निरुक्ति

शास्त्वनुशिष्टौ धातु शास्ति हित भव्यजीवसुखहेतु ।
शासनमिव तथायत इति शास्त्रमदोषमखिलदोषहरम् ॥ १ ॥

अर्थ—शास धातु अनुशासन अर्थ में प्रयुक्त होता है । अर्थात् यह भव्य जीवोंके लिए सुखके हेतुभूत हितको उपदेश देता है । एव शासनके समान भव्य प्राणियोंकी रक्षा करता है, अत एव यह शास्त्र समस्त अज्ञानादिक दोषका दूर करनेवाला होने से निर्दोष है ॥१॥

शास्त्रका महत्त्व

शास्त्रादेव हि तत्त्वार्थ श्रद्धान ज्ञानमांजसम् ।
ज्ञानपूर्व हि चारित्र धर्मः शास्त्रादिति स्थिति ॥ २ ॥

अर्थ—शास्त्रोंके पठन व श्रवण करनेसे ही तत्त्वार्थश्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन व निर्मलज्ञानकी प्राप्ति होती है । ज्ञानपूर्वक चारित्र होता है । इसलिए रत्नत्रयात्मक धर्मकी स्थिति शास्त्र से ही होती है ॥२॥

धर्मक्रियाओंकी सिद्धि

दान पूजा तपः शील साधुसम्यक्त्वपूर्वकम् ।
तच्च शास्त्रादतः शास्त्र मूलधर्मक्रियाखिला ॥ ३ ॥

अर्थ—दान, पूजा, तप व शील ये सब गुण सम्यक्त्वपूर्वक प्राप्त होते हैं । वह सम्यक्त्व शास्त्र के श्रवण व पठन से प्राप्त होता है। इसलिए संपूर्ण धर्मक्रियायें शास्त्रमूलक ही सिद्ध होती हैं ॥ ३ ॥

केवलज्ञानकी सिद्धि

एकतः शेषदानानि पूजा शील तपोऽखिल ।
एकतः शास्त्रदानात्स्यात् केवलज्ञानसाधनम् ॥ ४ ॥

अर्थ—एक ही शास्त्र दानसे अन्य सभी दानोंकी सिद्धि होती है। विशेष क्या ? केवल शास्त्रदान से केवलज्ञानकी भी प्राप्ति होती है ॥

मिथ्याज्ञाननाश

मिथ्याज्ञानतमोमूढो बम्भ्रमीति भवार्णवे।
मिथ्याज्ञानतमोऽम्भसी शास्त्रज्योतिर्न चापरम् ॥ ५ ॥

अर्थ—मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारसे यह मूढ जीव इस संसारसमुद्रमें परिभ्रमण करता है। यह शास्त्र ही मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेके लिए उज्ज्वल दीपकके समान है। अन्य कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ५ ॥

शास्त्रप्रकाशन

शास्त्रप्रकाशने तस्माद्ध्रुवं धर्मः प्रकाशितः।
धर्मे प्रकाशिते सर्वे पुरुषार्थाः प्रकाशिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—शास्त्रके प्रकाशन करने से उससे धर्मका प्रकाशन अपने आप होता है अर्थात् लोग धर्मके तत्त्वसे परिचित होते हैं। धर्मका प्रकाशन करनेपर समस्त पुरुषार्थ प्रकाशित होते हैं। अर्थात् समस्त जीवोंका उपकार होता है। इसलिए शास्त्रप्रकाशन का महत्त्व अधिक है ॥ ६ ॥

लोकका उपकार

पुरुषार्थोपदेशे हि लोकस्योपकृतिर्भवेत्।
ततो लोकोपकारार्थं शास्त्रमार्या वितन्वते ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम व मोक्षपुरुषार्थके उपदेश देने से लोकका उपकार होता है। इसलिए लोकके उपकारके लिए सज्जन लोग शास्त्र दान करते हैं एवं इसीलिए पूर्वाचार्य शास्त्रकी रचना व व्याख्या करते हैं ॥ ७ ॥

लोकका उद्धार

अपि तीर्थकरास्तीर्थमुद्धरंति जगद्धितम् ।
अत एव हि ते पूज्याः सर्वलोकैश्च योगिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—इस संसारमें तीर्थंकर परमेष्ठी भी द्वादशांगादिशास्त्रका उद्धार जगत्के हितके लिए ही करते हैं। इसलिए ही वे समस्त संसार के प्राणियोंसे व मुनीश्वरोंके द्वारा पूज्य होते हैं ॥ ८ ॥

शास्त्रप्रतिष्ठा

शास्त्रे प्रतिष्ठिते साक्षात्तु धर्मः प्रतिष्ठितः ।
स्वात्मा प्रतिष्ठितो भव्यलोकश्चापि प्रतिष्ठित ॥ ९ ॥

अर्थ—शास्त्रकी प्रतिष्ठा करनेपर साक्षात् धर्मकी स्थापना होती है। अपने आत्माकी प्रतिष्ठा होती है। जिसमें भव्य लोगोंकी भी प्रतिष्ठा होती है ॥ ९ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन धर्मः शास्त्रात्प्रवर्तते ।
ततो धर्मार्थिनः शास्त्रमुद्धरंतु प्रयत्नतः ॥ १० ॥

अर्थ—इस संबंधमें विशेष क्या कहें? धर्मकी प्रवृत्ति शास्त्रसे ही होती है। इसलिए धर्मको चाहनेवाले सज्जन यत्नपूर्वक शास्त्रका उद्धार करें ॥ १० ॥

शास्त्रदानफल

ये संलिखंतीह विलेखयंति व्याख्यांति शृण्वंति पठंति शास्त्रम्।
अर्चंति शंसंति नमंति तेऽर्थं यच्छंति शास्त्राब्धितटं गताः स्युः ११

अर्थ—जो सज्जन शास्त्रका लिखते हैं, लिखाते हैं, व्याख्यान करते हैं, सुनते हैं, पढते हैं, पूजा करते हैं, प्रशंसा करते हैं, नमस्कार करते हैं, शास्त्रके निमित्तसे द्रव्यका दान करते हैं, वे शास्त्रसमुद्रके तटपर पहुंचते हैं अर्थात् समस्तशास्त्रमें पारगत होते हैं ॥ ११ ॥

विद्वद्भ्यो ददते नित्यं लिखितालिखितानि ते।
पुस्तकान्युचितानि स्युः शास्त्रवाराशिपारगाः ॥१२॥

अर्थ—जो सज्जन लिखित व अलिखित शास्त्रोंको ज्ञानार्जन करनेके लिए विद्वानोंका प्रदान करते हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी होते हैं ॥ १२ ॥

लिखितं पुस्तकमलिखितमपरनाराचकण्टगुणमञ्जूषा ।
ये ददते सत्पुरुषा जिनशास्त्रपयोधिपारगा एव स्युः ॥१३॥

अर्थ—जो सज्जन साधुसन्तोंके लिए ज्ञानार्जनके साधनभूत लिखित शास्त्र, अलिखित शास्त्र, वस्त्रवेष्टन, लोहकटक आदि दानमें देते हैं वे शास्त्ररूपी समुद्रके पारगामी होते हैं ॥ १३ ॥

भक्तीं राज्ञि वृथा भवेद्बहुविधा यच्छति सेवा यथा ।
सम्यक् सफलं तथा जिनपतौ धर्मप्रभावात्सुर ॥
धर्मे धर्मबलद्वये गुरुवरे साधौ सदा धार्मिके ।
शास्त्रे शास्त्रिणि पुस्तकेषु पठति व्याख्यातरि श्रोतरि॥१४॥
पापं नाशयितुं सुखं च सुकृतं लब्धुं सुबोधांबुधे ।
पारं गंतुमिमां कृतां जडमतिं हंतुं स भव्यो जनः ॥
वर्णाभ्यासकरे तुलां जनपतौ नार्थव्ययस्यावधि ।
कुर्यात्सेत्रविधाविधारस्तद्बुचिता पूतक्रिया भक्तितः॥१५॥

अर्थ—जिसप्रकार राजाके प्रति की हुई सेवारहित भक्ति व्यर्थ होती है, यदि वही भक्ति सेवासहित की गई तो उससे अनेक प्रकारके फल मिलते हैं। इसीप्रकार जिनेंद्रभगवंत, धर्मप्रभावनातत्पर साधर्मी भाई, धर्म, धर्माश्रित स्वपर उभयगण, गुरुजन, साधुगण, धार्मिकजन, शास्त्र, शास्त्री, पुस्तक, पढनेवाले, व्याख्यान करनेवाले, और श्रोता आदिकी सेवा भव्यजन पापके नाशकेलिए, पुण्यकी वृद्धिकेलिए, सुखकी

प्राप्ति के लिए, ज्ञानसमुद्रके पार जानेके लिए, समस्त रोग व अज्ञानको दूर करनेकेलिए, अवश्य करें। जिसप्रकार अपने पुत्रके विद्याभ्यास व अपना खेतके संरक्षणकेलिए मनुष्य धनव्ययका विचार नहीं किया करता है उसी प्रकार इन पवित्र कार्योंकेलिए धनव्ययकी मर्यादा नहीं रखनी चाहिये ॥ १४ ॥ १५ ॥ +

विनयका महत्व

अंकुरयति पल्लवयति व्याप्नोति पुत्रजडबुद्धिः।
बहुफलति सरसगोहलवीर्येणलेव विनयधनदानात् ॥१६

अर्थ—जिसप्रकार जमीनमें ग्वालक डालनेसे सस्यकी समृद्धि होती है, उसीप्रकार अज्ञानी बालकोंकी जडबुद्धिमें विनयरूपी धनके प्रदान करने से वह अंकुरित होती है, पल्लवित होती है। उसका विकास होता है। अतः विनयगुणको धारण करना आवश्यक है ॥ १६ ॥

शास्त्रपठनयोग्यस्थान

सौधे नगे वने रम्ये मंदिरे विमले स्थले।
शास्त्राणि पठतां नित्यं बुद्धिरंकुरयत्यहो ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य! प्रतिनित्य महलमें, पर्वतपर, वनमें मल मूत्र उच्छिष्टादिरहित निर्मलस्थानमें जो प्रतिनित्य शास्त्रका स्वाध्याय करता है, उसकी बुद्धि अंकुरित होता है, अर्थात् उसके ज्ञानमें निर्मलता बढती है ॥ १७ ॥

पुस्तकादि दानफल

पठतामुपदद्भुणा पुस्तकगृहचित्तदेहरक्षणवित्तैः।
य कुरुते सुमनस्त्वं सम्यग्ज्ञानं स मोक्षमपि लभते ॥१८॥

+ संप्रत्यत्र न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि-।
स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्योतिताः ॥
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनं।
तत्पूजा जिनवाक्यपूजनतया साक्षाज्जिनः पूजितः ॥

अर्थ—जो सज्जन पढनेवाले व उपदेशदेनेवाले विद्वानोंको पुस्तक, घर, देहसरक्षणके साधन आदिका प्रदान कर उनको निराकुल बनाते हैं, वे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करते हैं, एवं क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करते हैं ॥ १८ ॥

गुरुभक्तिका फल

निजगुरुपदसद्भक्तिर्यस्य सदा वसति बुद्धेर्जाड्यम् ।
सुगुरुप्रसादभानास्तमाऽपसरतीव सुमतिमालभते ॥१९॥

अर्थ—जिसकी भक्ति अपने गुरुके चरणोंके प्रति सदा काल रहता है उसका बुद्धि की जडता शीघ्र ही गुरुके प्रसादसे दूर होती है। जिसप्रकार सूर्यके उदयसे अधकार दूर होता है उसी प्रकार उसका अज्ञान दूर होकर वह सुबुद्धि को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

सज्जन कभी शास्त्राध्ययन छोडते नहीं

मर्त्यो दीपनमस्ति नैव भुवने मुचति किं भोजनम् ।
रोगोऽसाध्य इहाभवधदहित जेमति किं लौकिका ॥
उद्योगो बहुदापदोपि सकलोध्यागास्त्यजतीति किं ।
यच्छास्त्रश्रुतिपाठमल्पमतयस्सतस्त्यजतीति किं ॥२०॥

अर्थ—इस लोकमें पाचनशक्ति न हो तो क्या मनुष्य भोजन करना छोडते हैं? नहीं। रोग असाध्य हुआ जानकर अपथ्यपदार्थोंका सेवन करते हैं? कभी नहीं। बहुतसे दोषपूर्ण उद्योगोंको जानकर समस्त उद्योगोंको छोडते हैं? कभी नहीं। इसी प्रकार अपनी बुद्धि मंद व अल्प जानते हुए भी सज्जन शास्त्रोंका श्रवण व पठनको छोडते हैं? कभी नहीं ॥ २० ॥

पुत्रका अज्ञान दूर करनेका उपदेश

तमो निवार्य सकलमिवार्को दर्शयन्करैः ।
तुजां पितेव ज्ञानार्को जीवादिद्रव्यसुलक्षणम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अंधकार को दूर करके समस्त पदार्थोंको अपने करों (किरणों) से दिखाता है, उसी प्रकार ज्ञानसूर्यरूपी पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रका अज्ञानांधकार दूर कर अपने हाथसे जीवादि द्रव्योंको स्पष्ट रूपसे दिखावें ॥ २१ ॥

शास्त्रदानफल

स्वाध्यायोचितवस्तुभिर्विनयवाग्नुत्साहनानंदनैः ।
यैः बुद्धिं परिवर्धयंति यतिनां रक्षंति शास्त्रामृतैः ॥
ते साधूञ्जिनभाषितागमधरान्कुर्वंति शंसंति तान् ।
नर्चंत्यर्चय स्तुवति विनमत्यग्रे श्रुतज्ञानिनः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो सज्जन स्वाध्यायोचित पुस्तक वेष्टन आदि द्रव्योंको प्रदान कर विनयवचन, उत्साह व आनंदके द्वारा साधुवोंकी बुद्धिको वृद्धि करते हैं, एवं शास्त्ररूपी अमृतसे साधुवोंकी रक्षा करते हैं, वे साधुवोंको जैनागमके धारक बनाते हैं, एवं जो उन साधुवोंका अनेक प्रकार के द्रव्योंसे पूजा करते हैं, प्रशंसा करते हैं व नमस्कार करते हैं, वे आगेके भवमें श्रुतज्ञानी होते हैं अर्थात् सकल श्रुतज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २२॥

जिनबिंबपूजाफल

जिनरूपधरं बिंबं सद्द्रव्यैरर्चयंति ये ।
जिनपूजाफलं तेऽत्र लभतेऽनेकधा पुरः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो सज्जन भक्तिसे जिनेंद्र भगवंतके रूपको धारण करने वाले जिनबिंबकी भक्तिसे अनेक उत्तम द्रव्योंसे पूजा करते हैं, व इसी जन्ममें साक्षात् जिनेंद्रकी पूजा करनेके सातिशय फलको प्राप्त करते हैं। एवं आगेके जन्ममें अनेक प्रकारसे ऋद्धिसहित संपत्ति सुख आदि फलको प्राप्त करते हैं ॥ २३ ॥

साधुसेवाफल

जिनरूपधरं साधुं य स्वार्थरर्चयति तं ।
फलं लभते बहुधा जिनपूजाफलादिकम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो सज्जन जिनेंद्र भगवतके रूपको धारण करनेवाले जैनसाधुवोंकी बहुत भक्तिसे अपने अनेक उत्तमद्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे उससे साक्षात् जिनेंद्रकी पूजा, पचाश्चर्य आदिके रूपमें अनेक उत्तम फलोंको प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

सद्धराञ्जिनशास्त्राणि ये स्वार्थरचर्यति ते ।
लभंते विमलज्ञानं केवलज्ञानसाधनम् ॥२५॥

अर्थ—जो सज्जन लोकहितकारक पवित्रशास्त्रोंकी एवं उन शास्त्रोंको धारण करनेवाले सयमियोंकी अनेक उत्तम द्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे केवलज्ञानको प्राप्त करने योग्य निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥

अल्पानल्पगुणियोंकी पूजा

अल्पगुणानमितगुणानल्पज्ञानसिलवेदिनो मत्वा यं ।
उचितं सत्कारं ते पुण्यं वाप स्वधर्मवर्धनबुध्या ॥ २६ ॥

अर्थ—जो सज्जन अल्पगुणियोंको विशिष्ट गुणी समझ कर एवं अल्पज्ञानियोंको अखिलज्ञानी समझकर धर्मवृद्धिकी बुद्धिसे उचित सत्कार करते हैं वे सातिशयपुण्यको व विशिष्ट निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

अल्पानल्पज्ञानियोंकी पूजा

अल्पज्ञानल्पज्ञानल्पानल्पश्रिया नृपानिव सर्वान् ।
नृपनामानो मत्वा मह्य कृतिनो बुधाश्च पुण्यं ज्ञानम् ॥२७॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि कम संपत्ति व अधिकसंपत्तिको धारण करनेवाले राजावोंका सबको राजाके नामसे उल्लेख कर उनका आदर, विनय किया जाता है, इसी प्रकार अल्पज्ञानी व महाज्ञानी साधुवोंको भेद न कर साधुवोंके नामसे उनका विनय, आदर व भक्ति करें तो वे सज्जन बुद्धिमान्, विद्वान् होते हैं एवं सातिशय पुण्य व निर्मलज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्यसहायसे विद्वान् तैयार करानेका फल

सतीव दीप मज्वारय सर्वनत्रांधतां हरेत् ।
जातो येन बुधस्तेनभव्यचित्तांधता हृता ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी सतीने एक दीपक लगाया उससे अनेक लोगोंके नेत्रका अंधता दूर होकर वे पदार्थोंको देखते हैं, उसी प्रकार कोई सज्जन अपने द्रव्यादिकको दान देकर किसी एक को विद्वान बनाता है तो उससे भव्योंके हृदयका अज्ञानांधकार दूर होता है। उसका श्रेय उस व्यक्ति को भी मिलता है जिसने उसे विद्वान् बनानेके लिए सहायता दी है । इसलिए शास्त्रदानका महिमा अपार है ॥ २८ ॥

दान देते समय सज्जन प्रमाण नहीं करते

क्षेत्राय याध्रे विदुष तरण्यै भृत्याय सेवाकृतितत्पराय ।
सुतास्तराभ्यासकराय वित्त-दानप्रमाण विबुधा न कुर्युः ॥२९॥

अर्थ—बुद्धिमान व पुरुषार्थी सज्जन खेतके लिए, यात्राके लिए, विद्वानोंके लिए, अपनी स्त्रीके लिए, सेवाकार्यमें तत्पर सेवकके लिए, अपने पुत्रको विद्याभ्यास करानेवालेके लिए, द्रव्यदान करते समय कोई प्रमाणका विचार नहीं करते हैं । दिल खोलकर देते हैं ॥ २९ ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्टविवादान्वीक्ष्य शौल्किका ।
धनान्यादन्ते तद्वद्दानिको दानमाचरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कस्टम महसूलका लेनेवाले अधिकारी उस मार्गसे आनेवाले उत्तम, मध्यम व जघन्य धान्य वस्त्रादि पदार्थोंको देखकर महसूल वसूल करते हैं, उसीप्रकार धार्मिक दानी सज्जन भी पात्रोंके भेदको देखकर तदुचित दान देवें ॥ ३० ॥

दानहीनमनुजस्य धनान्यायांति यांति किमिवानि निरर्थम् ।
वंशहानिरिव पुण्यनाशनं स्यादरण्यकुसुमानि वृथैव ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो सज्जन कभी दानक्रिया नहीं करता है, उसका संपत्तिका आना नहीं आना दोनों बराबर है। संपत्ति व्यर्थ ही है। जिस प्रकार पुत्ररहितकी वंशहानि होती है, उसी प्रकार दानरहितकी पुण्यहानि होती है। उसकी संपत्ति अरण्यपुष्पके समान व्यर्थ है। ३१ ॥

विद्वानोंका अपमान न करें

स्याज्जैनेंद्रागमांभोनिधिपरिमथनं तद्विशद्दूषणं कृत् ।
तत्स्वाध्यायप्रणाशो जिनगुरुभजकापर्णवादो विरोधः ॥
हिंसाद्यायोपदेशो जिनपतिवृषसन्मार्गसम्यग्दिशतम् ।
धिक्कुर्यादाहं प्रवेत्ता बुधपरिभवता ज्ञानविध्वंसहेतु ॥३२॥

अर्थ—जिनेंद्र भगवंतके द्वारा प्रतिपादित शास्त्ररूपी समुद्रको मथन करना, उसके उपदेशकोंका दूषण करना, स्वाध्याय करनेवालोंको अंतराय करना, देव, गुरुवोंकी उपासना करनेवालोंपर आरोप करना व उनसे विरोध करना, हिंसा व मिथ्यात्व आदि पापोंका उपदेश देना, एवं जिनधर्मके मार्गको योग्यरूपसे बतलानेवालोंका धिक्कार कर मैं ही बडा विद्वान् हूं ऐसा समझकर जो विद्वानोंका अपमान करता है वह उसका किया ज्ञानके नाशके लिए कारण है ॥ ३२ ॥ +

+ जिनोक्तशास्त्रस्याध्यायशीलिनं परिभूय च ॥
स्वाध्यायनाशो मात्सर्याच्छ्रुतज्ञानविनाशकृत ॥

शास्त्र पढ़नेवालोंको इतर काममें लगानेका फल

शास्त्राणि पठतां नित्यं मयाकारोऽन्यमुद्यमम्।
मूढाः स्युरिह तेऽमुत्र दृग्ज्ञानावृतयोऽधनाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो सज्जन प्रतिनित्य शास्त्र पढ़नेवालोंको गुरुसेवा शास्त्र स्वाध्यायसे बाह्य अन्य उद्यममें लगाते हैं वे इसी भवमें हिताहित विवेकरहित मूर्ख होते हैं। एवं परभवमें दर्शनावरण ज्ञानावरण से युक्त होते हैं एवं दरिद्री होकर उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥ *

प्रसिद्धगुरुका नाम लेना

अप्रसिद्धेन गुरुणा बुधो भूत्वा महात्मना।
बुधोऽभवं बुवन्नेव ज्ञानरत्नं विलुम्पति ॥ ३४ ॥

अर्थ—अप्रसिद्ध सामान्य गुरुसे विद्वान् होकर किसी लोकप्रसिद्ध बड़े महात्मा गुरुसे विद्वान् हुआ हूं ऐसा कहनेवाला अपने ज्ञानरत्नको नष्ट करलेता है ॥ ३४ ॥

ज्ञानसाधनापहरणफल

पुस्तकालेखासिक्तं तु मञ्जूषादीन्हरन्ति ये।
भवद्ज्ञानावृतिस्तेषां पुस्तकानि क्षयत्वरम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो सज्जन दूसरोंकी पुस्तक, लेख, वेष्टन, डोरा, पेटी आदि ज्ञानोपकरणको अपहरण कर लेते हैं, उनको ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मका बंध होता है। एवं उनकी पुस्तकादिक ज्ञानसामग्री शीघ्र ही नष्ट होता है ॥ ३५ ॥

ज्ञानसाधनदहनफल

यदैव जिनशास्त्राणि दग्धान्यपि परैः स्वयम्।
स्यात्तथैव च तत्कर्म ज्ञानदृक्पुण्यनाशनम् ॥ ३६ ॥

* शास्त्रपाठश्रुति येषा मोचयित्वान्यमुद्यमम् ॥
प्रयोजयन्ति तान्विद्धि दोषराशीर्गरीयसम् ॥

अर्थ—जो सज्जन शास्त्रोंको स्वयं या दूसरोंके द्वारा जलाते हैं वे उसीप्रकारके कर्मको अनुभव करते हैं, एवं उनका ज्ञान, दर्शन, व पुण्यका नाश होता है ॥ ३६ ॥

गुरुओंके अविनयका फल

शास्त्राणां पठनं श्रुतौ पटुतरा बुद्धिर्मुनीनां सतां।
तान्दृष्ट्वा विनयोक्तिभक्तिविनतिद्रव्यैर्मुदं ये मुदा ॥
नो कुर्वंति न कारयंति तनुवाग्चित्तैरलं वंचकाः ।
षण्मासावधि भूरिवित्तलयनं तेषां मंदज्ञता ॥ ३७ ॥

अर्थ—शास्त्रस्वाध्याय जहां चलता है वहां, जहां शास्त्र सुनरहे हैं वहां, एवं निर्मलबुद्धिके धारक सज्जनोंके पासमें जानेके बाद वहां, जो उनको देखकर विनयपूर्ण वचन, भक्ति, विनय आदि नहीं करते हैं, एवं अपने द्रव्यसे व मन, वचन, कायकी विशुद्धि से उनका सत्कार नहीं करते हैं, और दूसरोंसे नहीं कराते हैं वे वंचक हैं। उनको उनके पापके फलके रूपमें छह महीनेके अंदर उनके धनका नाश होता है एवं उनका ज्ञान मंद होता है एवं वे विवेकभ्रष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥

अज्ञानी उल्लू

जिनधर्मामलाकाशे उदिते शास्त्रभास्वति ।
घूका इवांधा नेक्षंत सन्मार्गं मोक्षसाधनम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनधर्मरूपी निर्मल आकाशमें शास्त्ररूपी सूर्यके उदय होनेपर उल्लूके समान अज्ञानी जीव मोक्षसाधनसमर्थ सन्मार्गको देख नहीं सकते हैं ॥ ३८ ॥

आगमपर मलिनवस्त्राच्छादनफल

आगमशास्त्रावासस्योपरि [illegible] नावरादि
कृतस्तस्य महाज्ञानार्कबिंबमस्तमेति

अर्थ—जो सज्जन शास्त्र व शास्त्र रखनेकी पेटीको मलिनवस्त्र व सोनेकी चटाई, दरी आदिसे ढकते हैं उनका ज्ञानसूर्य बहुत जल्दी अस्त होता है अर्थात् बुद्धि भ्रष्ट होती है ॥ ३९ ॥

अविनयफल

स्वासनाध स्थले पादाध स्थले भूतलेऽशुचौ ।
कटादौ पुस्तकन्यासादस्तमेति चिद्शुमान ॥ ४० ॥

अर्थ—आगमोंको अपने बैठनेके आसनके नीचे, पैरके नीचे, अशुचि भूमिपर, चटाई आदिपर रखनेसे उनका अविनय होता है । इस अविनयोंका ज्ञानसूर्य अस्त होता है ॥ ४० ॥

हसति मूढाः परिहासयति ।
मज्ञा न चाज्ञा स्वकृतोऽनुयोग ॥
ब्रुवति नाग्रे च पृथा स्वदृष्टि-
ज्ञानावृतिं ते स्वयमाप्नुवति ॥ ४१ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अपनी कृतिका फल आगे क्या होगा इन बातोंको विचार नहीं करते हैं । कोई अपने हाथसे गलती होनेपर भी हम बुद्धिमान् ही हैं, अज्ञ नहीं हैं, युक्तिशास्त्राविरोधि परमागमकी प्रशंसा नहीं करते हैं, अपितु अनेक प्रकारकी कल्पना कर उसकी हंसी उडाते हैं । दूसरोंके द्वारा उस परमागमकी हंसी कराते हैं, वे ज्ञानावरणकर्मके द्वारा बद्ध होते हैं ॥ ४१ ॥

साधुजनोंकी परोक्षमें निंदा न कर

ये शंसति नमति सार्ध्वीन पुरो भक्त्या भवेयुर्मुदा ।
पश्चाज्जैनजनाश्चिरत्नसहिता कुर्वन्त्युपालंभनम् ॥
शून्यग्रामनिविष्टगाढनिगलप्रक्षिप्तपादो यथा ।
श्वसन्नघ नुवश्रमन्करशिरो दैन्य व्रज मूढधीः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति सामने साधुजनोंको देखकर प्रशंसा करता

है, नमस्कार करता है, एवं पीछेसे उन रत्नत्रयधारियोंकी निंदा करता है, वह अज्ञानी जीव है। उसकी दीनता, भक्ति आदि ठीक उसी प्रकारकी है जैसे कोई सूने मार्गमें बंधनकाष्ठमें किसीके पैरको फसाने पर रास्ते चलनेवालोंको देखकर वह दीनताको धारण करता है, स्तुति करता है, प्रशंसा करता है, हाथ जोडता है, आदि अनेक मायाचार पूर्ण क्रिया करता है। इसी प्रकार साधुओंकी प्रशंसा सामने कर पीछेसे निंदा करनेवाले की दशा है ॥ ४२ ॥

गुरुके प्रति क्रोधका निषेध

सद्दृष्टिं विबुधं दयालुममलं चारित्रवंतं गुरुं ।
ये क्रुध्यंति शपंति चेतसि सदा मद्वेषमाकुर्वते ॥
तेषां सर्वधनं हरंति यदघं सज्ज्ञानमाहंति तद्-
ग्रस्तेऽर्के तमसा यथा जगदिदं तद्वत्सचित्तो भवेत् ॥४३॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि, विद्वान्, दयालु, निर्मल, व चारित्रधारी अपने गुरुवोंके प्रति क्रोधित होते हैं, उनको गाली देते हैं, एवं चित्तमें सदा द्वेष करते हैं, उनके सर्व धनको चोर आदि अपहरण करते हैं, एवं उसके ज्ञानको पापचोर नष्ट करता है। जिस प्रकार सूर्यके राहु ग्रस्त होनेपर यह लोक अंधकारसे आवृत होता है, उसी प्रकार उसके चित्तकी दशा होती है, अर्थात् अज्ञानांधकारसे आवृत होता है ॥४३॥

अन्यनिंदाफल

ज्ञानं पुण्यमयं श्रियं शुभधियं तेजोऽभिमानं गुणं ।
बंधुत्वं शपनं निहंति सुगतिं स्नेहं चरित्रं दयाम् ॥
कुर्यान्नीचगतिं परिग्रहरुजां दैन्यं विषादं सतां ।
मृत्युं बंधनवैरताडनमिहैकाद्विविषादिकं ॥ ४४ ॥

अर्थ—दूसरोंको एवं साधुवोंको गाली देनेसे ज्ञान व पुण्यका नाश होता है, पुण्यकारक परिणामोंको नाश करता है। संपत्ति, शुभबुद्धि, तेज,

अभिमान, दानादिक गुण, मनुत्व आदि नष्ट होते हैं । प्रेम नहीं रहता है, चारित्र व सम्यक्त्वका नाश होता है, उत्तमगति भी उसे नहीं हो सकती है । एवं उसके व्यवहारसे नरकादि नीचगतिका बंध होता है । परिग्रह व रागकी वृद्धि होती है, दीनता बढती है, सज्जनोंके हृदयमें विषाद बढता है, कदाचित् मृत्यु ही इसकी होती है। बंधन (कारागृह) बैर, ताडन आदियोंसे एक दो या तीन दुःख प्राप्त होते हैं । इसलिए विवेकीको उचित है कि वह दूसरोंकी निंदा न करें और गाली न देवें ॥ ९४ ॥

मूर्खोंका शाप कुछ नहीं कर सकता है

मूर्खाणां शपनं शांतं मौनिनं न च बाधते ।
शपकं बाधते सत्यं रावणारिसुचक्रवत् ॥ ९५ ॥

अर्थ—मूर्ख मनुष्य यदि किसी शांत व मौनीको गाली देवें तो वह गाली उस मौनीको कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकती है, उल्टा उस गाली देनेवालेका ही उससे हानि होती है । जिस प्रकार रावणके द्वारा छोडा हुआ चक्र उसीके मरणके लिए कारण हुआ, उसी प्रकार वह गाली उसी व्यक्तिके लिए बाधक है ॥ ९५ ॥

गाली देनेवालेके लिये प्रायश्चित्त नहीं है

प्रायश्चित्तं न शपतां अमानां नाघहानितः ।
शोधनं सर्वथा देयं श्रोतॄणां योगभेदतः ॥ ९६ ॥

अर्थ—गाली देनेवालोंके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है, क्यों कि गाली देनेवालोंके पापकी निवृत्ति नहीं होती है । तथापि उनके आत्माको शोधन करनेके लिए गाली सुननेवालोंके योगके भेदको लक्ष्यमें रखकर प्रयत्न करना चाहिये ॥ ९६ ॥

बिना शुद्धिके दानपूजा व्यर्थ है

नष्टाग्नेः प्रबलाहारभुक्त्या तीव्रा गदा यथा ।
शुद्धिं विना दानपूजास्तस्य येन कृता तथा ॥ ४७ ॥

अर्थ—उदराग्निके नष्ट होनेपर गरिष्ठ आहारके सेवन करनेसे तीव्ररोगकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मन वचन व कायकी शुद्धिके बिना दानपूजा करना व्यर्थ है, उससे अनेक अनर्थ होते हैं॥४७॥

शास्त्रादिके प्रति उदासीन न होवें

चक्रे भाग्यक्षयः स्त्रियां सुतहतिं देवेऽपि धर्मे गुरौ।
दौर्गत्यं द्रविणार्जनेषु विलयं लाभस्य मूलस्य च ॥
शास्त्रे शास्त्रिणि पुस्तकेऽपि पठति व्याख्यातरि श्रोतरि ।
प्रेक्षानाशमिहैव तस्य यदुदासीनं करोतीति च ॥ ४८ ॥

अर्थ—यदि राजाने अपने राजचक्रके संरक्षणमें उदासीनता की तो उसका भाग्य नष्ट होता है, अपनी स्त्रीमें मनुष्यने उपेक्षा की तो पुत्रोत्पत्ति नहीं हो सकती, देव, धर्म व गुरुवोंके प्रति अनादर किया तो दुर्गतिकी प्राप्ति होती है । धनके कमानेमें आलस्य किया तो लाभ व मूल दोनोंका नाश होता है, इसी प्रकार शास्त्र, शास्त्री, पुस्तक, पढनेवाले, व्याख्यान करनेवाले, श्रोताके प्रति उदासीनता धारण करे तो इस लोकमें ही उसका ज्ञान नष्ट होता है ॥ ४८ ॥

शास्त्रपठननिषिद्धस्थान

मूषकोच्छिष्टविण्मूत्रे नीचसंवृते स्थले ।
शास्त्राणि पठतां नित्यं मंदबुद्धिः प्रजायते ॥ ४९ ॥

अर्थ—चमगादड, चूहोंके उच्छिष्टसे स्पृष्ट स्थानमें, मलमूत्रसे युक्तस्थानमें एवं चांडालादि नीच पुरुषोंसे युक्तस्थानमें जो शास्त्र बाचता है वह मंदबुद्धि होता है ॥ ४९ ॥

मूर्खलोग विद्वानोंका अनादर करते हैं ,

लोकोपकर्तृन् कृषिकान् पोषयति यथा नृपाः ।
लोकोपकर्तृविबुधान्न्यक्कुर्वंति तथा जडाः ॥ ५० ॥

अर्थ—लोकको उपकारकरनेवाले किसानोंको जिसप्रकार राजालोग पोषण करते हैं उसी प्रकार मूर्खलोग लोकोपकार करनेवाले विद्वानोंका अपमान करते हैं ॥ ५० ॥

शास्त्रोपदेशकके अभिप्रायका घात न करें

शास्त्रोपदेष्टुराकृतघातनादतिवानवान् ।
श्रोतृणां श्रुतशास्त्राणां पक्वबुद्धिश्च नश्यति ॥ ५१ ॥

अर्थ—शास्त्रोपदेश देनेवालोंके अभिप्रायको घात करनेसे उनको अत्यधिक दुःख होकर श्रोता व अनेकबार शास्त्र सुनकर जो बुद्धिमान् हुए हैं उनकी पक्वबुद्धि भी नष्ट होती है ॥ ५१ ॥

उपदेशकोंके प्रति उदासीन नहीं होवें

यावद्यावदुदासीनमुपदेष्टरि कुर्वते ।
तावत्तावद्विप्रकृष्टं निर्गच्छति सरस्वती ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह मनुष्य शास्त्रके उपदेशको देनेवाले उपदेशकोंके प्रति जितना २ उदासीन होता जाता है, उतना ही उससे सरस्वती दूर चली जाती है ॥ ५२ ॥

उदासीनलक्षण

विघ्नादुद्स्मृतिधीभ्रमरागिद्रूपणवैकल्यम् ।
दुर्मेधात्वमित्यष्टधोदासीनलक्षणम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—(१) शास्त्र सुननेमें अंतराय उत्पन्न होना, (२) निरंतराय होनेपर भी शास्त्र सुननेकी इच्छा न होना, (३) निरंतराय व सुन

नकी इच्छा होनेपर भी श्रुतविषयका स्मरणाभाव व बुद्धिका भ्रंश होना, (४) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति आदिके होनेपर भी रोगयुक्त शरीरके होना, (५) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति व आरोग्यके होनेपर भी गुरुशिष्योंमें आपसमें द्वेष होना, (६) निरंतराय, इच्छा, बुद्धि, स्मृति, आरोग्य व गुरुशिष्योंमें प्रेम होनेपर भी गुरु शिष्योंमें मनोविकलताका होना, (७) उपर्युक्त सभी बातोंके होनेपर भी दुर्बुद्धि उत्पन्न होना, (८) कदाचित् उपर्युक्त बातोंके साथ सुबुद्धि रही तो भी जडता अर्थात् मंदबुद्धि होना, ये आठ बातें उदासीनताके लक्षण हैं। ये आठ बातें संसारमें सम्यग्दृष्टि व विद्वानोंके प्रति की गई उदासीनतासे मनुष्यको प्राप्त होती हैं ॥ ५३ ॥

विद्वानोंके अनादरसे होनेवाली दस बातें

सद्वाचि क्रुध्दूर्तताक्षाधीनशक्तिनिद्रातन्द्राजृंभण विस्मृतिश्च ।
पाठाशक्तिर्मूर्खतास्पष्टवाक्स्युरज्ञानोद्भूतभावा विकाराः ॥५४॥

अर्थ—सम्यग्मार्गके उपदेश देनेवालोंके प्रति क्रोधित होना, धूर्तता, इंद्रियोंके आधीन होना, शास्त्रश्रवणके समय निद्रा आना, आलस्य आना, जमाई आना, विस्मरण होना, कितनी ही बार पाठ करनेपर भी पाठ न होना, मूर्खता, तोतली बोली, ये दस बातें विद्वानोंके अनादरसे होती हैं, या यों कहिये ये दस बातें * अज्ञानभूतसे उत्पन्न विकार हैं ॥ ५४ ॥

अल्पवतनका निषेध

श्रुतानामुपदेष्टॄणां दत्वाल्प वेतनं हृदयमान् ।
ये कारयन्ति तेषां च ज्ञानपुस्तादिनाशनम् ॥ ५५ ॥

---

* भूतास्त्यजन्ति बलिदानगुणेन मर्त्यं ।
त्याज्या सुमन्त्रिजनरक्षणदक्षमन्त्रैः ॥
जाड्यग्रहा न बलिदानगुणेन मर्त्यं ।
त्याज्या न दिव्यमुनिदत्तगुरुमन्त्ररक्षैः ॥

अर्थ—जो सज्जन अपने पुत्रोंको पढानेवाले विद्वानोंको अल्प वेतनको देकर उनसे बहुतसे उद्योग कराते हैं, उनके व उनके पुत्रोंके ज्ञान, पुस्तक आदिका नाश होता है । यदि शब्दसे द्रव्यनाश भी होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

पुस्तकादि न्यासापहरणनिषेध

न्यस्त दत्त पतित विस्मृतमिह पुस्तकादि वंचित्वा ।
यो नास्ति वदति तस्य ज्ञानावरण च दर्शनावरणम् ॥५६॥

अर्थ—जो सज्जन अपने पास दूसरोंकी रक्खी हुई, दी हुई, पडी हुई, भूलकर रही हुई पुस्तकादिज्ञानसाधनको ठगकर ' हमारे पास नहीं है, ऐसा कहता है उसे ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मका बंध होता है ॥५६॥

इससे ज्ञानदर्शनावरणकर्मका बंध होता है ।

ज्ञानविषयस्सर्वो ज्ञानावरण पटरथदीप इव ।
दग्धमावृणोति सर्वो दृग्विषयो रविमिवावृणोत्यब्द ॥५७॥

अर्थ—ज्ञानके संबंधमें जो मनुष्य दोष करता है उससे वस्त्राच्छादित दीपकके समान ज्ञानावरणके द्वारा उसका ज्ञान आवृत होता है। इसप्रकार दर्शनके संबंधमें जो दोष करता है उससे दर्शनावरणसे उसकी दर्शनशक्ति आवृत होती है जिसप्रकार मेघसे सूर्यबिंब आवृत होता है ॥ ५७ ॥

मिथ्यादृष्टि

सद्दग्वचनसदर्भं यो निराकुरुते यदा ।
तदा कुदृष्टिस्तस्यापि दृष्टिज्ञानावृतिर्भवेत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टियोंके हितकारी वचनोंका जो निराकरण करता है वही मिथ्यादृष्टि है, उसे भी ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मका बंध होता है ॥ ५८ ॥

कलिकालमें शास्त्रस्वाध्यायकी दशा

शास्त्रं पठतो न च सन्ति ते चेत्सम्यग्दिशतो न च सन्ति तत्र ।
अध्यापयता न च सन्ति तेऽज्ञास्तत्र च तान् सन्ति विनाशयत ॥५९॥

अर्थ—इस पंचमकालमें पहिले शास्त्रको पढनेवाले ही नहीं हैं। पढनेवाले कदाचित् मिले तो उन शास्त्रोंके गूढरहस्यको अच्छी तरह समझानेवाले नहीं हैं। वे भी मिले तो उन पढनेवालों व प्रवचन करनेवालोंकी रक्षा कर उनसे पढवानेवाले नहीं हैं। कदाचित् इन सबकी प्राप्ति होजाय तो उस शास्त्रको, शास्त्र पढनेवाले, उपदेश देनेवाले व उनको रक्षण करनेवाले सज्जनोंको कष्ट देकर नाश करनेवाले मूढजन बहुत हैं ॥ ५९ ॥

यावन्नत्र भुवनबुद्धिरखिला तावच्च तस्याशये ।
किंचिच्छुद्धमतिस्सुदृक्सुचरितं ज्ञानं च भावः शुभः ॥
भक्तिर्वत्सलता विचारविनयः पुण्यं च धर्मक्रिया ।
नाशोऽप्यद्भवतीह सर्वमफलं दापाय पार्श्व यथा ॥६०॥

अर्थ—जबतक इस मनुष्यके हृदयसे मायाचार पूर्ण बुद्धि नष्ट नहीं होती अर्थात् निर्मान धर्मसेवनकी भावना नहीं आती है तबतक उसके चित्तमें शुद्ध निर्मलबुद्धि, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान, शुभभाव, भक्ति, वात्सल्य, विनय, पुण्य और धर्मक्रिया आदि कोई भी उत्पन्न नहीं होती हैं, होनेपर भी व्यर्थ हैं। पार्श्वमुनिके समान * वक्रपरिणामसे की हुई उसकी सर्व क्रियायें व्यर्थ व निष्फल हैं ॥६०॥

दुराचारी विद्वानोंको कष्ट देते हैं

के मूढाः स्मृतिविज्जना गतधना दुष्टाशया दुःखिनो ।
भाग्याढ्या सुखिनः प्रमत्तमनसः कामच्छवो गर्विताः ॥

* जातचित्तमविच्छिन्नालातवद्यस्य चेतसि ।
... वक्रबुद्धिरतमिथ्यात्वं ...

दुर्वृत्ताः शमनोज्झ्य कुमतयो निद्यक्रिया सक्रुधः ।
प्रज्ञास्सन्ति न सन्ति चात्र कुदृशस्तान्मारयन्ति ध्रुवम् ॥६१॥

अर्थ—संसारमें कोई मूर्ख होते हैं, कोई अज्ञानी, कोई दरिद्री, कोई असाध्य रोगसे पीडित, कोई दुःखी, कोई भाग्यवान, कोई सुखी, कोई प्रमादी, कोई कामी, कोई अहंकारी, कोई दुराचारी, कोई शांत बोलनेवाले, कोई दुर्बुद्धि, कोई निद्यक्रिया करनेवाले और कोई क्रोधी होते हैं । परंतु सन्मार्गका उपदेश देनेवाले विद्वान् होते हैं या नहीं यह नहीं कह सकते हैं, अर्थात् प्रशस्तमोक्षमार्गके उपदेश देनेवाले विद्वान् बहुत कम होते हैं । यदि कोई हों तो मिथ्यादृष्टि अविवेकी उनको अनेक प्रकारसे कष्ट देते हैं ॥ ६१ ॥

जिनागमकी रक्षा करो

दायादचोरकुसुतस्त्रीजलकृमिधूलितैलदहनाद्यैः ।
स्याज्जिनशास्त्रविनाशस्तेभ्यस्त्वद्रक्ष सर्वयत्नेन ॥६२॥

अर्थ—दायाद, चोर, कुपुत्र, दुराचारिणी स्त्री, जल, कीडे, धूल, तेल, अग्नि आदिसे जिनागमका नाश होता है। इसलिए हे भव्यात्मन् ! इनसे जिनागमोंकी रक्षा कर, जिससे इस लोकमें सम्यग्ज्ञानका साधन बना रहे ॥ ६२ ॥

मतं समस्तैः ऋषिभिर्यदार्हतैः
प्रभासुरं पावनदानशासनम् ।
मुदे सतां पुण्यधनं सपर्जितुं
धनानि दद्यान्मुनये विचार्य तत् ॥ ६३ ॥

अर्थ—समस्त आर्हत ऋषियोंके शासनके अनुसार यह दानशासन प्रतिपादित है । इसलिए पुण्यधनको कमाने की इच्छा रखनेवाले दानी श्रावक उत्तम पात्रोंको देखकर उनके सयोपयोगी धनादिकद्रव्योंको विचार कर दान देवें ॥ ६३ ॥

इति शास्त्रदानविधानम्

भावलक्षणविधानम्

राजाके समान पुण्यपरिकरोंको मिलाना चाहिये ।

> यत्कर्माजिनमुख्यवेन समुदा सत्सावधान सदा ।
> त मान च तदुद्यम तदुचित देश सहाय च तम् ॥
> तन्मित्र च तमीश्वर च तमृषिं तान्सेवकास्तत्कुल ।
> त ग्रथ च नियोज्य तच्च कुरुतऽरिष्ट च भूपालवत् ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य यहापर पुण्यक्रियावोंको करता है उसको बहुत आनंद व सावधान होकर उन क्रियावोंको करनी चाहिए । उन क्रियावोंके योग्य भाव, उद्योग, उचितदेश, योग्य सहायता, अनुकूल मित्र, हितैषी स्वामी, निस्पृहगुरु, अनुकूलसेवक और तदनुकूल परिग्रह आदि को योग्यरूप से मिलाकर पुण्यकार्योंको करना चाहिए । तभी इसमें सफलता मिलती है जैसा कि योग्य राजा राज्यकार्यमें सत्परिकरोंको मिलाया करता है ॥ १ ॥

दुष्टोंके हृदयमें जिनमुनि आदिके प्रति दयाभाव नहीं रहता ।

> जैन पूतगुणाकरो विगुणिना दुष्टा कृतरूपिणोऽ-
> प्यानताद्विकपापिण सज्जना बधुद्रुपाघातिन ॥
> दाक्षिण्य दयया गुणन च विना य यत्र यत्रासते ।
> सस्नेह सहवासवर्तनसहालापान्सदा तैस्त्यजेत् ॥ २ ॥

अर्थ—लोकमें ऐसे कितने ही लोग हैं जिनके हृदय में जिनमुनि व विद्वानोंके प्रति कोई दाक्षिण्य नहीं है अर्थात् उन की कोई परवाह ही उनको नहीं रहती है । इसी प्रकार उनके हृदय में कोई भी प्राणियोंके प्रति दयाभाव नहीं रहता है । इसलिए उनके हृदयमें विनयादिक गुण नहीं हुआ करते हैं । ये दूसरोंका सदा दोष लगाते रहते हैं, सज्जनोंके साथ कुतर्क करते हैं । अनंतानुबंधि

आदि कषायोंसे युक्त रहते हैं, साधुजनोंको गाली देते हैं, और अपने धर्मबांधवोंको कष्ट देते हैं । ऐसे दुष्ट जहां रहते हैं उनका सहवास पवित्र गुणोंको धारण करनेवाले जिनभक्त कभी न करें ॥ २ ॥

जीवानां भावभेदाः स्युः स्वादुवच्च कषायवत् ।
तिक्तवत्कटुवत् क्वचित्क्वचिल्लवणवदम्लवत् ॥ ३ ॥
रसानामिह सत्वपाकस्तद्रौ वा यथा प्रथ ।
षट्कार इव पचेव पद्मा इव भूतले ॥ ४ ॥

अर्थ—जीवोंके परिणाम अनेक प्रकारके होते हैं । जिस प्रकार रसोंके भेद स्वादु, कषाय, तीखा, कटु, लवण, अम्लक रसों होते हैं उसी प्रकार जीवके परिणामोंमें भी अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं ॥ ३ – ४ ॥

यथा स्निग्धो यथा रूक्षो यथा शीतो यथोष्णकः ।
गुरुवल्लघुवत्क्वचित् मृदुवत्खरवत्सदा ॥ ५ ॥

अर्थ—किसीका परिणाम स्निग्ध रहता है, किसीका रूक्ष रहता है, किसीका शीत तो किसीका उष्ण, और किसीका गुरु तो किसीका लघु रहता है । और किसीका मृदु परिणाम रहता है और किसीका कर्कश परिणाम रहता है अर्थात् आठ प्रकारके स्पर्शोंके समान जीवोंके परिणाम भी होते हैं ॥ ५ ॥

सेव्य बालयुवालयमध्यफलमेवार्चोचित कार्कटे ।
शुद्ध पेद्धहिरच विसिपति यत्तद्धन्च केचिज्जना ॥
सेव्य शुद्धमिवाथ सत्कृतिवशात्केचिच्च वृष्यादिक ।
बाल यद्विपत्रद्दीन भिषज सेव्य न सत्कारत ॥ ६ ॥

अर्थ—ककडी बिलकुल कोमल, थोडा कठोर तथा कोमलकठोर ऐसी अवस्थाओंमें भी सेव्य है । परंतु जब वह पूर्ण कठोर होती है तब उसे कोई भी मनुष्य नहीं खाता है । उसी तरह कितनेक मनुष्य, बाल,

तरुण व मध्य अवस्थामें सेवा योग्य होते हैं। जब वे वृद्ध होते हैं तब वे सेवाके लिए अयोग्य हो जाते हैं। अर्थात् उन के परिणाम निर्मल नहीं होते हैं। लोभादिकसे दूषित होते हैं इसलिए वे आदर योग्य नहीं रहते हैं। कुष्मांड फल जब पूर्ण पक्व हो जाता है तब उस को साहत करके अर्थात् शक्करकी चासनी वगैरह मिलाकर उसका सेवन करते हैं। परंतु जब वह बिलकुल कोमल रहता है तब उसका सत्कार करके भी खाना योग्य नहीं है। क्यों कि यह बाल्यावस्था में विषतुल्य है ऐसा वैद्य कहते हैं॥ ६ ॥

जीवाः केचिदिवात्र चिर्भटफलं सेव्यं न सत्कारतः ।
सेव्यं केवलमेव सेव्यमखिलं स्यात्पक्वमन्तेऽमृतम् ॥
केचित् पुण्यप्रसेव्यमव फलमप्यूर्वारव सर्वदा ।
दोषाणां सरुजां न पथ्यमिह तद्वैपम्यभाजां सदा ॥ ७ ॥

अर्थ—कितनेक जीव कचरियाके समान सरनीय ही होते हैं। उनके ऊपर सत्कार करने की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् उनके परिणामोंमें निर्मलता सत्कारके विना ही रहती है। कचरिया जब पक जाती है तब अमृतके समान मीठा होता है। उसी तरह कितनेक जीवोंके परिणाम अमृतके समान पूर्ण पापरहित तथा हित-कारक होते हैं। फट नाम का फल [ककडी विशेष] नीरोग आदमी को हितकर होता है। परंतु रोगीको वह पथ्य नहीं है। उसी तरह कितनेक जीव सदोष लोगोंसे सेवनीय नहीं होते हैं। यदि वे उनका सेवा सहवास करेंगे तो उनका अहित होगा ॥ ७ ॥

मूलं च काय' कुसुमं फलं च श्वेतं च जम्ब्वा परिणामकाले ।
रक्तं सुकृष्णं सरसं फलं च सुरवादुमिष्टं भवभेदि शातम् ॥८॥

अर्थ – जंबूवृक्षका मूल, काय, पुष्प, फल ये सबके सब श्वेत हैं, परंतु वह पकते समय लाल होकर फिर काला होता है। परंतु

खाते समय इसादिष्ट व मीठा लगता है। व परिणाम शीत है। इसी प्रकारके परिणामका धारण करनेवाले कोई जार होते हैं ॥ ८ ॥

सेवासमये सरस वदन विरस करोति वस्त्वखिलम्।
सरस विरस वक्त्र रुणद्धि कठ पुरीषमूत्र च ॥ ९ ॥

अर्थ —उस फलको सेवन करते समय सरस मालुम होता है, परतु मुखको विरस करता है। एव समस्त अन्य सरस पदार्थके खाने पर भी उसे विरस कर देता है। मुखका विरस करता है। कठ व मलमूत्रको रोकता है ॥ ९ ॥

कचित्कफा यथा जतुघातका भिनभेदका।
केचित्कका इवाभान्ति केशदोषापहारिण ॥ १० ॥

अर्थ —कोई कघे जिस प्रकार शिरपर रहे हुए जू आदि प्राणियोंका नाश करते हैं, इस प्रकार कोई २ मित्रोंको भेद करनेवाले होते हैं। कोई कघ जिस प्रकार केश के दोषोंको दूर करते हैं, उसी प्रकार कोई २ मनुष्योंका परिणाम रहता है ॥ १० ॥

भेदकृज्जन्तुहा कश्चित्सस्नेहे सति ककवत्।
निस्नेहेऽपि च जन्तुघ्नस्तस्मिंस्ताभिमुख सदा ॥ ११ ॥

अर्थ—कोई कघा जिस प्रकार शिरपर तेलके रहनेपर जू आदि को भेद करनेवाला व उसे नाश करनेवाला होता है। उसी प्रकार कोई २ अत्यधिक स्नेह रहनेपर भी वही भेदभाव उत्पन्न करते हैं व उन को हानि पहुचाते हैं। कोई कघा तेल न रहने पर भी जतुका नाश करता है। इसी प्रकार कोई प्रेम न रहनेपर भी दूसरोंकी हानि ही करते हैं। इस प्रकार इन लोगोंसे हमेशा दूर रहना चाहिए ॥ ११ ॥

आदत्ते दोषिणा दोषान् निर्दोषो विमुखोभवेत्।
सदोषो रक्त पिबति निर्दोष नैव रक्तपा ॥ १२ ॥

अर्थ—हमेशा दोषी ही दोषियोंके दोषका ग्रहण करता है।

निर्दोषी दोषको ग्रहण करने के लिए प्रयत्न नहीं करता है। दोषी जलौक ही दुष्ट रक्त को पीते हैं। निर्दोषी कभी नहीं पीते ॥ १२ ॥

शुष्कास्थिदशनादस्रं पिबन्नेपि न कुक्कुरः ।
केचिदत्र न जानन्ति पुरोऽपि बहुवेदनाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कुत्ता सूखा हड्डीको खाते हुए अपने दांत व मुखसे निकलनेवाले रक्त को पीते हुए भी उसे नहीं जानता है, उसी प्रकार कितने ही सज्जन अपने सामने अनेक प्रकार के दुःख होने पर भी उसे नहीं जानते हैं ॥ १३ ॥

गेहं यत्र गते शुनीह मनुजैर्घाव भपत्यद्रुतं ।
नामुत्रस्य गृहमवशमपि ते दण्डाहतिं नारयेत् ।
ते चिन्वन्त्यघमेव सोऽप्यघफलं भुङ्क्ते यथा विट्टेदे ।
भुङ्क्तानार्तसफला भवन्ति दुरितं प्रक्षाशयन्त्यैहिकम् ॥१४॥

अर्थ—कोई कुत्ते अपरिचित मनुष्यके घरमें घुस जाते हैं, तब उस घरका मालिक उनको पाटता है। उस समय वे कुत्ते भोंकने लगते हैं। परगृहमें घुसनेका स्वभाव कोई कुत्ते नहीं छोडते हैं। अतः वे हमेशा दंडेसे पाटे जाते हैं। पाटनेवाला आदमी तथा कुत्ते दोनों ही अपने अपने कार्यसे पापसंचय ही करते हैं। उसी तरह कोई जीव प्राणियोंको दुःख देते हैं। प्राणी अपने पूर्व कृतकर्मका फल भोगते हैं तथा दुःख देनेवाले भी अपने इहपरलोक को बिगाडकर पाप संचय करते हैं। इस प्रकार विचार कर जीवोंको दुःखित करना योग्य नहीं है, ऐसा मनमें विचार करना चाहिये ॥ १४ ॥

मा कुरु शुचं कृतघ्नप्राणिष्वहमधम इति बुधा ब्रुवते ।
भवतोऽपि निकृष्टतरं दृष्ट्वा श्वानं कृतघ्नतामानम् ॥१५॥

अर्थ—हे जीव ! मैं कृतघ्नप्राणियों में अधम हूं। इस प्रकार की चिंता मत करो। तुमसे भी अधिक निकृष्ट कृतघ्न कुत्ते को देख कर मनमें समाधान कर लेना चाहिए ॥१५॥

श्वानो जानन्ति दुर्गंधं ज्ञानेन क्ष्मागतं शवम् ।
न निधानं तथा नीचा दोषान् पश्यन्ति ना गुणान् ॥१६॥

अर्थ—कुत्ता अपने ज्ञानबल से भूमिके अंदर रक्खे हुए शव के दुर्गंध का जान सकता है। परंतु भूमि में कोई निधि हो तो उसे नहीं जान सकता है। इसी प्रकार नीचमनुष्य दोषको ही ग्रहण कर सकते हैं। गुण को ग्रहण नहीं कर सकते ॥ १६ ॥

अवन्त्यदन्ति हिंसन्ति विक्रीणन्त्यामिषाशिनाम् ।
जाबाला इव बस्तादीन् वर्तन्ते कतिचिज्जना ॥ १७ ॥

अर्थ—भेडिये लोग बकरे आदि को सरक्षण करते हैं, खाते हैं, मारते हैं एवं मांसभक्षकों को बेचते भी हैं। इस प्रकार के परिणाम के भी कोई दुष्ट रहते हैं ॥ १७ ॥

स्वकीयधर्मानुगुणास्त एव पुण्येऽधिकेऽतिमतिकूलवृत्तः ।
किंचिन्न जानन्ति हिताहितं ■ मत्तास्तु मीना इव केचिदत्र ॥१८॥

अर्थ—कोई कोई पुरुष पूर्वजन्मके धर्माचरणसे अधिक पुण्यशाली हो जाते हैं। परंतु वे प्रतिकूल आचरण करते हैं। जलमें सुखसे विहरने वाले मत्स्य जैसे मत्त होकर अपना हिताहित नहीं जानते हुए मरणवश होते हैं उसी तरह वे पुरुष भी अपना हिताहित नहीं जानते हैं ॥

अन्योऽन्यलग्नविघृष्टविरोधवृत्ता
निरयव्यथा सततलग्नपुनर्भवाश्च ।
विण्मूत्रकम्बकसशर्करलेपङ्क-
चर्मानुरक्तचरणा इव केचिदत्र ॥ १९ ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष आपसमें पावोंसे लडते हैं तब उनके पांव व्यथित होते हैं। उनके नखोंमें दर्द होने लगता है। तथा जिनके पावोंमें विष्टा, मूत्र, कांटे, कीचड वगैरहसे तकलीफ हो रही है ऐसे मनुष्योंके समान जो जीव आपसमें विरोध करते हैं उनको इहलोक में

द्वेषविकार से दुःख होता है तथा परलोकमें भी पापोदय से दुःख ही भोगना पड़ता है। अतः आपसमें द्वेष ईर्ष्या वगैरह छोड़ने चाहिये जिससे उभय लोकमें सुख होता है ॥ १९ ॥

ये स्वस्वं नाश्रितास्तेषां मनोऽनुगुणवर्तिनः ।
अभेदविषयासक्ताः केचिद्वेश्याजना इव ॥२०॥

अर्थ—जिस प्रकार वेश्या जो धन देते हैं उनके मनके अनुकूल बर्ताव करती हैं एवं अभेदरूपमें विषयासक्त होती है उसी प्रकार इस संसारमें कोई २ सज्जन होते हैं ॥ २० ॥

वृथा मृत्युं गता मीनाः पललेशाशया यथा ।
विवेकरहिताः केचिद्विनष्टा ईषदाशया ॥ २१ ॥

अर्थ—मरोंसे मांसके टुकड़के लोभसे मछलियां अपने प्राणको खो देती हैं, इसी प्रकार इस संसारमें कई विवेकरहित सज्जन क्षुद्र अभिप्रायके वशीभूत होकर नष्ट होते हैं ॥ २१ ॥

काहारा भारमिच्छन्ति किञ्चिन्नादोलनस्थितिम् ।
कृतांहसो यथा केचित्कर्मभारान्वहन्त्यलम् ॥२२॥

अर्थ—कहार लोग केवल भारको चाहते हैं या भारको जानते हैं, कपकपामें [झूले] रहे हुए कोई पदार्थकी अपेक्षा व परिज्ञान उनको नहीं है। इसी प्रकार इस संसारमें कई सज्जन कर्मार्जन करते हैं, कर्मभारको ही वहन करते हैं ॥ २२ ॥

विशन्त्यह्न्यवटं नक्तं यान्ति खानका यथा ।
पुण्यकालेऽतिविमुखाः पापे केचित्सुखेच्छवः ॥२३॥

अर्थ—जमीन खोदने वाले मनुष्य दिनमें गड्ढा खोदते हुए नीचे जाते हैं परन्तु जब रात हो जाती है तब ऊपर आते हैं उसी तरह कितनेक पुरुष पुण्य करने के समय में पुण्य कृत्य से विमुख होकर

पाप में तत्पर होते हैं, तथा पाप करने में तत्पर होकर उससे सुख प्राप्ति की इच्छा करते हैं। ऐसे विचारोंसे वे इह पर लोक में हितको नष्ट कर के दुःख को ही भोगते रहते हैं ॥२३॥

स्वर्गान्नर, नरात्स्वर्ग क्रमाच्चित्तप परा ।
कचिन्मिथ्यादृशो यान्ति मुहुः शाखामृगा यथा ॥२४॥

अर्थ—कोई २ मिथ्यादृष्टि तपश्चर्याके फलसे स्वर्गसे नरपर्यायको, मनुष्यपर्यायसे स्वर्गको इस प्रकार क्रमसे बार २ जाते आते रहते हैं, जिस प्रकार कि बन्दर वृक्षोंपर एक शाखासे दूसरी शाखापर कूदते रहते है ॥ २४॥

घनध्वनिश्रुतेरेव निर्विषा शिखिनो यथा।
भवन्ति निरघा केचिद्धर्मोत्साहध्वनेस्तथा ॥ २५ ॥

अर्थ—मेघका ध्वनि के सुनते ही जिस प्रकार मयूर निर्विष होते हैं, उसी प्रकार कोई २ पापरहित सज्जन धर्मोत्साह को उत्पन्न करने वाले शब्दको सुनते ही मदकषायी होते हैं ॥२५॥

व्याघ्रध्वनिश्रुतेरेव पलायन्ते यथा मृगाः ।
तथा हिंसाश्रुतेरेव पलायन्तेऽघभीरव ॥ २६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार व्याघ्रके शब्दका सुनते ही मृगगण भाग जाते हैं उसी प्रकार हिंसाविषयको सुनते ही पापभीरु सज्जन भाग जाते हैं ॥ २६ ॥

श्वानश्चन्द्रादय दृष्ट्वा भषन्ते वात्यसूयया ॥
केचित्सज्जन दृष्ट्वा प्रद्विषन्त्यत्यसूयया ॥ २७ ॥

अर्थ—चन्द्रमाके उदय होते ही ईर्षासे कुत्ते भोकने लगते हैं, उसी प्रकार कोई २ सज्जन व धर्मात्माओंसे ईर्षासे द्वेष करते रहते हैं ॥ २७ ॥

कोई परोपदेशमें पंडित होते हैं

परेषां प्रवदन्तोऽपि शुभाशुभफलं सदा ॥
केचित्स्वयं न जानन्ति माणिक्या पक्षिणा यथा ॥२८॥

अर्थ—दूसरों को शुभाशुभ फलको अपने शकुन से कहते हुए भी रतन व पक्षी स्वयं उस शुभाशुभ को नहीं जानते हैं। इसी प्रकार कोई परोपदेश में पंडित रहते हैं ॥ २८ ॥

कोई बैलके तुल्य होते हैं

परस्त्रीसंगमासक्ताः परार्थभृतविग्रहाः ॥
आत्तदेहेन्द्रियसुखाः कचिच्च वृषभा यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—संसार में ऐसे भी कोई मनुष्य हैं जो बैलके समान परस्त्री संगममें आसक्त रहते हैं, दूसरोंकी सेवाम ही सदा तत्पर रहते हैं, अपने देह व इंद्रियके सुखमें ही सदा मग्न रहते हैं ॥ २९ ॥

कोई पिंगलके तुल्य मिष्टवचनी होते हैं

मागच्छताद्य पुरतोऽत्र हि पीडनास्तों-
त्येव ब्रुवन्त इव पिङ्गलपक्षिणाऽत्र ।
मांसाशिनः सुवचसा परिपूजनीया,
मांसाशिनोऽपि कतिचिच्छुभभाषिणः स्युः ॥ ३०॥

अर्थ—पिंगल पक्षी अपने वचनसे कहता है कि आप आज तुम मत आओ, मार्ग में पीडा है। मांसभक्षी होने पर भी उसका वचन शकुनशास्त्रमें ग्राह्य है। इसीप्रकार इस संसार में मांसभक्षी भी कोई मीठे वचन को बोलनेवाले होते हैं ॥ ३० ॥

कोई चिक्रोडतुल्य होते हैं

केचित्स्वकुक्षिभृत्यर्थं लोकेष्टानि फलान्यपि ।
पातयन्तः स्वपुण्यानि चिक्रोडा इव जन्तवः ॥ ३१ ॥

अर्थ—चिक्रोड नामक जो जंतु है वह अपने उदरपूरण के

न्यि लोगोंको इष्ट देखे भी सर्व फलोंको गिराते रहते हैं, उसी प्रकार इस ससार मे कितने ही सज्जन पुण्यका नाश करते है ॥ ३१ ॥

कोई सिंहके तुल्य पाप कमाते है

गजो हत केसरिणात्मनोऽद्य भवेदन्तीव च जम्बुकाद्या ॥
वृथा क्रुधैक महतस्तदर्थानन्ये हरन्त्यात्मन एव पापम् ॥३२॥

अर्थ—सिंह क्रोधसे हाथीको मारता है, परतु उसका मांस शृगाल वगैरे प्राणी भक्षण करते हैं। सिंह गजवधके पापसे लिप्त होता है। इसीप्रकार कोई पुरुष क्रोधसे किसीको मारता है और उस के धनादिक अन्य लोग उठा लेते हैं। हरण करते हैं। मारने वालेको केवल पाप की ही प्राप्ति होती है ॥ ३२ ॥

कोई सकेतादिसे प्रणाम करते है

सङ्केतादङ्गसस्पृष्ट्या बधिराः शयिना यथा।
प्रणमन्ति समझाश्च नमन्ति केचिच्चितथा ॥३३॥

अर्थ—कितने ही बहरे सकेत, अगस्पर्शन आदिसे शयनादि क्रिया करते है। उसीप्रकार इस ससारमें अनेक व्यक्ति सकेतादिसे ही प्रणाम करना आदि क्रिया करते हैं ॥३३॥

कोई बिल्लीके तुल्य हिंसातुर होते है

स्थित्वा ध्यायन्ति मार्जारा मूषाविष्टबिलान्तिके।
एकाग्रचिन्तया केचिद्यथा हिंसातुरास्तथा ॥३४॥

अर्थ—जैसे बिल्ली चूहेके बिलके बाहर बैठकर ध्यान करती है, उसी प्रकार इस ससारमें कोई एकाग्रचित्तासे ध्यान करते हुए हिंसातुर रहते हैं ॥ ३४ ॥

कोई हिंसानंदी होते हैं

मार्जारनकुलव्याला दृश्यान्पश्यन्त्यहर्निशम्।
यथा हिंसानदिजनो व्यनक्ति छुक्कतांहसि ॥३५॥

अर्थ—मार्जार नकुलादि प्राणी जिस प्रकार रात्रिदिन एकमेकको देखकर वैरविरोधको धारण करते हैं या रात्रिदिन हिंसा करनेमें ही आनंदित होते हैं, इसी प्रकार इस संसारमें कोई कोई मनुष्य भी हिंसा करनेमें ही आनंद मानते हैं ॥ ३५ ॥

कोई कूर्मके तुल्य भ्रमण करते हैं

हिंसया दुर्गतिं गत्वा लब्ध्वा हिंसत्यसूंस्तरां ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति कचित्कूर्मो इवाम्भसि ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई हिंसाके फलसे दुर्गतिको जाकर वहां भी पुनः प्राणियोंका वध कर पुनः दुर्गतिमें परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार जलमें कछुवेके समान संसारसागरमें बराबर गोते लगाते फिरते हैं ॥३६॥

पापी उल्लूके तुल्य धर्मको देखते नहीं

प्रकाशद्वेषिणः केचिद्घूका वा खनका इव ।
धर्ममार्गप्रकाशं न पश्यन्ति दुरितान्धकाः ॥ ३७॥

अर्थ—उल्लू व घूम जिस प्रकार प्रकाशसे नफरत करते हैं उसी प्रकार कोई पापीजीव धर्ममार्गके प्रकाशको देखना नहीं चाहते हैं ॥३७॥

कोई चूहेके तुल्य विवेकहीन होते हैं

हिताहितं न जानन्तो वृथा पश्यन्त्यहर्निशम् ।
सद्गुणोच्छेदिना छाया यथा कश्चिद्गुणापहा ॥३८॥

अर्थ—जिस प्रकार चूहे अपने हिताहितको नहीं देखते, तथा उसमें तन्तुओंसे निर्मित वस्त्रादिकोंको नष्ट करते हैं। इसी प्रकार कोई २ गुणको अपहरण करनेवाले पुरुष सद्गुणका नाश करते हैं एवं अपने हिताहितको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कोई कौवेके तुल्य मर्मभेदी होते हैं

पश्वादिव्रणान् दृष्ट्वा खादन्त्यहीव वायसाः ।
केचिन्मर्माणि सर्वेषां सर्वदाद्घाटयन्त्यलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जोंक जानवरके शरीर पर उत्पन्न होकर उसी दोषको ग्रसते हैं, खाते हैं। उसी प्रकार कोई २ और दूसरोंके दुःखों अथवा भी उनके भक्षणको भरते हैं ॥ ३९ ॥

कोई मनुष्योंका नाश करते हैं

कारयन्ति स्वयं पापं कारिताश्चिन्त्य भूपतीन् ।
नाशयन्ति जनान् राज्ये व्याघ्राः लुब्धका यथा ॥ ४० ॥

अर्थ—कोई २ मनुष्य राज्य आगमसे स्वयं पाप करते हैं, एवं दूसरोंसे पाप कराते हैं, जैसे कोई मनुष्य पकड़े हुए चतुर पशु, पक्षीके द्वारा दूसरे पशु, पक्षीको पकड़ते हैं ॥ ४० ॥

कोई तृणके तुल्य होते हैं

वर्षाकाले प्रवर्धन्ते ग्रीष्मे नश्यन्ति च स्वयम् ।
वृष्ट्युत्पन्नतृणानीव केचिज्जीवन्ति सर्वदा ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई घास बरसातमें उत्पन्न होते हैं एवं गरमीमें नष्ट होते हैं, इसी प्रकार कोई २ जीवोंका हाल है। परन्तु कोई २ बरसातमें उत्पन्न हुए घास सदा ही रहते हैं। उसी प्रकार किन्हीं २ जीवोंका परिणाम होता है ॥ ४१ ॥

स्पृष्टा यथा गौः सकलापि भद्रा
स्पृष्टा मात्रमेव भवति तृप्ता ।
तथा स्वामी कल्पना समीक्ष्य
स्पृष्ट्वा तथाह्लादितमानसाः स्युः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अच्छी दूध देनेवाली गायें बछड़ेको स्पर्श करने मात्रसे ही संतुष्ट होती हैं, इसी प्रकार कोई २ अच्छी स्त्रियां अपने पतिको देखकर व स्पर्शकर मात्रसे संतुष्ट होती हैं ॥ ४२ ॥

कोई बलात्कारसे परस्त्री गमन करते हैं

हठाद्दाराश्चितु गाश्च धावन्ति वृषभा यथा ॥
प्रसह्यान्याङ्गनाः काश्चिद्गच्छन्ति मानवाः ॥ ४३ ॥

अर्थ —जिस प्रकार कोई बैल जबर्दस्ती गायके सेवन करने के लिए जाते हैं, उसी प्रकार कितने हा पुरुष परस्त्रियोंके प्रति जबर्दस्ती व आसक्तचित्तसे प्रवृत्ति करते हैं ॥ ४३ ॥

क्षेत्रे कृताकृष्टे प्रवृष्टऽनन्तादयो यथैधन्त ।
पापाशुद्धेन तपसा येनान्तरवानि चाशु वर्धन्ते ॥४४॥

अर्थ —जिस प्रकार उभाड खेत में वर्षाके पडने पर अनेक सस्य विशेष उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार बाह्य अशुद्धि होनेपर तपश्चर्या के करनेसे अंतरंग में पाप की वृद्धि होता है ॥ ४४ ॥

कोई नेत्रोंके तुल्य भोगकी इच्छा करता है

इच्छन्ति भोगान् स्मरणन्ति नित्य
भोगान्तरायेण तपो भवेश्च ।
ध्यायन्ति केचिन्मनुजा यथास्मिन्
कारालये शृङ्खलिता हि चौरा ॥ ४५ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य नित्य ही भोगकी इच्छा करते हैं, स्मरण करते हैं, परन्तु भोगांतरायके उदयसे उसकी प्राप्ति नहीं होती है । भोगोंका प्राप्ति होनेसे वे तप करते हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये । जिस प्रकार कारागृहमें पडा हुआ चोर अपने छुटकारेका ही ध्यान किया करता है, उसी प्रकार उस यतिकी हालत है ॥४५॥

दुष्टोंके लिये उपकार अपकारके लिये होता है

हितं पयो विषायैव सर्पाणामिव जायते ।
येषां चिद्वक्रभावानां स्यात्कृत पुण्यपद्ध्सै ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सर्प का पिलाया हुआ हितकर दूध भी विष ही हुआ करता है, उसी प्रकार कोई कोई दुष्टोंको किया हुआ उपकार भी अपकार के लिए हुआ करता है, पुण्य भी पापके रूप में परिणत होता है ॥ ४६ ॥

कर्म मृद्धर्जितं सर्वं किञ्चिदुद्भवति स्फुटम् ॥
अकृष्टानार्द्रसतृणक्षेत्रेष्वल्पमुप्तबीजवत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—उपार्जित कर्मोंमसे कोई कर्म उदयमें आकर फल देते हैं, सर्व कर्म फल नहीं देते हैं। बोये गए सब बीजोंसे धान्य उत्पन्न नहीं होता है कुछ बीज अंकुरित होकर उन थोडेसे थोडी धान्योत्पत्ति होगी ॥ ४७ ॥

प्रवृद्धपुण्यानि सदात्र केचिद्धरन्ति सार्थानि समीहितानि ॥
प्रवृद्धसस्यानि यथात्र मार्यो हरन्ति सार्थानि समीहितानि॥४८॥

अर्थ—पुण्यसे प्राप्त हुआ धनादिक पापोदयसे नष्ट होता है जैसे उत्पन्न हुआ धान्य धान्यमारी रोगसे नष्ट होता है। अतः प्राप्त हुए भी धनादिक पदार्थोको लोग पापोदयसे भोग नहीं सकते,ऐसा समझकर पुण्य लोग प्राप्तिके ही कार्य हमेशा करना चाहिये ॥ ४८ ॥

केचित्कुर्वन्ति दानस्य विघ्नं विघ्नार्जनक्षमाः ।
शुक्रपश्चिमकार्येद्रचापो वृष्टिहरो यथा ॥ ४९ ॥

अर्थ—किसी किसी का स्वभाव ही यह है कि दान में विघ्न उपस्थित किया जाय, वे अंतराय कर्म का अर्जन करते हैं। जिस प्रकार कि शुक्रग्रह के पश्चिम में रहने वाला इंद्रधनुष नियम से वृष्टि को दूर करता है, उसी प्रकार वह भी दान कार्य नहीं होने देता है ॥ ४९ ॥

सुगंधिरंभोष्णजलेन मृत्युं गतेव केचिद्दुरिते प्रविष्टे ॥
क्षयं प्रयाति क्रमतः सुगंधिरंभापवर्तीव [illegible] तु जैना ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस प्रकार गरम पानीसे सुगंधी केले का वृक्ष नष्ट होता है उसी प्रकार पापप्रविष्ट होनेसे यह व्यक्ति नष्ट होता है। जिस प्रकार उस केलेके वृक्ष की रक्षा करते हैं उसी प्रकार धर्मकी रक्षा करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥ ५० ॥

सैरेय श्वाशित तस्य यथा कुक्षौ न तिष्ठति ।
केषां चेतसि सद्धर्मस्तथा पुण्य न तिष्ठति ॥ ५१ ॥

अर्थ—कुत्तेके द्वारा पीया हुआ घी उस के पेटमें कभी नहीं ठहरता है। उसी प्रकार किसी किसीके हृदय में सद्धर्म तथा पुण्य कभी नहीं ठहरता है ॥ ५१ ॥

वस्त्राकान्तनिशाकान्तिर्लयं याति यथातपे ।
धर्मेच्छा सुकृतं केषां दुस्सगात् क्षीयते क्रमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—वस्त्र में व्याप्त हरिद्रा का रंग धूपमें नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार किसी किसीके धर्म धारण करने की इच्छा व पुण्य नीचसंगतिसे नष्ट होते हैं ॥ ५२ ॥

यथा वह्निमुखे सूत. सद्यो नास्ति प्रसदृक्षाम्।
मिथ्यादृक्सृष्टिवाग्द्रव्यभक्तिभिर्दृगयशस्य ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमुखमें उत्पन्न या रक्खा हुआ पदार्थ तत्क्षण नष्ट होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टियोंको कष्ट पहुचा कर, मिथ्या दृष्टियोंकी उत्पत्ति में प्रेरणा, द्रव्यदान, भक्ति आदिमें मदत पहुचाता है उस के दर्शन व पुण्य शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ५३ ॥

आमकुंभे यथा तोयं सद्यस्तस्य विभेदकृत् ।
हृद्यपक्व न धर्मोऽपि पीतौषधमिव ज्वरे ॥ ५४ ॥

अर्थ—कच्चे घडे में भरा हुआ पानी जिस प्रकार शीघ्र उस का भेदन करता है, उसी प्रकार कच्चे हृदय में स्थित धर्मकी भी हालत होती है। जिस प्रकार यह मनुष्य ज्वरकी हालत में औषध पीता है तो वह ज्वर का भेदन करता है, उसी प्रकार उस धर्म की भी हालत होती है ॥ ५४ ॥

गावः प्रजा पदं ज्ञात्वा कृत्वा बीजं वपन्त्यहो ।
तथा न कृतिनः कुर्युः पुण्यबीजं वपन्ति न ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रजागण योग्य स्थानको जानकर अन्य स्थानसत्कार पर बीजका वपन करते हैं, परंतु खेद है कि सज्जन लोग उस प्रकार योग्य स्थानको जानकर पुण्यबीजका वपन नहीं करते हैं ॥५५॥

जारस्य स्त्रीविवादात्प्रकटयति सदा सत्र जारापतिस्तु ।
मौनीभूत्वाऽऽशये क्षुभ्यति च खलु तयो क्लिश्यते पक्षुवर्गे ॥
सा निश्शङ्का न चैव सुखयति दुरितं चिन्वते कुशलोऽसौ ।
निर्विघ्नास्ता न जीवन्त्यनिशमघकरं पुण्यमाहुर्मुनीन्द्राः ॥५६॥

अर्थ—जार पुरुषका अपने स्त्रीके साथ जब कलह हो जाता है तब उसका अन्य स्त्रीके साथ संबंध है यह बात प्रकट होता है। अथवा वह जार पुरुष मौन धारण कर लेगा तो भी मन उसका क्षुब्ध अर्थात् शंकित होता है। वह जार पुरुष जिस स्त्रीके साथ संबंध रखता है उस के बंधुगण उस के साथ द्वेष करते हैं। यद्यपि जारिणी अपने जारके साथ संभोग करके उस को खुश करती है तो भी उन दोनोंको पाप ही लगता है। कदाचित् बांधवगण न होनेसे वे निर्विघ्न कार्य करते हैं तो भी उनका पूर्वपुण्य पाप के लिए ही कारण होता है ऐसा मुनीश्वर भव्य जीवोंको कहते हैं। तात्पर्य—पुण्योदयसे अकार्य सफल होता है तो भी उस से पाप बंध ही होगा तथा नरकादि दुर्गतियोंकी प्राप्ति होगी ऐसा समझकर अकार्य का त्याग ही करना चाहिए ॥५६॥

पापकर पुण्य

केचिदाखेटितुं गत्वा शून्यहस्ता भवन्त्यहो ।
तेषां पापकरं पुण्यं प्रवदन्ति मुनीश्वराः ॥५७॥

अर्थ—कोई कोई मनुष्य शिकार खेलनेके लिए जाते हैं, वहांपर उनको शिकार न मिलने पर शून्यहस्तसे ही लौटते हैं। परंतु मनमें बड़ दुःखी होते हैं। यद्यपि शिकार न मिलना यह उनका पुण्य ही है, परंतु उससे पुनः दुःखी होना व शिकार खेलनेकी प्रवृत्ति यह सब पापकर हैं, इसलिए यह पापकर पुण्य है, उससे पापार्जन होता है, इस प्रकार मुनिगण कहते हैं ॥५७॥

पुण्यकर पाप

केचिदाखेटितु गत्वा शून्यहस्ता भवन्त्यहो ।
तथा पुण्यकर पाप ब्रुवन्तीह मुनीश्वराः ॥ ५८ ॥

अर्थ—कोई कोई शिकार खेलनेके लिए जाते हैं, शिकार कुछ भी न मिलनेपर शून्य हस्तसे लौटते हैं। परतु मनमें खिन्न नहीं होते हैं। प्रत्युत हर्षित होते हैं कि आज शिकार नहीं मिला सो अच्छा हुआ, मेरे हाथसे होनेवाली हिंसासे मैं बच गया, उन प्राणियोंकी भी रक्षा हुई। यद्यपि उनकी क्रिया पाप है तथापि परिणामत पुण्यकर है ॥

जारत्वादिकृतिस्तन्योर्बाधा बहुविधा भवेत् ।
तेषा पुण्यकर पाप कर्मरूपविदो विदुः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जारत्वादिदुष्कृतियों को करके जो व्यक्ति उन कृतियों से होनेवाली बाधाओंको विचार कर पश्चात्ताप करते हैं। एव उन पापोंको छोडते हैं तो उनका पाप पुण्यकर है, ऐसा कर्मस्वरूपको जानने वाले महर्षि कहते हैं ॥ ५९ ॥

पापकर पुण्य

विना राजादिबाधा यज्जारस्यावति जारताम् ।
तस्य पापकर पुण्य कर्मस्वविदा विदु ॥ ६० ॥

अर्थ—जो व्यक्ति राजादिकी बाधासे दूसरे जारव्यक्ति की जारता की सरक्षण करता है अर्थात् उस जारपुरुषको कोई कष्ट नहीं होने देता है, वह पापकर पुण्य है, इस प्रकार महर्षिगण कहते हैं ॥ ६० ॥

क्रुद्धाऽप्यवाटाचकितोऽपि यो जनो दष्ट्रा विद्धर्षाश्रपयसमाशु ।
तथा पिपासुर्भुवि वर्तते यथाप्यलर्क आत्रढगलो दिदक्षुकः ॥

अर्थ—जो मनुष्य निद्रासे भययुक्त होता है तथा क्रुद्ध होता है तब वह अपनी दाढें खटखटाता है, अपना मुख फाडता है। उस

समय यह दश करनेके लिए उद्युक्त होकर जिसने अपना मुख फाडा है ऐसे पागल कुत्तेके समान दिखता है ॥ ६१ ॥

झञ्झावात जात पतित फरकावय रसालानाम्।
प्रपतन्ति फलानि यथा कचिच्च महान्तरायपवन्तः स्युः ॥६२॥

अर्थ—विशिष्ट आंधीके चलनेपर जिस प्रकार वृक्षसे आम्रफलादि पतित होते हैं उसी प्रकार कोई २ सज्जनोंको अकस्मात् कर्मवश महा अंतराय उपस्थित होता है ॥ ६२ ॥

स्वामिद्रोही योऽर्हदर्थापहर्ता दातुः शक्तिं योऽप्यविज्ञाय भोक्ता।
भाज भाज तद्गृहस्यापकर्ता सोऽय क्षिप्रं याति पापं दरिद्रम्॥६३॥

अर्थ—जो व्यक्ति स्वामिद्रोही है, देवद्रव्यको अपहरण करनेवाला है, दाताकी शक्तिको न जानकर ही उससे लाभ उठाना चाहता है, किसी घरमें रोज रोज जाकर भी उसको अपकार करता है, वह व्यक्ति शीघ्र ही तीव्रपापका संचय करता है। एवं उसके फलसे दरिद्रताको प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

जारान् ये तर्पयन्त्यर्थैस्तथा जन्मान्तरेऽन्न च।
सर्वे स्वगोचराः स्त्रीस्ता वश्याः स्युः स्वाङ्गना इव ॥ ६४ ॥

अर्थ—जार पुरुषको धन देकर जो खुश करते हैं उनकी स्त्रियां इस जन्म में तथा परजन्म में माता जार पुरुष की ही स्त्रियां हैं इस प्रकार उनके वश होती हैं। अर्थात् जार पुरुषको दान देना उसका आदर करना वगैरह कार्य करने से अपने वंशकी शुद्धि नष्ट होती है अतः जारादिक दुराचारियोंको दानादिक नहीं देना चाहिये ॥६४॥

तरण्डमापूरितसर्वमानवं नदीतटं तारयति प्रकुप्यति।
तदन्तरस्थानिह सर्वमानवान् शपत्यमी तिष्ठ यथा स मौनिनः ॥

अर्थ—जिस में लोक बैठे हैं ऐसी नावको नाविक नदीके किनारे लगाता है। परन्तु उसको यदि लोग गाली देकर कुपित करेंगे तो वह

समस्त लोगोंको नदीमें डुबा देगा । उसी तरह दान देनेवाले को उस के कार्य की प्रशंसा कर दानमें प्रवृत्त करना चाहिए । एसा करने से धर्मप्रभावना होगी अन्यथा धर्म का विनाश होगा । योग्य दान देने वाले की प्रशंसा करो अथवा मौन धारण करो परंतु उसकी निंदा करने से धर्मका नाश करनेका अकार्य होता है, ऐसा समझकर एसे कार्य से सदैव दूर रहो ॥६५॥

अस्मिन् गार्धरिका वसन्ति नगरे वीथीषु मुष्टिंधर्मैः ।
पुण्यं वस्तुचयं हरन्ति च यथा मुष्टिपुराणश्रुतं ॥
दत्तं यो नृपवरफलं वरवरो बध्नाति दुष्टं यथा ।
ह्रीं नार्यौ वसतं शुभाशुभकरौ त्वाकं यथार्थोऽसि ? ॥६६॥

अर्थ—कतरनी वगैरे चोरोंके साधन लेकर राजाने स्वतः अपने कोषागारमें चोरी की थी । तब कोतवालने शोध करके राजा ही चोर है ऐसा निश्चय कर उस को पकड लिया, उस समय प्रजाने कोतवालकी बहुत प्रशंसा की । उसी तरह धनादिक वस्तुओंको हम यदि सत्पात्रादि दानमें लगायेंगे तो हम कोतवाल के समान पुण्यफल—स्वर्गादिक फल मिलेगा, हमारी इह लोकमें कीर्ति होगी और यदि हम हमारे धनादिकों को असत्कार्य में विनियुक्त करेंगे तो स्वयं ही दृष्टांतमें प्रदर्शित किये राजाके समान दंडित होंगे अर्थात् नरक दुर्गतिदुःख भोगेंगे । ऐसा समझकर सत्पात्रादिक को दान देना चाहिए ॥६६॥

सदा विकलदुःपरिग्रहबहुग्रहैः पीडितम् ।
मनोऽनिमरुदुच्चलत्सरित्तरंगवीचिवत्स्पन्दत ॥
मनेन [ग] जलम यकाम्पितसर्णांगवत्स्पन्दने ।
ज्वलज्ज्वलनपात्रसंकथितवारिवत्क्षुभ्यन ॥ ६७ ॥

अर्थ—मन परिग्रहसे रहित होने पर भी वायुसे ऊपर उठी हुई जलतरंगके समान सदैव चंचल व शोकमग्न रहता है । यदि दुष्ट

परिग्रह हो तो मनुष्योंका मन वेगयुक्त जलके बीच में रहे हुए तृण के समान बार २ चचल होता है। और यदि परिग्रहसमह अत्यधिक होगया तो उस स अग्नि की ज्वालासे सतप्त पात्र में स्थित उबलते हुए पानीके समान मनकी स्थिति होती है। अत सत्पात्रमें दान देने से ही मन शान्ति होता है ऐसा समझकर दान कार्य में मन को लगाना चाहिए ॥ ६७ ॥

> न विघ्ना सन्ति न कषांचित्पापिनां पापमूर्तये ॥
> न विघ्ना सन्ति केषांचित्कृतिनां पुण्यमूर्तये ॥ ६८ ॥

अर्थ—लोकमें विघ्न अतराय किसे नहीं है ? अपितु अवश्य है, परतु पुण्यशालियोंको अपने पुण्यमूर्तिके प्रभाव से विघ्न नहीं होते हैं व आनेपर भी दूर होते हैं ॥ ६८ ॥

दर्शनचारित्ररहित ज्ञान

> निरस्तभेषज्यवद्वृष्टिमन्द इवादृश ॥
> ज्ञान कृषिकवत्तस्य जीवित निष्फल भवेत् ॥६९॥
> दृष्टिवृत्तविहीनस्य पर ज्ञानमभाविन. ।
> जीवित निष्फल तस्य निरर्थ क्षेत्रवृष्टिवत् ॥७०॥

अर्थ—चारित्र व दर्शनसे रहित ज्ञान व्यर्थ है, जिस प्रकार किसानको खेतीका ज्ञान होनेपर भी यदि उसने बीज नहीं बोया तो वह निष्फल है। बोया तो भी वृष्टि आदिकी अनुकूलता नहीं मिली तो उसका ज्ञान निष्फल है। उसी प्रकार दर्शन व चारित्र रहित विशिष्टज्ञानको धारण करनेवाले प्रमादी व्यक्तिका भी जीवन निष्फल है। अत ज्ञानार्जनके साथ श्रद्धा मनमें दृढता व चारित्रके पालनके लिए भी प्रयत्न करना चाहिये६९ ७०

गुरुओंकी अनुमतिके विना चारित्रपालननिषेध

> आमजनयत्यनुज्ञां विना नरा कुर्वतेऽत्र यत्कार्यम् ।
> हानि स्यात्तेन यथा गुर्वनुमतिमन्तरेण यद्वृत्तम् ॥७१॥

अर्थ–जिस प्रकार लोकमें ग्रामपति व जनपतिका अनुमतिके लिये विना कोई कार्य करें तो उसका हानि होती है। उसी प्रकार गुरुओंकी अनुमतिके विना जो चारित्रको पालन करते हैं उनका हानि होती है। अर्थात् व्रतग्रहणादिक गुरुसाक्षीपूर्वक ही होना चाहिये ॥ ७१ ॥

यद्यत्कार्यमिम जना नृपजनानुज्ञां विना कुर्वते ॥
नाश यान्ति फल लभते न यथा तत्तेन जीवा गुरो ॥
सानुज्ञां च विना स्वयं व्रतमिता धर्मतर वर्तन ।
सम्यग्धर्मफल प्रयान्ति न विना तीर्थेशमन्येन च ॥७२॥

अर्थ—लोकमें देखा जाता है कि मनुष्य जो कार्य राजकीय पर वानगीके विना ही करते हैं, उसमे उनकी हानि होती है, एव उस कार्य से उन को भी फल नहीं मिलता है। इसी प्रकार हे जीव! जो व्यक्ति गुरुओंकी अनुमति व उपदेश आदिके विना स्वतः ही व्रत ग्रहण करते हैं उनका हानि होती हैं, वे धर्म बाह्यवर्तन भी कर सकते हैं। एव उनको यथेष्ट फल नहीं मिल सकता है। क्यों कि तीर्थंकर परमेष्ठियोंके द्वारा प्रतिपादित मार्गपर गये विना धर्मका समीचीन फल नहीं मिल सकता है ॥ ७२ ॥

व्यय अर्थ

स्यात्स्वेशार्था न धर्माय न भोगाय मनागपि ॥
यस्य तज्जीवन व्यर्थं यथा बालेयजीवनम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंका धन धर्मसाधन में और भोग में तिल मात्र भी उपयुक्त नहीं होता है, उनका जीवन गधेके जीवनके समान व्यर्थ है। ऐसा समझकर अपने धनका सत्कार्यमें उपयोग करो। अन्यथा गधेमें और तुममें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा ॥ ७३ ॥

नेह चौराद्वृते लोके तत्रस्थे जाग्रति स्वयम् ।
मुक्त्वा [illegible] न भ्रातृनाश्रयत्ययम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—घर पर जिस समय चोर आवें उस समय घरवाले जगते हों तो वे चोर भाग जाते हैं, चोरी नहीं करते, इसी प्रकार जिसके जो मनुष्य जागृत है उसे पापरूपी चोर स्पर्श नहीं करता है ॥७४॥

ये कुर्वन्ति बलिं सुताय सततं तेराश्रयन्ति ग्रहा-।
स्तत्र मत्कोटकमक्षिकाश्च चटका देशे च काका इव ॥
ते गौरवमकृदान्यथामलिना दातृनिमे याचका ।
नि शङ्क सुदृश च दीनमिति स मत्वा विमुञ्चन्ति ते ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो पुत्रप्राप्ति के लिए बलि देते हैं । तथा ग्रहोंका जप पूजनादिक कार्य करते हैं । ऐसे लोगोंका याचकजन आश्रय करते हैं । जैसे गुडका मत्कोटक, मक्षिका वगैरह प्राणी आश्रय करते हैं । परंतु जो पुत्रप्राप्ति के लिए बलि देना, ग्रहपूजन इत्यादिक कार्य नहीं करते हैं जो निःशंक और सम्यग्दृष्टि हैं, उनका याचक लोग आश्रय नहीं करते हैं । ऐसे पुरुषोंको दीन समझकर याचक त्याग करते हैं ॥७५॥

येऽन्यद्विप सुतप्रीता जीवन्ति स्वपरिग्रहे ।
तेषां न भूतिर्न मनःस्वास्थ्य रोगादिभिर्वृथा ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो अपने पुत्रोंके प्रति प्रीति करते हुए, दूसरोंसे द्वेष करते हैं, सदा अपने परिग्रहोंको ही संरक्षण करना चाहते हैं, उन की संपत्ति व्यर्थ है, उनका मन भी मलिन है । स्वास्थ्य भी रोगादि से संयुक्त होता है अर्थात् वे सदा अस्वस्थ रहते हैं ॥ ७६ ॥

दत्तेयमुक्तवचनं निशाम्य तद्द्वारमाश्रित्य चिरं वसति ।
दैन्यं कृतं भूरि यथेतदर्थी त्यक्तो न मोचाश्रितकीरवारा ॥७७॥

अर्थ—अमुक दाता दान देता है ऐसा वचन सुनने पर याचक उस के द्वारका आश्रय लेकर दीर्घ कालतक याचना करते रहते हैं । और जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए याचना करते हैं वह वस्तु नहीं

मिली तो फेलेके फल का आश्रय छोड देनेवाले कीर्कें समान दाताको छोड देते हैं ॥ ७७ ॥

ना लज्जा नाभिमानो न पटुतरमतिर्नो विवेको न बंधु—।
र्नो मित्र नाभिजातिर्न च सुकृतबल न व्रत धर्मधीर्न ॥
ना देवो ना गुरुर्नो पतिरिह पितरौ ना वधूर्नो वचोर्थो ।
नापद्द्रव्यार्जन यो ग्रहिल इव स तस्यांगजग्रस्तचित्त. ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो याचक जन हैं उनको न लज्जा है, न अभिमान है, न तीक्ष्णतर बुद्धि है, न विवेक है, बंधु भी नहीं है, मित्र भी नहीं है, कुलीनता नहीं है, पुण्य नहीं, व्रत नहीं, धर्मबुद्धि नहीं, देव नहीं, गुरु नहीं, पति, मातापिता, स्त्री वगैरे कोई भी नहीं है । वह काम वदना से पीडित चित्तवाले के समान रहता है ॥ ७८ ॥

साधवो दोषमायान्ति खलसगात्प्रभूतकम् ।
शुद्धान्तो दोषमायानि जारैकसहवासत. ॥ ७९ ॥

अर्थ—दुष्टोंके सगसे सज्जन भी दोषको प्राप्त होते हैं। जारोंके सहवासते शुद्ध अत पुरस्त्रियां भी दोष को प्राप्त होती हैं ॥ ७९ ॥

का वा स्त्रियो वल्लभ एव धीमान्यो गाढसग कुरुते स एव ॥
रूप न वृत्त न कुल न जाति शाकस्य चाण्डिडष्टमिवासमीक्षन् ॥

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीको दृढसभोग से तृप्त करता है, उसी के ऊपर वह प्रेम करता है। वही उसका वल्लभ है। स्त्रिया रूप, चारित्र कुल तथा जातीका विचार नहीं करती है। जैसे कोई दीन पुरुष झूठे शाकका विचार नहीं करता हुआ उसको लेता है। उसी तरह अयोग्य स्त्रिया अयोग्य पुरुषको भी अपना वल्लभ समझती है ॥ ८० ॥

दैव लौकिक उत्साहौ ये विघ्न कुर्वते यदि ॥
दशगेहे वरक्षोभो मृत्युर्वा सर्वथा भवेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दैव कार्यमें व लौकिक कार्यमें विघ्न उपस्थित

करता है, उसके फलसे देशमें, घर पर क्षोभ उत्पन्न होता है, कदा चित् मरण भी होता है ॥ ८१ ॥

बद्धगाध्योऽन्यरन्ध्रेण पुळक्ष्य स्याम च कचित् ॥
महादोषान्वितो जीवः पुण्यलक्ष्म विमुञ्चति ॥ ८२ ॥

अर्थ —जो जीव मनुष्य हमेशा दुसरोंके दोष देखने में तत्पर रहता है, उसको पुण्यका चिह्न प्राप्त नहीं होगा अर्थात् वह प्रति जन्म में स्त्री तथा नपुंसक अवस्थाको प्राप्त होगा । स्वयं बहुत दोषी होने से पवित्र चिह्न उस को छोड देते हैं ॥ ८२ ॥

देवस्थानपुरंशत्व वंशपुण्यादिमर्दनम् ।
पापापकीर्तिप्रभृतिदुर्गुणव्रजवर्धनम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—देवस्थानद्रोह, राजद्रोह, वंशकी पुण्यहानि, पाप, अप कीर्ति, आदि दुर्गुणों की वृद्धि को मनुष्य कभी न करे ॥ ८३ ॥

देवस्थानग्रामपद्माधिपत्यं नो सत्पुण्यस्यास्ति सन्मुक्तिरन्ये ।
नो चेत्तस्या द्वित्रिवर्षान्तरेषु स्वस्यापि स्थानत्रयस्यापि नाशः॥८४॥

अर्थ—पुण्यहीन प्राणीको देवस्थानाधिपत्य, ग्रामाधिपत्य आदि प्राप्त नहीं हो सकते हैं । हो तो भी दूसरे उसे छुडायेंगे, यदि नहीं छुडावें तो दो तीन वर्षोंमें अपना व अपने स्थानत्रयका नाश होता है॥

सद्दृष्टिसत्कारमहं करोमीत्युक्त्वा पुनस्तं न करोत्युदास्ते ।
यः सोऽप्यवृद्धेर्बहुमूलहाने छिनत्ति चात्मीयधनानि दत्वा ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीवोंका सत्कार मैं करूंगा, इस प्रकार वचन देकर जो उपेक्षा करता है, उसके धनका नाश होता है, वृद्धि नहीं होता है, धन को देकर भी वह दुःख उठाता है ॥ ८५ ॥

क्षेत्राणि सप्त कृतिनो भुवि न स्पृशन्ति ।
तेषां च सूतकिजना न विशन्ति गेहम् ॥

शूद्रो गृहं स्पृशति सविशति सदोषो ।
दोषा भवेयुरनिशं विविधं सपः स्यात् ॥८६॥

अर्थ—जो धनिक लोग सप्त क्षेत्रों में दान देते नहीं, उनके गहको इतना अपवित्र समझना चाहिए कि सूतकी लोग भी उनके घर में प्रवेश करने से अधिक अपवित्र होंगे। ऐसे धनिकोंके घर में यदि शूद्र प्रवेश करे तो अधिक ही दोष प्रविष्ट होते हैं और वे धनिकोंके घर नष्ट होते हैं ॥ ८६ ॥

ये सूतकिजनाश्च स्युः कृतिनो न स्पृशति ते ।
कुलीना अपि जायन्ते सद्वृत्ता शीलशालिन ॥ ८७ ॥

– अर्थ—जो सूतका जन पुण्यक्षेत्रका स्पर्श नहीं करते वे सज्जन कुलीन, सच्चारित्र, शीलवान् होते हैं ॥ ८७ ॥

पूजाके नामसे द्रव्यापहरणका दोष

जिनपूजार्थमाहृत्य निष्फलो यत्कृतोद्यम ।
अस्पृष्ट्वा जिनपूजार्थमिष्टार्थं स्यात्कृतोद्यम' ॥ ८८ ॥

अर्थ— जिनपूजाके नामसे जो दूसरोंके द्रव्यको अपहरण करनेके लिए प्रयत्न करता है उससे कोई अच्छा फल नहीं मिल सकता है। अच्छे भावसे यदि जिनपूजाके लिए प्रयत्न करके जिनपूजा न कर सके तो भी श्रावक इष्टार्थ को प्राप्त करता है ॥ ८८ ॥

पुण्यायुर्वा विपाहार परश्वधयतीव भो ।
धर्मार्थं कृतिनां सद्यो दण्ड क्लेश करोति स' ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिनका आयुष्य दानादि कृत्योंके करनेसे पवित्र होगया है ऐसे धनिक लोग, यदि धर्मके लिए जिसका उपयोग करना है ऐसे धनका उपयोग स्वार्थके लिए करेंगे तो उनका वह अपूर्व कुल्हाडीके समान उनका नाश करेगा। अर्थात् देवद्रव्य खानेसे नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है ॥ ८९ ॥

स्वाम्यादिद्रव्यापहरणफल

वंचना स्वामिदेवार्थ पित्राद्यर्थे करोति य ।
सोऽसाध्यक्षयरोगीव क्रमान्मुंचति जीवनम् ॥ ९० ॥

अर्थ—स्वामिद्रव्य, देवद्रव्य, पितृद्रव्य आदि में जो ठगता है वह असाध्य क्षयरोगी के समान कष्ट भोगकर क्रमसे जीवनको छोडता है अर्थात् मरता है ॥ ९० ॥

पात्रके बहानेसे द्रव्यापहरणफल

यः परद्रव्यमाहृत्य पात्रव्याजाच्च जीवति ।
इहामुत्र स जीव स्याद्विष्टिकारो यथा जन ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो पात्रके बहानेसे दूसरोंके द्रव्यको अपहरण कर जीता है, वह इहलोक व परलोक में एक मजूरके समान दुःखी जीवनको व्यतीत करता है ॥ ९१ ॥

पुण्यवान् को पापकर्म आश्रय नहीं करते हैं

शुचित्वत सर्वशुभोदय स्यादलिष्टकर्माणि न चाश्रयति ॥
सुगंधिगेहे न विशति कीटास्तत कृतिज्ञा शुचितां लभेरन् ॥

अर्थ—परिणामकी विशुद्धि से पुण्यकर्मका उदय होता है जिससे कि अशुभकर्म उस मनुष्य का आश्रय नहीं करते हैं । जिस प्रकार कि सुगंधि (औषधविशेष, धर्मात्मा) के घर में कोई कीटक व रोगादिक प्रवेश नहीं करते । इसलिए कृतज्ञ पुरुषोंको परिणाम में निर्मलताको प्राप्त करना चाहिए ॥ ९२ ॥

अशुभपरिणामसे पापास्रव

अशुचित्व करोत्येवाशुभकर्मास्रव सदा ।
दुर्गंधिमंदिर कीटा प्रविशंति यथा तथा ॥ ९३ ॥

अर्थ—परिणाम की अशुभता सदा अशुभ कर्मास्रवको करती है ।

जिस प्रकार कि दुर्गंधयुक्त घर आदि में कीडे आदि प्रवेश करते हैं उसी प्रकार अशुभपरिणामसे अशुभ कर्म आते हैं ॥ ९३ ॥

जैनमुनियोंके समाधिभंगफल

जिनमुनिसमाधिसमये चित्तनिरोधं करोति यस्तस्य ।
गेहपुरदेशनाशः स्वस्थानोच्चाटनं भवेन्नियमात् ॥ ९४ ॥

अर्थ—जैन मुनियोंकी समाधिके समय में जो व्यक्ति उनके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करता है, उसका घर, नगर, देश आदिका नाश होता है, इतना ही नहीं अपने स्थानका उच्चाटन होता है ॥ ९४ ॥

पापभीरु गुरुजनोंके आसनपर नहीं बैठते

आसने यत्र तिष्ठन्ति राजानो गुरवो बुधाः ॥
तत्र तत्रासने जैना न वसन्त्यघभीरवः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जिस आसनपर राजा, गुरु व विद्वान् विराजमान होते हैं, उस आसन पर पापभीरु जैन कभी नहीं बैठते हैं ॥ ९५ ॥

विदुषा गुरुणा राज्ञा साकमेकासनं बुधाः ।
तत्तुल्यधर्मरहिता न तिष्ठेयुः कदाचन ॥ ९६ ॥

अर्थ—विद्वान, गुरु, व राजाके आसनपर उनके समान गुणोंसे विरहित सामान्यजनोंको कभी न बैठना चाहिए ॥ ९६ ॥

सज्जन पापकार्यको त्याग दें

त्यजत्वाऽस्तेऽन्नमजीर्णे वा सन्निपाते च कामिनीम् ॥
कृतीव पापकृत्यानि कषायानिव पुण्यवान् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अजीर्ण होनेपर अन्नका, सन्निपात होनेपर स्त्रीका, पुण्यवान् व्यक्ति कषायोंका त्याग करता है उसी प्रकार सज्जनोंका पापकार्योंका त्याग करना चाहिए ॥ ९७ ॥

तपश्चरणसे सुख

नानंक्षणसन्निभकमननेवाऽऽगं ? विनाऽत्यर्थंहि— ।
ग्रन्थं सर्वमिमं विहाय तपसि क्षान्तः कषायोज्झितः ।
यो वर्तेत मुनिः स चापरिमितं कालं प्रयासं विना ।
स्वर्ग सौख्यकरं सुखं त्वनुभवेद्वृद्धैन कुर्यात्तपः ॥ ९८ ॥

अर्थ —अत्यंत चंचल, नश्वर इस अंतरंग व बहिरंग परिग्रहको त्याग कर जो व्यक्ति उत्तमक्षमादिगुणोंको धारणकर, कषायोंका परित्याग कर तपश्चर्यामें लीन रहता है । वह मुनि अपरिमितकाल पर्यंत स्वर्गीयसुखका अनुभव करता है । इस प्रकार जानकर शुद्ध अंतःकरणसे तपश्चर्या करनी चाहिए ॥ ९८ ॥

उक्तं च—क्षणिकनिभमेकमन्यनि विनाशमेवाखिलं ।
परिग्रहमिमं विहाय करणत्रयान्निर्मले ॥
स्वसत्तपसि वर्ततेऽपरिमितं च कालं सुखं ।
सदानुभवितुं भवेदिह विना प्रयासं स्वयः ॥ ९९ ॥

अर्थ—कहा भी है, क्षणभर भी जिसका भरोसा नहीं है, ऐसे परिग्रहको त्यागकर मन वचन कायकी विशुद्धि से जो तपश्चर्या करता है वह अपरिमित कालतक सुखको विना श्रमके ही अनुभव करता है अर्थात् मोक्षठ,माका पाता है ॥९९॥

आचरणके अनुसार फल

मत्वा जैनजनान्विशारदजनान् दत्वा च तेभ्यो धनं ।
विस्मृत्यात्मगुणांश्च चनसि च तद्दोषान् स्मरन्तो जनाः ॥
शसन्तीह पुरा नमन्ति चरमे काले च पापादया— ।
द्रष्टोऽयं भुवि पातका नट इमानचन्ति निंदन्ति च ॥१०० ॥

अर्थ—जो भव्यजीव जैन विद्वान लोगोंका सन्मान करके धन देते

है, परन्तु उनके गुणोंको भूलकर उनके दोषोंका स्मरण करते रहते हैं। तथा उनको प्रत्यक्षमें नमस्कार कर परोक्षमें उनकी निंदा करते हैं—ऐसे लोगोंको जो कर्मबंध होता है उसका उदय होनेपर वे भी प्रत्यक्षमें पूज्य होते हैं परन्तु परोक्षनिंदाके पात्र बनते हैं। अर्थात् उनकी प्रत्यक्ष तो स्तुति होती है परन्तु परोक्षमें लोग उनकी बुराई करते हैं। जैसा जो आचरण करेगा वैसा फल मिलता है, यह इस श्लोकका अभिप्राय समझना चाहिये ॥ १०० ॥

स्वक्षेत्रको छोडनेवाला पापी है

स्वकीयसुक्षेत्रयुगं विहाय दु क्षेत्रयुग्मेऽपि च वर्तते य ।
इहाप्यमुत्रात्महितं सुखं (ख) न लभेत धर्मं स च पापवान् भवेत् ॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सच्चे देव गुरुवोंके क्षेत्रको छोडकर दूसरोंके मिथ्याक्षेत्रों में प्रवृत्ति करते हैं वे इहपरम सुखको प्राप्त नहीं कर सकते, उनके हाथसे धर्माचरण भी नहीं हो सक्ता है, वह पापी है ॥ १०१ ॥

मातापितादिकोंकी निंदाका फल

मातापित्रोरुदास्ते यो धर्मे संघे जिने गुरौ ।
सोऽरिभिः स्वैः परैर्नित्यं भवद्वध्यो भवे भवे ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो माता, पिता, धर्म, संघ, जिनदेव व गुरु आदिकी अवहेलना या उपेक्षा करता है, वह भवभवमें शत्रुओंके द्वारा मारा जाता है। और सदा कष्टका अनुभव करता है ॥ १०२ ॥

स्वद्रव्यको छोडकर परद्रव्यका अपहरण न करें

यत्पापागमने यदर्जितमिदं हस्तागतं स्वं धनं ।
सर्वं नश्यति तत्क्षणं परधनं राज्ञाहृतं सर्वदा ॥
सर्वे ते बुध वंचयन्ति च परं छिंदन्ति चित्तं भवान् ।
क्लेशं मा कुरु मा स्पृशान्यधनमात्मद्रव्यतो भीव भो। ॥

अर्थ—जिस समय पापका उदय होता है, उस समय मनुष्यके द्वारा अर्जित व अपने पासमें स्थित धनका नाश होता है। सर्व मनुष्य उसे ठगनेका प्रयत्न करते हैं। जिसका धन नष्ट होता है वह मनमें दुःखी होता है। ऐसे जीवोंको आचार्य उपदेश देते हैं कि भो भोले भाले जीव! अपने मनमें दुःखी मत होवो, अपने द्रव्यसे भिन्न दूसरोंके धनको स्पर्श मत करो। क्यों कि तुम्हारे धन के नष्ट होने का कारण ही यह है कि तुमने पूर्वमें परद्रव्यका अपहरण किया है अतः पुनः उस पापको मत करो ॥ १०३ ॥

देवद्रव्यापहरणनिषेध

येन द्रव्यमिहाहृतं जिनपतेस्तस्यापि हस्तागत ॥
दायं दायमि (म) येत् पुरो न लभते मायां भवत्स्थापितम् ॥
निर्द्रव्यात्कुरुते धनव्ययकरान्कृष्यादिकानुद्यमा- ।
स्तत्र श्रीमति चेद्विरिक्त इव चास्पृश्वाऽर्हत जीव भो ॥१०४॥

अर्थ—जिसने देवद्रव्यका अपहरण किया, उसके हाथमें आया हुआ धन भी नष्ट होता है, आगे नहीं मिलता है, कहीं गाढकर रक्खे तो वह भी नहीं मिलता है, अदृश्य होता है। निर्धनी होनेसे वह खेती आदि उद्योगको करता है। तथापि धनके बिना उसमें भी कोई उपयोग नहीं होता है। अतएव हे जीव! देवद्रव्यका स्पर्श मत कर ॥ १०४ ॥

देवद्रव्यादिसे ईर्ष्या नहीं करें

मनोवपुर्वाग्गृहवर्मविचारविरोधमर्षा सुदृगादिकानां ॥
करोति यस्तस्य जिनार्थकेर्ष्या नैस्व मृतिर्वाऽघविवृद्धिरेव ॥

अर्थ—जो व्यक्ति मन, वचन, काय व अपनी प्रवृत्तिसे सम्यग्दृष्टि सार्धर्मि सज्जनोंका विरोध करता है एवं देवद्रव्यसे ईर्ष्या करता है, उससे उसकी हानि होती है। पापकी वृद्धि होती है, विशेष क्या? कदाचित् मरण भी होता है ॥ १०५ ॥

देवद्रव्यापहरणका प्रत्यक्षफल

देवाद्यन्यधनाहृते परपुरे मृत्युं गताक्रंदनात् ।
स्वावासे शपनाद्विवादकरणादुल्लंघ्य शक्तिं निजाम् ॥
वृत्तं पापचरित्रतः परिणताद्क्रोधात्कषायोग्रतो ।
मित्रद्रोहमुखात्स्वपुण्यकुलसद्धार्यायुरादिक्षयः ॥ १०६ ॥

अर्थ—देवद्रव्यादि परद्रव्यके अपहरण करनेसे देखा गया है कि दूसरे स्थानमें ही उसका मरण होता है, उसके घरपर रोते ही रहते हैं। दूसरोंको गाली देना, दूसरोंके साथ झगडा करना, अपनी शक्तिका उल्लंघन कर वृत्ति रखना, पापाचरणमें मग्न होना, कषायकी उग्रताको धारण करना, मित्रद्रोह करना आदि बातोंसे पुण्य, कुल, सद्भार्या व आयु आदिका क्षय होता है ॥ १०६ ॥

हिंसां मा कुरु माऽनृतं वद चुरां मुञ्चाङ्गनां मा स्पृश ॥
कांक्षां मा कुरु जैनमार्गनिजसप्तक्षेत्रभुक्तिं कुरु ।
दुष्टे स्वामिनि सेवके शपति च क्रुध्यत्यलं जाव भो ।
मौनीभूय निवर्त्य गच्छति यथा पुण्याय शिष्टः क्षमी ॥१०७॥

अर्थ—हे जीव ! हिंसा मतकर, झूठ मत बोलो, चोरी नहीं करो, स्त्रियोंको स्पर्श मत कर, परिग्रहकी अभिलाषाका परित्याग कर, जैन मार्ग से अपने सप्तक्षेत्रोंका अनुभव कर। जिस प्रकार दुष्ट स्वामी होने पर सेवकके ऊपर अत्यधिक क्रोधित होता है, गाली देता है, परंतु शिष्ट सेवक पुण्य के लिए क्षमा धारण कर मौनसे जाता है, इसी प्रकार कर्मके परतंत्रता से तुम्हारे लिए कष्ट होनेपर भी कषायादिक न होकर उदासीनसे अनुभव करो। तुम्हारा भला होगा ॥ १०७ ॥

संसार दुःखभीरूणां केषामस्ति विराधनम् ।
यद्भेदमधिगम्याह सद्बुद्धीस्त्यागमोक्तितः ॥ १०८ ॥

अर्थ—कोई २ धर्म, धन, धान्य, गाय, क्षेत्र गाजे बाजे आदिको प्रदान कर अपने नगरमें आये हुए साधर्मी भाईयोंका स्वागत करते हैं। [यह स्तुत्य है] ॥ ११६ ॥

यावत्सूतकममस्ति तावदपि सच्छुद्धिर्जनानां विधि- ।
जैनानामिह दुमृतौ सुखमृतौ सा स्याद्यथाशक्ति च ।
मुख्यानां गुरुभूपधार्मिकसतां शुद्धिर्जिनार्चादिभिः
कार्या शासनवत्सलैरिव जनैर्भूपाय दत्तं धनम् ॥११७॥

अर्थ—लोक व शास्त्रकी विधि है कि जिस प्रकार का सूतक है उस प्रकारका शुद्धिविधान भी होना चाहिये । किसीका मरण दुर्मरण होता है, किसीका मरण सुखसमाधिपूर्वक होता है । इन सब बातोंको जानकर यथाशक्ति शुद्धि करनी चाहिये । मुख्य गुरु राजा व धार्मिक जनोंकी शुद्धि जिनपूजादिकोंसे होनी चाहिये । जिस प्रकार राजाके लिए धन दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसे समय धर्मवात्सल्योंके द्वारा शुद्धिविधानका होना आवश्यक है ॥ ११७ ॥

मुनिसत्साधुराट्सद्दृग्व्रतिकादिजनस्य च ।
धर्मोद्धारकरस्यापि दुमृतौ सन्मृतावपि ॥ ११८ ॥
जिनभक्ताश्च यावन्तस्तावन्तं मुख्या सदा ।
तद्दोषोपशमायैव शुद्धिमिच्छन्ति सर्वथा ॥ ११९ ॥

पाठान्तर युग्मम् ।

अर्थ —मुनि, आचार्य, सम्यग्दृष्टि, व्रतिक व धर्मोद्धारक आदि के दुर्मरण वा सन्मरण होनेपर जितने जिनभक्त हैं वे सर्व समानरूप से उस दोषके उपशमके लिए शोधन करें ॥ १२० ॥

उक्तंच—सर्वेषामविभागिनामभिहिता शुद्धिर्विभक्तात्मना ।
नोढाया दुहितुर्यया पितृभवोऽप्यर्थी च सा कारयेत् ।

हिंसादुर्मृतिदूषणे च महतां धर्मापकीर्तौ मता ।
सालेत पतितेऽप्यवति च यथा सा स्यायथाशक्ति १२०

अर्थ—जो भव्य अविभक्त है उन सबै को शुद्धि नहीं है । परंतु वे अविभक्त नहीं हो तो उन को शुद्धि नहीं है। जिस कन्याका विवाह हो गया है वह भिन्नगोत्रा हो जाने से उस के पितादिक जैसे दोष शुद्धिके लिए योग्य है वैसी वह नहीं है। हिंसा, दुर्मरण, दूषण लगाना, धर्म की निंदा करना, पर्वतादिकसे गिरकर पडना इत्यादिक पातक हो जाने पर यथाशक्ति शुद्धि ग्रहण करके पाप से मुक्त होना चाहिए ।

विमोचयन् रोगभर भिषग्यथा विमोचयन् दैन्यभरं नृपो यथा ।
मृते च बंधावसुरशांतये यथाविदु रव स्वजनेन मोचयन्॥१२१

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य रोगको छुडाता है, राजा दीनता को छुडाता है, उसी प्रकार किसी बंधुका मरण होनेपर आप्त कुटुंबियोंके दुःखकी उपशांति के लिए उन के दुःख को दूर करते हुए शुद्धि विधान करना चाहिए ॥ १२१ ॥

धनका उपयोग

नृपोऽनिवार्य निजसैन्यपुष्टये यथा प्रजार्थो नृपवमकर्षण ।
जिनाश्रिता जैनजनायशांतये ददाति सर्वे च धन तथा जन॥१२२

जिस प्रकार राजाके द्वारा संचित धन अपनी सेनाके पोषणके लिए है । प्रजाओंका धन राजाके संरक्षणके लिए है । उसी प्रकार जिनभक्त जीवोंका धन साधर्मी भाईयोंके पापकी शांतिके लिए उपयोगमें आना चाहिये । उसी प्रकारक न्यायोंमें सज्जन अपने धनको देते हैं॥१२२॥

शुद्धिविधान

अनुकर्तुं सपपति गर्हक गुरुदयैकमिति दोषस्य ।
[illegible] भाग ततोऽतिनिर्दोषा स्यु ॥१२३॥

अर्थ—कोई २ धर्म, धन, धाय, गाय, क्षेत्र गाजे बाजे आदिको प्रदान कर अपने नगरमें आये हुए साधर्मी भाईयोंका स्वागत करते हैं। [यह स्तुत्य है] ॥ ११६ ॥

यावत्सूतकमस्ति तावदपि सच्छुद्धिर्जनानां विधि-।
जैनानामिह दुर्मृतौ सुखमृतौ सा स्याद्यथाशक्ति च ।
मुख्यानां गुरुभूपधार्मिकसतां शुद्धिर्जिनार्चादिभिः
कार्या शासनवत्सलैरिव जनैर्भूपाय दत्तं धनम् ॥११७॥

अर्थ—लोक व शास्त्रकी विधि है कि जिस प्रकार का सूतक है उस प्रकारका शुद्धिविधान भी होना चाहिये । किसीका मरण दुर्मरण होता है, किसीका मरण सुखसमाधिपूर्वक होता है । इन सब बातोंको जानकर यथाशक्ति शुद्धि करनी चाहिये । मुख्य गुरु राजा व धार्मिक जनोंकी शुद्धि जिनपूजादिकोंसे होना चाहिये । जिस प्रकार राजाके लिए धन दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसे समय धर्मवात्सल्य द्वारा शुद्धिविधानका होना आवश्यक है ॥ ११७ ॥

मुनिसत्साधुराटसद्दृग्व्रतिकादिजनस्य च ।
धर्मोद्धारकरस्यापि दुर्मृतौ सन्मृतावपि ॥ ११८ ॥
जिनभक्ताश्च यावन्तस्तावन्तः पुरुषाः समाः ।
तद्दोषोपशमायैव शुद्धिमिच्छन्ति सर्वथा ॥ ११९ ॥

पाठान्तर युग्मम् ।

अर्थ —मुनि, आचार्य, सम्यग्दृष्टि, व्रतिक व धर्मोद्धारक आदि के दुर्मरण या सन्मरण होनेपर जितने जिनभक्त हैं वे सर्व समानरूपसे उस दोषके उपशमके लिए शोधन करें ॥ १२० ॥

उक्तंच—सर्वेषामविभागिनामभिहिता शुद्धिर्विभक्तात्मना ।
नोढाया दुहितुर्यथा पितृभवोऽप्यर्थी स तां कारयेत् ।

हिंसादुर्मृतिदूषणे च महतां धर्मापकीर्तौ मता ।
सालेश पतितेऽप्यवति च यथा सा स्याद्यथाशक्ति १२०

अर्थ—जो भव्य अविभक्त है उन सर्व को शुद्धि कही है । परंतु वे अविभक्त नहीं हो तो उन को शुद्धि नहीं है। जिस कन्याका विवाह हो गया है वह भिन्नगोत्रा हो जाने से उस के पितादिक जैसे दोष शुद्धिके लिए योग्य हैं ऐसी वह नहीं है । हिंसा, दुर्मरण, दूषण लगाना, धर्म की निंदा करना, पर्वतादिकसे गिरकर पडना इत्यादिक पातक हो जाने पर यथाशक्ति शुद्धि ग्रहण करके पाप से मुक्त होना चाहिए ।

भिषगचयन् रोगमर भिषग्यथा विमोचयन् दैन्यमरं नृपो यथा ।
इत्थं च बधावसुखोपशांतये यथाविद्व एव स्वजनेन मोचयन्॥१२१

अर्थ—जिस प्रकार वैद्य रोगको छुडाता है, राजा दीनता को हरता है, उसी प्रकार किसी बंधुका मरण होनेपर अपने कुटुंबियोंके दुःख उपशांति के लिए उन के दुःख का दूर करते हुए शुद्धि विधान करना चाहिए ॥ १२१ ॥

धनका उपयोग

नृपोऽर्जितार्थं निजसैन्यपुष्टये यथा प्रजार्थो नृपरक्षकर्मणे ।
जिनाश्रिता जैनजनाघशांतये ददाति सर्वं च धनं तथा जनः॥१२२

जिस प्रकार राजाके द्वारा संचित धन अपनी सेनाके पोषणके लिए है। प्रजाओंका धन राजाके संरक्षणके लिए है । उसी प्रकार जिनभक्त जनोंका धन साधर्मी भाईयोंके पापकी शांतिके लिए उपयोगमें आना चाहिये । उसी प्रकारके कार्योंमें सज्जन अपने धनको देते हैं॥१२२॥

शुद्धिविधान

अनुरूपैरु क्षपयति गर्हैक गुरुदयैकमिति दोषस्य ।
निभृतरुचव्रतधृतिरेक भाग तयोऽनिनिर्दोषा स्युः ॥१२३॥

अर्थ–किसीने दोषको अनुकंपाही दूर कर देती है, किसीकी शुद्धि गर्हणासे होती है, किसी दोषका शुद्धि अपने गुरुके द्वारा दिए हुए व्रत के पालनसे होता है। दोषके तारतम्यसे शुद्धिविधानमें भी तारतम्य है। यदि अल्पदोष हुआ तो व्यस्त व अधिक दोष हुआ तो समस्त शुद्धि-विधान भेदोंका उपयोग करना चाहिये ॥ १२३ ॥

> शाकेऽब्दे त्रियुगाग्निशीतगुयुतेऽतीते त्रिपाद्वत्सरे ।
> माघे मासि च शुक्लपक्षदशमे श्रीवासुपूज्यर्षिणा ॥
> प्रोक्तं पावनदानशासनमिदं ज्ञात्वा हितं कुर्वतां ।
> दानं स्वर्णपरीक्षका इव सदा पात्रत्रये धार्मिका ॥१२४॥

अर्थ—श्री वासुपूज्य ऋषिने यह दानशासन नामका पवित्र शास्त्र शालिवाहन शक १३४३ विषु संवत्सरके माघ शुद्ध दशमीके दिन रचा है। इस ग्रंथका अभिप्राय जानकर भव्यजीव अपना हित करें। सुवर्ण परीक्षक जैसे सच्चा सोना ग्रहण करते हैं उसी तरह धार्मिक लोग इस ग्रंथसे ज्ञान प्राप्त कर तीन प्रकारके सत्पात्रोंको दान देवें व अपना हित करें ॥ १२४ ॥

